द्रव्य संग्रह

सरल हिन्दी भाषा टीका सहित

जिसको

जैनसिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्द की तरफ से

बाबू सूरजभानु वकील ने छपवाया

मूल्य ॥)

श्रीकाशी

चन्द्रप्रभा यन्त्रालय में गौरीशङ्कर लाल मेनेजर के

प्रबन्ध से छपा,

सन् १९०९

प्रस्तावना ।

द्रव्यसंग्रह यद्यपि ५८ गाथा का एक छोटासा ग्रन्थ है परन्तु श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति आचार्य ने इस छोटे सेही ग्रन्थ में जैन सिद्धान्त का बहुत बड़ासार भरदिया है, यह ग्रन्थ भाषा कविता में भी रचा गया है और तत्त्वार्थ कथन को कण्ठ करने के वास्ते भाषा द्रव्यसंग्रह हमारे जैनी भाइयों में बहुत प्रसिद्ध है, हमारे नव युवकों को ऐसी पुस्तक की बहुत तलाश थी जो बहुत विस्तार रूप न हो और जिस की स्वाध्याय से जैन तत्त्वार्थ बहुत आसानी से समझ में आजावैं, अपने भाइयों की इस जरूरत को पूरा करने के वास्ते हमने यह टीका लिखी है और आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ बहुत ही आसानी से सब भाइयों की समझ में आवेगा और इस ग्रन्थ को पढ़कर फिर अन्य किसी भी जैन ग्रन्थ की स्वाध्याय करने में मुश्किल नहीं पड़ेगी ।

इस टीका के लिखने में हमने इस बात का बहुत ज्यादा ख़याल रक्खा है कि जैन धर्म के मोटे मोटे सब ही विषय इस में आजावैं और उनका स्वरूप भी सबकी समझ में आसकें इस कारण जैन धर्म को जानने के वास्ते यदि इस पुस्तक को प्रथम पुस्तक कहाजावै तो बेजा नहीं है । आशा है कि इस पुस्तक का बहुत प्रचार होगा और इस के द्वारा हमारे बहुत भाई जैन धर्म के जानकार बनैंगे ।

इस ग्रन्थ की टीका लिखने में हम को बाबू जुगलकिशोर मुख्तार देवबन्द सम्पादक जैन गजट से बहुत मदद मिली है और उन्ही के द्वारा इसका संशोधन हुवा है इस कारण हम उन को धन्यवाद देते हैं ।

अन्त में हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि इस टीका में जहां कहीं कुछ भी अशुद्धि हो उससे तुरन्त सूचित करैं जिस से आगामी आवृत्ति में वह सब अशुद्धियां दूर कर दीजावैं ।

देवबन्द
ता० २८—७—०९

सूरजभानु वकील ।

द्रव्य सङ्ग्रह

मंगलाचरण

जीवम जीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

अर्थ—मैं सदा अपने मस्तक से उसको नमस्कार करता हूं जो जिनवरों में प्रधान है और जिसने जीव और अजीव द्रव्य का व्याख्यान किया है और जो देवों के समूह से बंदना किया जाता है

भावार्थ—जिन शब्द का अर्थ है जीतने वाला-मिथ्यात्व और रागादिक के जीतने वाले को जिन कहते हैं। इस हेतु अव्रतसम्यग्दृष्टि, व्रतीश्रावक और मुनि भी एक देशी जिन कहे जा सक्ते हैं इन में गणधर आदिक श्रेष्ट जिन अर्थात जिनवर हैं इनके भी प्रधान श्री तीर्थंकर देव हैं जिनको इन्द्र भी बंदना करते हैं उन्हीं श्रीतीर्थंकर भगवान को इस गाथा में नमस्कार किया है। वह ही धर्म तीर्थ के चलाने वाले हैं। वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है। वस्तु दो ही प्रकार की हैं एक जीव और दूसरी अजीव इन ही दोनों प्रकार की वस्तु का भिन्न भिन्न स्वभाव श्रीतीर्थंकर भगवान ने बर्णन किया है जिससे जीवों का मिथ्यात्व अंधकार दूर होकर वस्तु का सत्य स्वरूप ज्ञात हुवा है और सत्य धर्म की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान के उपकार के स्मरणार्थ श्रीनेमिचंद्रा चार्य ने यह मंगला चरण किया है।

इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी जीव और अजीव के ही सत्य स्वरूप को श्रीतीर्थंकर भगवान की बाणी के अनुसार बर्णन करना है।

प्रथम अधिकार।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

अर्थ—जो जीव है, उपयोगमयहै, अमूर्तीकहै, कर्त्ताहै, अपनी देह परिमाणहै, भोक्ताहै, संसारमें स्थित होनेवाला है सिद्धहै और ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है, वह जीव है।

भावार्थ—इस गाथा में समुच्चयरूप जीव के ९ प्रकार के गुणों का बर्णन किया है। आगामी गाथाओं मे प्रत्येक गुण की भिन्न २ व्याख्या की है इस हेतु यहां इनका भावार्थ लिखने की आवश्यक्ता नहीं है।

(१) जीव है इसका बर्णन गाथा ३ में है (२) उपयोग मय है इसका वर्णन गाथा ४, ५, ६ में है (३) अमूर्त्तीक है इसका वर्णन गाथा ७ में है (४) कर्त्ता है इसका बर्णन गाथा ८ में है (५) भोक्ता है इसका बर्णन गाथा ९ में है (६) देह परिमाण है इसका वर्णन गाथा १० में है (७) संसार स्थित है इसका वर्णन गाथा ११, १२, १३ में है (८, ९) सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन स्वभावी है इन दोनों बिषय का बर्णन गाथा १४ में है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणोय।
ववहारासो जीवो णिच्छयणायदो दु चेदणाजस्स ॥३॥

अर्थ—जो तीन काल में अर्थात सदा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वांसोच्छास इन चारों प्राणों को धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वह ही जीव है॥

भावार्थ—बिना किसी दूसरी वस्तु की मिलावट वा अपेक्षा के वस्तु के असली स्वभाव को बर्णन करना निश्चय नय कहाती है और किसी दूसरी वस्तु से मिलकर जो वस्तु का रूप हो जाता है उस रूप को वर्णन करना वा किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कथन करना व्यवहार नय है। जीवात्मा अपने निज स्वभाव से शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तीन लोक की सर्व वस्तु को जानने वाला है जानने के वास्ते उसको आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है वह अपनी ही निज शक्ति से सर्व वस्तु को देखता जानता है परन्तु रागद्वेष आदिक भावों के कारण संसारी जीव कर्मों के बश होकर देह के कैदखाने में कैद हो रहे हैं और उनकी ज्ञान शक्ति कम होकर उनको वस्तुओं को जानने के वास्ते आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत होती है जैसे कि बूढ़े कमज़ोर को चलने के वास्ते लाठी की वा देखने के वास्ते एनक लगाने की ज़रूरत हो जाती है।

संसारी जीव के देह अवश्य होती है इसही से उसके चार बातें अवश्य होती हैं (१) किसी इन्द्री का होना (२) किसी प्रकार का शारीरिक बल का होना (३) आयु अर्थात् एक शरीर में रहने का नियमित समय (४) सांस का लेना-इनही चारों बातों से संसारी जीव जाने जाते हैं यह जीव के प्राण हैं।

इन्द्रिय पांच प्रकार की हैं-(१) त्वचा अर्थात् जो वस्तु को छू कर ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, और कठोर (कड़ा) भारी और हलका जाने (२) जिह्वा-अर्थात् जो चख कर चरपरा, कडुआ, कषायला, खटा और मीठा पहचाने (३) नासिका-अर्थात जो नाक से सूंघ कर सुगन्ध और दुर्गन्ध मालूम करे (४) चक्षु-अर्थात् जो देख कर सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला रंग मालूम करे (५) कर्ण-अर्थात जो अनेक प्रकार के शब्दों को सुनै इस प्रकार पांच इन्द्रिय हैं-छटा मन है वह भी एक प्रकार से इन्द्री कहलाता है।

बल तीन प्रकार का है मनबल, बचनबल और कायबल।

एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण है-स्पर्शनइन्द्रिय, आयु, कायबल और श्वासोच्छ्वास।

दो इन्द्रिय में रसना इन्द्रिय और बचन बल मिल कर छः प्राण हैं।

ते इन्द्रियें में नासिका इन्द्रिय बढ़ कर सात प्राण हैं।

चौ इन्द्रिय में चक्षु इन्द्रिय बढ़ कर आठ प्राण हो जाते हैं।

पंचेंद्रिय दो प्रकार है मन वाले (संज्ञी) और बिना मन वाले (असंज्ञी) बिना मन वाले पंचेंद्रिय में कान इन्द्रिय बढ़ कर ९ प्राण होते हैं और मन वाले पंचेंद्रिय में मन सहित दस प्राण हो जाते हैं।

संसार में जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद स्त्री के उदर में माता के रुधिर और पिता के वीर्य के संयोग से पैदा होना गर्भ जन्म है-बिना गर्भ के अनेक वस्तुओं के मिलने से शरीर बन जाना सम्मूर्च्छन जन्म है जैसे खाट में खटमल और सिर में जू मैल से पैदा हो जाता है। देव और नारिकियों का जन्म उपपाद है उनका वैक्रियक शरीर होना है वह माता पिता के रज बीर्य के बिना देव नारकियों के खास स्थानों में जन्म समय तुरंत ही बन जाता है।

सारांश यह है कि जीव किसी ही प्रकार पैदा हों परन्तु प्राणों के धारी सब होते हैं।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ—जो जीव है, उपयोगमयहै, अमूर्तीकहै, कर्त्ताहै, अपनी देह परिमाणहै, भोक्ताहै, संसारमें स्थित होनेवाला है सिद्धहै और ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है, वह जीव है।

भावार्थ—इस गाथा में समुच्चयरूप जीव के ९ प्रकार के गुणों का बर्णन किया है। आगामी गाथाओं में प्रत्येक गुण की भिन्न २ व्याख्या की है इस हेतु यहां इनका भावार्थ लिखने की आवश्यक्ता नहीं है।

(१) जीव है इसका बर्णन गाथा ३ में है (२) उपयोग मय है इसका वर्णन गाथा ४, ५, ६ में है (३) अमूर्त्तीक है इसका वर्णन गाथा ७ में है (४) कर्त्ता है इसका बर्णन गाथा ८ में है (५) भोक्ता है इसका बर्णन गाथा ९ में है (६) देह परिमाण है इसका वर्णन गाथा १० में है (७) संसार स्थित है इसका वर्णन गाथा ११, १२, १३ में है (८, ९) सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन स्वभावी है इन दोनों विषय का बर्णन गाथा १४ में है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणोय ।
ववहारासो जीवो णिच्छयणायदो दु चेदणाजस्स ॥३॥

अर्थ—जो तीन काल में अर्थात सदा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वांसोच्छास इन चारों प्राणों को धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वह ही जीव है ॥

भावार्थ—बिना किसी दूसरी वस्तु की मिलावट वा अपेक्षा के वस्तु के असली स्वभाव को बर्णन करना निश्चय नय कहाती है और किसी दूसरी वस्तु से मिलकर जो वस्तु का रूप हो जाता है उस रूप को वर्णन करना वा किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कथन करना व्यवहार नय है। जीवात्मा अपने निज स्वभाव से शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तीन लोक की सर्व वस्तु को जानने वाला है जानने के वास्ते उसको आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की जरूरत नहीं है वह अपनी ही निज शक्ति से सर्व वस्तु को देखता जानता है परन्तु रागद्वेष आदिक भावों के कारण संसारी जीव कर्मों के बश होकर देह के कैदखाने में कैद हो रहे हैं और उनकी ज्ञान शक्ति कम होकर उनको वस्तुओं को जानने के वास्ते आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत होती है जैसे कि बूढ़ कमज़ोर को चलने के वास्ते लाठी की वा देखने के वास्ते एनक लगाने की ज़रूरत हो जाती है।

संसारी जीव के देह अवश्य होती है इसही से उसके चार बातें अवश्य होती हैं (१) किसी इन्द्री का होना (२) किसी प्रकार का शारीरिक बल का होना (३) आयु अर्थात् एक शरीर में रहने का नियमित समय (४) सांस का लेना-इनही चारों बातों से संसारी जीव जाने जाते हैं यह जीव के प्राण हैं।

इन्द्रिय पांच प्रकार की हैं-(१) त्वचा अर्थात् जो वस्तु को छू कर ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, और कठोर (कडा) भारी और हलका जाने (२) जिह्वा-अर्थात् जो चख कर चरपरा, कडुआ, कषायला, खटा और मीठा पहचाने (३) नासिका-अर्थात जो नाक से सूंघ कर सुगन्ध और दुर्गन्ध मालूम करै (४) चक्षु-अर्थात् जो देख कर सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला रंग मालूम करे (५) कर्ण-अर्थात जो अनेक प्रकार के शब्दों को सुनै इस प्रकार पांच इन्द्रिय हैं-छटा मन है वह भी एक प्रकार से इन्द्री कहलाता है।

बल तीन प्रकार का है मनबल, बचनबल और कायबल।

एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण है-स्पर्शनइन्द्रिय, आयु, कायबल और श्वासोच्छ्वास।

दो इन्द्रिय में रसना इन्द्रिय और बचन बल मिल कर छः प्राण हैं।

ते इन्द्रिये में नासिका इन्द्रिय बढ़ कर सात प्राण हैं।

चौ इन्द्रिय में चक्षु इन्द्रिय बढ़ कर आठ प्राण हो जाते हैं।

पंचेंद्रिय दो प्रकार है मन वाले (संज्ञी) और बिना मन वाले (असंज्ञी) विना मन वाले पंचेंद्रिय में कान इन्द्रिय बढ़ कर ९ प्राण होते हैं और मन वाले पंचेंद्रिय में मन सहित दस प्राण हो जाते हैं।

संसार में जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद स्त्री के उदर में माता के रुधिर और पिता के वीर्य के संयोग से पैदा होना गर्भ जन्म है-बिना गर्भ के अनेक वस्तुओं के मिलने से शरीर बन जाना सम्मूर्च्छन जन्म है जैसे खाट में खटमल और सिर में जू मैल से पैदा हो जाता है। देव और नारिकियों का जन्म उपपाद है उनका वैक्रियक शरीर होना है वह माता पिता के रज बीर्य के बिना देव नारकियों के खास स्थानों में जन्म समय तुरंत ही बन जाता है।

सारांश यह है कि जीव किसी हो प्रकार पैदा हों परन्तु प्राणों के धारी सब होते हैं।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ--उपयोग दो प्रकार का है १ दर्शन और २ ज्ञान। दर्शन चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि, और केवल।

भावार्थ--जानने का नाम उपयोग है। इन्द्रियों के द्वारा जब हम किसी वस्तु को जानते हैं तब प्रथम हम को यह मालूम होता है कि कोई वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि क्या वस्तु है? जैसे सुफ़ेद झंडी को देख कर यह मालूम होता है कि कोई सुफ़ेद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि क्या वस्तु है? इसको अवग्रह मति ज्ञान कहते हैं अवग्रह से भी पहले जो ज्ञान होता है उसको दर्शन कहते हैं। जैसे सुफ़ेद झंडी को देख कर प्रथम यह मालूम हुवा कि कोई सुफ़ेद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं हुवा कि क्या वस्तु है अवग्रह है परन्तु कोई सुफ़ेद वस्तु है इतना जानने से भी पहले क्षण में इतना मालूम हुवा कि वस्तु है। इस बात का कुछ भी बोध नहीं हुवा था कि सुफ़ेद है वा काली है वा किस आकार की है और क्या है? इसही को दर्शन कहते हैं। वस्तु की सत्ता मात्र के ज्ञान का नाम दर्शन है। जब तक इतना ही ज्ञान होता है कि कुछ है उसके रूप, रस, गंध और वर्ण का कुछ बोध नहीं होता है अर्थात जब तक किसी वस्तु की कल्पना नहीं होती है कि क्या है तभी तक दर्शन कहलाता है और जब वस्तु का बोध होने लगता है कि क्या है तब ही वह ज्ञान कहलाने लगता है इसही हेतु निर्विकल्प सत्ता मात्र के ज्ञान को दर्शन और सविकल्प को ज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उसका प्रथम दर्शन अवश्य होता है परन्तु श्री केवली भगवान को तीन लोक और तीन लोक से बाहर अलोक की सर्व वस्तु और सर्व वस्तुओं की भूत, भविष्यत और वर्त्तमान अवस्था का ज्ञान पूर्ण रूप से होता है उनके ज्ञान से कोई वस्तु बची नहीं रहती है इस हेतु उनके ज्ञान में दर्शन और ज्ञान का भेद हो ही नहीं सक्ता है अर्थात उनका ज्ञान ऐसा नहीं होता है जैसा हम किसी वस्तु को जानने के वास्ते प्रथम क्षण में यह जानते हैं कि कुछ है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष जानते जानते क्रम क्रम से वस्तु का बोध करते हैं श्रीकेवली भगवान तो सर्व वस्तुओं की बीती हुई और आगामी होने वाली दशाओं को भी और वर्त्तमान और दशा को भी एक ही काल में जानते हैं इस हेतु उनका ज्ञान तो क्रम रूप हो ही नहीं सक्ता है और उन में दर्शन का होना बनता ही नहीं है परन्तु दर्शन को ढकने वाला दर्शणावरणी और ज्ञान को ढकने वाला ज्ञानावरणी यह दो कर्म अलग २ हैं और इन दोनों कर्मों के नाश होने से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है इस हेतु श्री सर्वज्ञ देव के ज्ञान के भी दो भेद अर्थात केवल दर्शन और केवल ज्ञान किये गये हैं।

दर्शन चार प्रकार है (१) **चक्षु दर्शन** अर्थात आंख से देखना (२) **अचक्षु दर्शन** अर्थात आंख के सिवाय अन्य इन्द्रियों से किसी वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन करना (३) **अवधि दर्शन** अर्थात अवधि द्वारा रूपी पदार्थों की सत्ता मात्र का एक देश प्रत्यक्ष अवलोकन करना (४) **केवल दर्शन** अर्थात केवल द्वारा रूपी अरूपी समस्त पदार्थों की सत्ता सामान्य का प्रत्यक्ष अवलोकन करना।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदि ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥

अर्थ--ज्ञान आठ प्रकार है कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल-इन में कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल यह चार ज्ञान प्रत्यक्ष हैं और कुमति, मति, कुश्रुति, और श्रुति यह चार ज्ञान परोक्ष है।

भावार्थ—ज्ञान के पांच भेद हैं-मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल परन्तु मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि दोनों के हो सक्ते हैं और मनः पर्यय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक् दृष्टि के ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि का ज्ञान कुज्ञान अर्थात खोटा ज्ञान कहलाता है इस से मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान जब मिथ्या दृष्टि के होते हैं तो कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहलाते हैं-इस रीति से पांच ज्ञान में यह तीन कुज्ञान मिल कर ज्ञान के आठ भेद हो गये।

इन्द्रियों तथा मन से जो कुछ जाना जाता है उसको **मति ज्ञान** कहते हैं और मति ज्ञान से वस्तु को जान कर उसही जानी हुई बात के सम्बंध से अन्य बात को जानना श्रुति ज्ञान है जैसे शीतल पवन का स्पर्श हमारे शरीर से हुवा तब त्वचा इन्द्रिय द्वारा हमने पवन के शीतलपने को जाना यह तो मति ज्ञान है परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभ दायक है वा हानि कारक है यह श्रुतिज्ञान है इसही प्रकार किसी ने हमको हमारा नाम लेकर आवाज़ दी कि सूरजभान यह शब्द हमारे कान से स्पर्श करके हमको सूरजभान शब्द का ज्ञान हुवा कि कोई सूरजभान कहता है परन्तु यह जानना कि सूरजभान हमारा नाम है। इस कारण वह हमको आवाज़ देता है यह श्रुति ज्ञान है।

मति और श्रुतिज्ञान प्रत्येक जीव को होता है कोई जीव इन दोनों प्रकार के ज्ञान से बचा हुआ नहीं है। हां इतना अवश्य है कि किसी जीव में यह ज्ञान अधिक

होते हैं और किसी में कमती यहां तक कि लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव को एक अक्षर का अनन्तवां भाग अर्थात नाम मात्र ही श्रुतिज्ञान होता है।

इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से रूपी पदार्थ अर्थात पुद्गल पदार्थ के जानने को अवधि ज्ञान कहते हैं। देव, नार की और श्री तीर्थंकर भगवान को यह ज्ञान जन्म दिन से ही होता है इस कारण इन तीनों के अवधि ज्ञान को भव प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। मन इन्द्रिय वाले पंचेंद्रिय जीव को जिसकी इन्द्रियां पूर्ण किसी गुण के कारण अर्थात् किसी प्रकार के तप से यदि अवधि ज्ञान प्राप्त हो तो उसको गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं।

किसी मनुष्य ने जो कुछ अपने मन में चिन्तवन किया था वा चिन्तवन कर रहा है वा आगामी को चिन्तवन करैगा उसको जानना मनःपर्य्यय ज्ञान है। छठे गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान तक वाले मुनि को यह मनः पर्य्यय ज्ञान हो सक्ता है। गुण स्थान का बर्णन आगे किया जावेगा।

लोक अलोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान सर्व वस्तुओं को और सर्व वस्तुओं के सर्व गुण पर्य्याय को जानना केवल ज्ञान है। केवल ज्ञान में कोई वस्तु जानना बाकी नहीं रहती है।

अवधि, मनःपर्य्यय और केवल यह तीन ज्ञान इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से साक्षात रूप होते हैं इस हेतु इनको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं परन्तु मति और श्रुति यह दो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होते हैं इस कारण परोक्ष कहलाते हैं। मति ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं॥

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणंभणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

अर्थ-आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है वह जीव है यह व्यवहार नय से सामान्य जीव का लक्षण वर्णन किया गया है और शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान, दर्शन ही जीव का लक्षण है।

भावार्थ—जीव का असली स्वभाव सर्व वस्तु का जानना अर्थात केवल ज्ञान है। जिस में ज्ञान और दर्शन दोनों गर्भित हैं। परन्तु संसारी जीवों के ज्ञान पर कर्मों का पटल पड़ा हुवा है। जितना २ वह पटल दूर होता है उतना उतनाही ज्ञान प्रगट होता है इस ही कारण ज्ञान में कमती बढ़ती होने से ज्ञान और दर्शन के अनेक भेद हो गये हैं।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्छयाजीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधा दो ॥७॥

अर्थ-निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श यह २० गुण नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्तीक ही है परन्तु बंध के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्तीक है।

भावार्थ-वह ही पदार्थ मूर्तीक कहाता है जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो। वर्ण पांच प्रकार का है। सुफ़ैद, नीला, पीला, लाल और काला। रस भी पांच प्रकार का है। चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा। गंध दो प्रकार का है सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श आठ प्रकार का है। ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर, भारी और हलका।

जिस वस्तु में उपरोक्त बात न हो वह अमूर्तीक है रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल पदार्थ में ही होते हैं इस हेतु पुद्गल द्रव्य ही मूर्तीक है पुद्गल के सिवाय और कोई वस्तु मूर्तीक नहीं है। और जीव भी मूर्तीक नहीं है अर्थात अमूर्तीक है।

परन्तु संसारी जीव कर्म बंधन में बंधा हुआ है। कर्म पुद्गल है अर्थात मूर्तीक है। कर्म जीव के साथ सम्मिलित हो रहे हैं इस हेतु संसारी जीव को मूर्तीक भी कह सक्ते हैं। जैसा कि जल शीतल है परन्तु अग्नि पर तपाने से अग्नि के परमाणु जल में सम्मिलित हो जाते हैं और गरम होकर जल भी अग्नि की भांति गरम कहलाने लगता है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदोदु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय से आत्मा पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है निश्चय नय से चेतनकर्म का करने वाला है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का करने वाला है।

भावार्थ—राग द्वेष आदिक भाव आत्मा का निज भाव नहीं है इस कारण यदि आत्मा का शुद्ध स्वभाव वर्णन किया जावे तो वह राग, द्वेष, अर्थात मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक किसी भी भाव का करने वाला नहीं है बरण केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सर्व वस्तुओं को बिना राग द्वेष के देखने जानने वाला है यह ही आत्मा का शुद्ध भाव है-यह शुद्ध निश्चय नय का कथन कहलाता है।

परन्तु कर्म वश होकर जीव में मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक कषाय उत्पन्न होती हैं-यह कषाय चैतन्य में ही उत्पन्न हो सक्ती हैं जड पदार्थ में क्रोध आदिक कोई भी कषाय उत्पन्न नहीं हो सक्ता है-इस कारण यह जीव मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक चैतन्य कर्मों का करने वाला है परन्तु यह कषाय उस का निज भाव नहीं है-कर्मों के उदय से जीव में विकार उत्पन्न हो कर ही यह कषाय उत्पन्न होता है इस हेतु अशुद्ध निश्चय नय से ही जीव इन कषाय भावों का करने वाला कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, और लोभ आदिक कषायों के करने से पुद्गल कर्म उत्पन्न होते हैं और आत्मा के साथ उनका बन्ध होता है कर्मों के उदय से ही शरीर उत्पन्न होता है और जीव देहधारी होता है देह से अनेक प्रकार की क्रिया उठना, बैठना, चलना, हिलना, तोडना, फोडना, जोडना, मिलाना आदिक करता है और महल, मकान, कपडा, लत्ता, बर्त्तन आदिक बनता है इस कारण इन सब का करने-वाला भी जीवात्मा ही है-परन्तु यह सब क्रिया शरीर और पुद्गल कर्म के द्वारा होती है इस हेतु जीवात्मा को इन क्रियाओं को करने वाला व्यवहार नय से ही कह सक्ते हैं निश्चयनय से नहीं कह सक्ते।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदाणिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ-आत्मा व्यवहार नय से सुख दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगने वाला है और निश्चय नय से अपने चेतन स्वभाव को ही भोगने वाला है।

भावार्थ—आत्मा का असली स्वभाव राग द्वेष आदि भावों से भिन्न है अपनी शुद्ध अवस्था में तो जीवात्मा रागद्वेष रहित होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन का ही परम आनन्द भोगता है अर्थात् ज्ञानानन्द ही जीवात्मा का भोग है। यह कथन निश्चय नय से है। परन्तु कर्मों के वश होकर संसारी जीव अपने निज स्वभाव में नहीं है उस में विकार उत्पन्न हो रहा है और राग और द्वेष पैदा हो गया है इस हेतु सुख दुःखको अनुभव करता है। यह सुख दुःख का अनुभव जीव में ही हो सक्ता है शरीर जो पुद्गल है और अचेतन है उसको सुख वा दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता है क्योंकि किसी भी अचेतन पदार्थ को सुख दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता सुख, दुःख का

अनुभव करने वाला तो चेतन जीवात्मा ही है अर्थात कर्मों के फल को भोगने वाला जीवात्मा ही है परन्तु यह जीव का निज स्वभाव नहीं है इस हेतु जीव को सुख दुःख का भोगने वाला व्यवहार नय से ही कहा जाता है।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसोवा॥१०॥

अर्थ--व्यवहार नय से यह जीव समुद्घात अवस्था के सिवाय अन्य अवस्था में संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से यह जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

भावार्थ—पुद्गल पदार्थ के सब से छोटे से छोटे विभाग को परमाणु कहते हैं—जितने स्थान को एक परमाणु रोके उसको प्रदेश कहते हैं तीन लोक के असंख्यात प्रदेश हैं तीन लोक में फैल जाने की जीव में शक्ति है इस हेतु जीव के असंख्यात प्रदेश हैं—यह कथन निश्चयनय से है परन्तु कर्मों के वश संसारी जीव देह धारी होता है-हाथी की देह बहुत बड़ी है और कीड़ी की बहुत छोटी इसही प्रकार अनेक जीवों की देह भिन्न २ प्रकार की है-कर्मों के वश संसारी जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता है कभी मनुष्य बनता है और कभी वृक्ष कभी हाथी बनता है और कभी घोड़ा अर्थात् कभी इस को छोटा शरीर मिलता है और कभी बड़ा कभी किसी आकार का और कभी दूसरे प्रकार का—जीव में संकोच विस्तार की अर्थात् सुकड़ने और फैलने की शक्ति है इस कारण जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है यह जीव उतनाही बन जाता है यह कथन व्यवहार नय से है मनुष्य शरीर से ही मुक्ति होती है-मुक्ति के समय जिस आकार का शरीर होता है वह ही आकार अर्थात् उतनीही लम्बाई चौड़ाई मुक्ति जीव के प्रदेशों की सिद्ध अवस्था में रहती है क्योंकि यद्यपि जीव की शक्ति तीन लोक में फैल जाने की है परन्तु मुक्त होने पर अपने आकार को बढ़ाने अर्थात् फैलने वा कोई विशेष आकार बनाने का कोई कारण नहीं है इस हेतु मुक्ति होते समय शरीर छोड़ने पर जो आकार शरीर का था उसही के समान जीव का आकार बना रहता है-

संसारी जीव का आकार सदा देह के अनुसार होता है अर्थात् जैसी देह मिलती है उसही में जीव व्यापक रहता है न तो देह से बाहर होता है और न देह का कोई अंग जीव से खाली रहता है परन्तु समुद्घात के समय जीव देह के अन्दर भी रहता है और देह से बाहर भी फैल जाता है—समुद्घात सात प्रकार का होता है-(१) वेदना (२) कषाय (३) विक्रिया (४) मारणान्तिक (५) तैजस (६) आहारक (७) केवली—

समुद्घात

तीव्र वेदना अर्थात अधिक दुःख की अवस्था में मूल शरीर को त्यागन कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना **वेदना समुद्घात** है—

क्रोधादिक तीव्र कषाय के उदय से धारण किये हुए शरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना **कषाय समुद्घात** है—

जिस शरीर को जीवने धारण कर रखा है उस का त्यागन करके जीव के कुछ प्रदेशों का किसी प्रकार की विक्रिया करने के अर्थ शरीर से बाहर फैल जाना **विक्रिया समुद्घात** है—

मरण समय जीव तुरंत ही शरीर को नहीं त्यागता है वरण शरीर में रहते हुवे शरीर से बाहर उस स्थान तक फैलता है जहां इस को जन्म लेना है-इसको **मरणान्तिक समुद्घात** कहते हैं —

तैजस समुद्घात दो प्रकार का है एक शुभ और दूसरा अशुभ, जगत के रोग वा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर महा मुनि को कृपा उत्पन्न होने से जगत की पीड़ा का कारण दूर करने के अर्थ उनकी आत्मा शरीर में रहती हुई उनके दक्षिण कंध से निकले हुए पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलता है और जगत की पीड़ा का कारण दूर करके फिर संकोच कर शरीर के बराबर ही रह जाती है-इसको **शुभ तैजस** कहते हैं-महा मुनि को किसी कारण से क्रोध उत्पन्न होने पर जिस वस्तु पर क्रोध हुवा है उसको नष्ट करने के अर्थ उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके बाम स्कंध से निकले हुए सिंदूर की कांति को लिये पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलता है और जिस वस्तु पर क्रोध था उसको नष्ट कर महा मुनि के शरीर को भी भस्म कर देता है और वह तैजस शरीर का पुतला आप भी भस्म हो जाता है यह **अशुभ तैजस समुद्घात** है—

परम ऋद्धि के धारी महा मुनि को जब किसी विषय में कोई शंका उत्पन्न हो तब उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके मस्तक से निकले हुए स्फटिक वर्ण एक हाथ प्रमाण पुरुषा कार आहारक शरीर के साथ, शरीर से बाहर भी फैले और जहां कहीं भी केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में प्रवेश कर जावे इसको **आहारक समुद्घात** कहते हैं—

केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जीवात्मा जो दंड, कपाट और प्रतर नामक क्रिया द्वारा फैलती है उसको **केवल समुद्घात** कहते हैं—

इन सात समुद्घातों के सिवाय अन्य किसी प्रकार भी जीवात्मा शरीर से बाहर नहीं फैलता है-

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरे इंदी ।
विगतिगचदुपचंक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और बनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं यह सब एकेंद्रिय हैं अर्थात् एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं जैसे शंख आदिक

भावार्थ—संसारी जीव दो प्रकार के हैं एक स्थावर जो अपनी इच्छा से चल फिर नहीं सक्ते हैं और दूसरे त्रस जो चल फिर सक्ते हैं-इन्द्रिय पांच हैं स्पर्शन

(त्वचा) रसन (ज़बान) घ्राण (नाक) चक्षु, (आंख) कर्ण (कान)—**स्थावर** जीवों में एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है और कोई इन्द्रिय नहीं होती-स्थावर **जीव** पांच प्रकार के हैं-(१) **पृथिवीकाय**-अर्थात पृथिवी ही जिनकी काया है (२) **जलकाय** अर्थात् जलही जिनकी काया है (३) **तेजकाय**-अर्थात् अग्नि ही जिनकी काया है (४) **वायुकाय**-अर्थात् वायु ही जिनकी काया है-यह चारों प्रकार के जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं और पृथिवी-जल-तेज और वायु के रूप में रहते हैं-(५) **वनस्पति** अर्थात् वृक्ष-बड़े भी होते हैं और अति सूक्ष्म भी होते हैं-निगोदिया जीव जो अति सूक्ष्म होते हैं वह भी बनस्पति काय ही हैं. **दो इन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन और रसन अर्थात त्वचा और जिह्वा यह दो इन्द्रिय होती हैं-शंख कृमि आदिक जीव दो इन्द्रिय हैं- **तेइन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन- रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रिय होती हैं-कीड़ी, जूं और खटमल आदिक जीव तेइन्द्रिय हैं-**चौइन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु अर्थात् नेत्र यह चार इन्द्रिय होती हैं-डांस, मच्छर, मक्खी, और भौंरा आदिक जीव चौइन्द्रिय हैं-**पंचेन्द्रिय** जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण यह पांचों इन्द्रिय होती हैं घोड़ा, बैल और मनुष्य आदिक पंचेन्द्रिय हैं—

समणा अमणा णेया पंचिंदिया णिम्मणापरेसव्वे
बादरसुहमेइंदी सव्वेपज्जत्तइदराय ॥ १२ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के हैं, दो इन्द्रीय तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय यह सब असंज्ञी (मनरहित) हैं-एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और यह सातों प्रकार के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं।

भावार्थ—एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीवों के मन नहीं होता है, मन पंचेंद्रिय जीव के ही हो सक्ता है, पंचेंद्रिय भी कोई मन वाले हैं और कोई बिना मन वाले हैं मन वाले संज्ञी और बिना मन वाले असंज्ञी कहलाते हैं, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीव दो प्रकार के होते हैं एक बादर अर्थात् स्थूल जो दृष्टि आसकें और दूसरे सूक्ष्म इस प्रकार जीवों के सात भेद हुवे (१) बादर एकेन्द्रिय (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय (३) दोइन्द्रिय (४) तेइन्द्रिय (५) चौ इन्द्रिय (६) संज्ञीपंचेंद्रिय (७) असंज्ञी पंचेंद्रिय।

शरीर के अवयवों के बन जाने को **पर्याप्त** कहते हैं, पर्याप्ती छै हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोछ्वास, भाषा और मन इन में से जिस जीव के जितने बनने योग्य होते हैं उनके बन कर पूर्ण हो जाने पर वह जीव प्रर्याप्त कहलाता है और इनके बनने से पहले अपर्याप्त कहलाता है॥ गोमट्टसार आदिक महान ग्रन्थों में पर्याप्त और अपर्याप्त

दोनों अवस्थाओं की बाबत भिन्न २ वर्णन विस्तार के साथ किया है और उपर्युक्त सात प्रकार के जीवों के दो दो भेद पर्याप्त और अपर्याप्त करके १४ प्रकार के जीव वर्णन किये गये हैं जिसको जीव समास कहते हैं

एकेंद्रीय में भाषा और मन के सिवाय चार पर्याप्ती होती हैं

दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भाषा मिलकर पांच पर्याप्ती होती हैं और संज्ञी में मन मिलकर छहों पर्याप्ती हैं

मग्गण गुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया
विण्णेया संसारी सव्वेसुद्धा हु सुद्ध णया ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुण स्थानों से चौदह २ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से शुद्धही हैं।

भावार्थ—यदि जीव का निज स्वभाव देखा जावे तो वह शुद्ध है और ज्ञान स्वरूप है इस के सिवाय और कोई भेद उस में नहीं है यह शुद्धनय का कथन है परन्तु अशुद्धनय से संसारी जीव के अनेक रूप और अनेक दशा होती है

जीव की संसार सम्बन्धी अवस्था की अपेक्षा महान ग्रन्थों में १४ बातों का कथन किया है जिसको मार्गणा स्थान कहते हैं और जीव के गुणों की अपेक्षा भी उस के १४ दर्जे किये हैं जिसको गुण स्थान कहते हैं

१४ मार्गणा

१४ मार्गणा इस प्रकार हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यकत्व, संज्ञा, और आहार—अब इनका संक्षेप से अलग २ वर्णन करते हैं।

१—गति-एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाने का नाम गति है संसारी जीव की सर्व पर्यायों के मोटे रूप चार विभाग किये गये हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव यह ही चार गति कहलाती हैं।

नरक में रहने वाले नारकी हैं, स्वर्ग में रहने वाले देव हैं, नारकी, देव और मनुष्य के सिवाय जितने संसारी जीव हैं वह सब तिर्यंच कहलाते हैं।

२—इन्द्रिय-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय हैं एकेंद्रिय, द्वीद्रिंय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय के भेद से इंद्रिय मार्गणा पांच प्रकार हैं।

३—**काय**-पृथिवी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, बनस्पति काय और त्रसकाय इस प्रकार छे प्रकार की काय हैं-एकेंद्री के सिवाय सब जीव त्रस काय हैं बनस्पति काय के जीव दो प्रकार के हैं एक प्रत्येक अर्थात एक वृक्ष में एकही जीव, दूसरे साधारण अर्थात् एक बनस्पति में अनन्त जीव, यह अनन्त जीव एक साथ ही पैदा होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और सब एक साथ ही सांस लेते हैं, जितनी देर में हम एक सांस लेते हैं उतनी देर में इन जीवों का १८ बार जन्म मरण हो जाता है यह जीव निगोदिया कहाते हैं।

४—**योग**-शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का हिलना योग कहलाता है संसारी जीव के सर्व शरीर में जीवात्मा व्याप रहा है इस हेतु शरीर के हिलने से आत्मा में भी हलन चलन होता है वह तीन प्रकार है १ मन में किसी प्रकार का बिचार करने से २ बचन बोलने से ३ काया को किसी प्रकार हिलाने से इस कारण योग तीन प्रकार हैं-मन, बचन और काय। विस्तार रूप से योग मार्गणा के पंद्रह भेद हैं।

५—**वेद**-जिसके उदय से मैथुन करने की इच्छा होती है उस को वेद कहते हैं उसके ३ भेद हैं पुरुष, स्त्री और नपुंसक॥ नारकी और सम्मूर्छन जन्मवाले जीव सब नपुंसक ही होते हैं-देव नपुंसक नहीं होते बाकी जीव तीनों प्रकार के होते हैं।

६ **कषाय**-क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय हैं और १ हास्य अर्थात् हंसी २ रति अर्थात् प्यार प्रसन्नता ३ अरति अर्थात् अप्रसन्नता, नाराज़ी ४ शोक अर्थात् रंज ५ भय अर्थात् डर ६ जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि नफ़रत ७ पुरुषवेद अर्थात् स्त्री से भोग की इच्छा ८ स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष से भोग की इच्छा ९. नपुंसक वेद अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों से भोग की इच्छा इस प्रकार यह ९ कषाय हैं-नो का अर्थ है न्यून अर्थात् कमती मान, माया, लोभ और क्रोध से यह कषाय कमती हैं इस कारण इनको नोकषाय कहा है-

मान, माया, लोभ और क्रोध इन चार कषायों के चार २ भेद किये गये हैं १ अनन्तानुबन्धी जो सम्यक्त न होने दे (२) अप्रत्याख्यानी जो देश चारित्र अर्थात् गृहस्थी श्रावक का धर्म भी न पालने दे (३) प्रत्याख्यानी जो देश चारित्र तो होने दे परन्तु मुनि धर्म अर्थात सकल चारित्र न होने दे (४) संज्वलन जो सकल चारित्र तो होने दे परन्तु यथाख्यात चारित्र न होने दे इस प्रकार चार कषाय के १६ भेद और ९ नोकषाय मिलकर २५ प्रकार की कषाय मार्गणा है।

७—**ज्ञान** आठ प्रकार है जिसका वर्णन गाथा पांचवीं में हो चुका है

८—**संयम**--सम्यक् प्रकार यम नियम पालने को संयम कहते हैं-अहिंसा

आदिकव्रत का पालना, क्रोधादिक कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का रोकना और इन्द्रियों का वस में करना संयम है, संयम पांच प्रकार का है १ सामायिक २ छेदोपस्थापन ३ परिहार विशुद्धि ४ सूक्ष्मसांपराय और ५ यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम यह दो और मिलकर संयममार्गणा के सात भेद हैं। राग द्वेष के त्याग रूप समता भाव के अवलम्बन से आत्मध्यान करने को **सामायिक** कहते हैं-सामायिक चारित्र को धारण करने के पश्चात् किसी प्रमाद के कारण संकल्प विकल्प आदिक विकार उत्पन्न होने से किसी प्रकार के प्रायश्चित आदि से फिर संभलना और अनर्थक सावद्य (पापरूप) व्यापार से उत्पन्न हुए दोष का छेद कर फिर से अपने को अपनी आत्मा में स्थिर करना **छेदोपस्थापना** है, सामायिक में जो सावद्य योग्य तथा सङ्कल्प विकल्प का त्याग है उससे भी अधिक त्याग कर आत्मीक शुद्धि करना **परिहार विशुद्धि** है॥ आत्मा की शुद्धता में इससे भी अधिक उन्नति करना जिसमें कषाय नाम मात्र को बहुत सूक्ष्म रह जावे वह **सूक्ष्म सांपराय** चारित्र है॥ आत्मा का जैसा शुद्ध निष्कंप कषाय रहित स्वरूप कहा गया है वैसा हो जाना **यथाख्यात** चारित्र है॥ संयम का बिल्कुल न होना **असंयम** है और कुछ संयम और कुछ असंयम इस प्रकार की मिश्रित अवस्था को **संयमासंयम** कहते हैं गृहस्थी श्रावक संयमासंयमी होते हैं।

९—**दर्शन** चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसकी व्याख्या चौथी गाथा में हो चुका है।

१०-**लेश्या**—कषाय सहित योग का होना अर्थात् कषाय सहित मन, वचन वा काय की प्रवृत्ति होना लेश्या है लेश्या से कर्म बन्ध होता है-कर्म दो प्रकार के हैं पाप और पुन्य इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकार की है शुभ और अशुभ, शुभ लेश्या से पुन्य होता है और अशुभ से पाप, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की लेश्या के तीन २ भाग किये गये हैं (१) उत्कृष्ट अशुभ जिसको कृष्ण लेश्या कहते हैं (२) मध्यम अशुभ जिसको नील लेश्या कहते हैं (३) जघन्य अशुभ जिसको कापोत लेश्या कहते हैं (४) जघन्य शुभ जिसको पीत लेश्या कहते हैं (५) मध्यम शुभ जिसको पद्म लेश्या कहते हैं (६) उत्कृष्ट शुभ जिसको शुक्ल लेश्या कहते हैं, इस प्रकार लेश्या मार्गणा ६ प्रकार है।

११ **भव्यत्व**-जीव दो प्रकार के हैं भव्य और अभव्य जो किसी काल में सम्यग्दर्शनादि भाव रूप होवेंगे अर्थात् जो मोक्ष को जाने की योग्यता रखते हैं वह, भव्य हैं और जिन को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा अर्थात् जिन में किसी काल में भी सम्यग्दर्शनादि के प्राप्त होने की योग्यता नहीं है वह अभव्य हैं

१२ सम्यक्त्व-तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त कहते हैं मोटे रूप कथन से अपने और पराये की पहचान होकर अपनी आत्मा का सच्चा श्रद्धान हो जाना सम्यक्त है, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औरक्षायिक तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों सहित सम्यक्त्वमार्गणा ६ प्रकार है

१३ संज्ञी-तथा असंज्ञी भेद से संज्ञि मार्गणा दो प्रकार है

१४ आहार-तीन शरीर (कार्माण, तैजस, वैक्रियक) और ६ पर्याप्ती के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण करने का नाम आहार है आहारक और अनाहारक के भेद से आहार मार्गणा भी दो प्रकार है-मरने के पश्चात विग्रह गति में एक दो वा तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है केवल समुद्घात में अनाहारक होता है और सिद्ध भगवान अनाहारक हैं अन्य सर्व अवस्था में जीव आहारक ही रहता है।

१४ गुणस्थान

जीव के **१४ गुणस्थान** इस प्रकार हैं-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि केवलीजिन और अयोगिकेवलीजिन।

१-मिथ्यात्व-सम्यक्त्व के न होने को मिथ्यात्व कहते हैं-झूठ श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है।

२-सासादन-कोई जीव सम्यक्त प्राप्त होकर फिर भ्रष्ट हो जावे अर्थात मिथ्यात्वी हो जावे-ऐसी अवस्था में सम्यक्त से गिर कर जब तक वह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त न हो जावे तब तक जो बीच के समय की दशा है उसको सासादन कहते हैं।

३-मिश्र-सम्यक्त और मिथ्यात्व दोनों मिलकर जो एक विलक्षण भाव उत्पन्न हो उसको मिश्र कहते हैं-

४-अविरत सम्यक्त्व-सम्यक्त उत्पन्न हो जावे परन्तु किसी प्रकार का व्रत वा चारित्र धारण न करै।

५-देश विरत-सम्यक्त सहित एकदेश चारित्र पालने का नाम देश विरत है जो सम्यक्ती किंचित त्यागी है उस को गृहस्थी श्रावक भी कहते हैं इसके ११ प्रतिमा अर्थात् दर्जे हैं-जो आगे वर्णन किये जावेंगे।

६-प्रमत्त विरत—जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पांच पापों के त्यागरूप पंच महाव्रतों को पालता है परन्तु प्रमाद उसके विद्यमान है-- वह प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती कहलता है।

७-अप्रमत्तविरत-जो प्रमाद रहित होकर पांच महाव्रतों को पालता है।

८–अपूर्व करण—सातवें गुण स्थान से भी ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप उन्नति करता है

९–अनिवृत्ति करण— आठवें गुणस्थान से भी अधिक उन्नति करता है

१०–सूक्ष्म सांपराय – जहां सब कषाय उपशम वा क्षय को प्राप्त हो गई है केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से बाक़ी रह जाती है उस गुणस्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय है।

११—उपशान्त मोह-जिसकी कषाय किंचित मात्र भी उदय में नहीं है सब उपशम हो गई है अर्थात् दब गई हैं वह उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती कहलाता है इस गुणस्थान से जीव फिर नीचे गिरता है क्योंकि कषाय जो सत्ता में विद्यमान् थी उनका उदय हो जाता है।

१२—क्षीणमोह जहां कषाय बिल्कुल क्षीण अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाती है वह क्षीणमोह गुणस्थान है।

१३—सयोग केवली-जिसको केवल ज्ञान प्रात हो गया है परन्तु योग की प्रवृत्ति होती है वह तेरहवेंगुण स्थानवर्त्ती जीव है-इसही दशा में भगवान की बाणी खिरती है जिस से धर्म उपदेश चलता है

१४—अयोगि केवली-केवल ज्ञान होने के पश्चात् जब मन, वचन, काय रूप योग की प्रवृत्ति भी दूर हो जाती है तब जीव अयोगि केवली जिन कहलाता है। इसके अनन्तर ही सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा किंचूणाचरमदेहेदो सिद्धा
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥

अर्थ–जो जीव आठों कर्म रहित हैं, आठ गुण के धारक और अन्तिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में स्थित हैं-नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय संयुक्त हैं।

भावार्थ–कर्मों से रहित होकर यह जीव निज शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होता है उसही को सिद्ध अवस्था कहते हैं-सिद्ध अवस्था में आठ गुण होते हैं अर्थात् सम्यकत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरूलघु अव्याबाध।

शुद्ध सच्चा श्रद्धान प्रत्येक बस्तु का होने से उन में क्षायक सम्यकत्वगुण है जीवात्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है जो सिद्धों में होती है इस ही प्रकार अनन्त

दर्शन भी होता है अनन्त ज्ञानादिक आत्मीक शक्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त होने के कारण तथा पदार्थों के जानने में कुछ भी खेद न होने के कारण उन में अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्त बल भी है।

जीवात्मा अति सूक्ष्म अमूर्तीक है जो केवल ज्ञान से ही पूर्णरूप जानी जा सक्ती है। इस कारण सिद्धों में सूक्ष्मत्व गुण भी है। जीवात्मा अति सूक्ष्म होने से न किसी वस्तु से रुकती है और न किसी वस्तु को रोकती है बरण एकही स्थान में अनेक जीव समा-सक्ते हैं इस हेतु सिद्धों में अवगाहन शक्ति भी है। जीवात्मा न हलकी है और न भारी है इस कारण सिद्धों में अगुरु लघु गुण है। सिद्धों को अनन्त सुख है जिस में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सक्ती है इस कारण सिद्धों में अव्याबाध गुण है।

जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीर का जितना आकार है मोटे रूप तो उतनाही आकार सिद्ध अवस्था में होता है परन्तु तार्तम्य कथन के अनुसार उस आकार से कुछ कम आकार सिद्धों का होता है।

जीव का ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊपर को जाने का स्वभाव है। जैसे पानी में कोई हलकी वस्तु तूंबी आदिक डाल दी जावे तो वह अपने स्वाभाव से आपही आप ऊपर को आजावैगी वा जैसे अग्नि की लटा ऊपर को ही जावैगी परन्तु वस्तु का गमन वहीं तक हो सक्ता है जहां तक धर्म द्रव्य हो जैसा कि धर्म द्रव्य के कथन में आगामी दिखाया जावैगा धर्म द्रव्य तीन लोक केही भीतर है तीन लोक से बाहर अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इस वास्ते ऊपर को चलता हुआ मुक्त जीव उस स्थान पर ठहर जाता है जहां लोक की समाप्ति है। इसही कारण लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक शिखर पर सिद्धों की स्थिति है।

मुक्ति पाकर जीव कभी लौट कर संसार में नहीं आता है-सदा सिद्ध ही बना रहता है इस हेतु सिद्ध अवस्था नित्य है—

सर्व वस्तुओं में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीन अवस्था होती है-किसी पर्य्याय में स्थित होने को ध्रौव्य कहते हैं-पहली पर्य्याय के नाश को व्यय कहते हैं और नवीन पर्य्याय के उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं-प्रत्येक वस्तु समय २ में पर्य्याय पलटती रहती हैं इस हेतु उन में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है-परन्तु सिद्ध तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में ही निरंतर निश्चल रूप स्थित रहते हैं और अपनी ज्ञान शक्ति से तीन लोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान वस्तुओं को देखते रहते हैं। संसारी वस्तुओं की जो इस समय अवस्था है वह अगले क्षण में बीती हुई अवस्था हो जावैगी और जो आगे को होने वाली अवस्था है वह वर्तमान अवस्था हो जावैगी इसही

प्रकार यद्यपि सिद्धों को भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों अवस्था का ज्ञान युगपत अर्थात् एक ही साथ है परन्तु जिस प्रकार संसारी वस्तुओं की भूत, भविष्यत और वर्तमान अवस्था है वैसी ही उनके ज्ञान में है कि अमुक अवस्था वर्तमान है और अमुक २ अवस्था बीत गई है और अमुक २ अवस्था बीतने वाली है। और जैसा कि वर्तमान अवस्था बीत कर बीती हुई हो जाती है और होने वाली अवस्था वर्तमान हो जाती है उसही के अनुसार उन के ज्ञान में परिवर्तन हो जाता है यह सिद्धों का उत्पाद और व्यय है। सिद्धों में उत्पाद और व्यय कहने का प्रयोजन यह है कि जीव परिणामी है। कोई २ मत वाले इस को अपरिणामी मानते हैं वह ठीक नहीं है।

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं। कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसादु ॥१५॥

अर्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच अजीव द्रव्य हैं इन में पुद्गल मूर्तीक है रूपादि गुणों का धारक है और बाक़ी चार द्रव्य अमूर्तीक हैं—

भावार्थ—जिस में किसी प्रकार भी ज्ञान शक्ति नहीं है उसको अजीव कहते हैं, अजीव पांच प्रकार के हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जो वस्तु छूई जासक्ती है जो चक्खी जासक्ती है जिस में किसी प्रकार का गन्ध है जो आंखों से देखी जासक्ती है अर्थात् जो वस्तु इन्द्रिय गोचर है वह मूर्तीक कहलाती है। यह सबगुण पुद्गल पदार्थ में ही है इस कारण पुद्गल ही मूर्तीक है और बाक़ी सब द्रव्य अमूर्तीक है पुद्गल का वर्णन अगली गाथा १६ में धर्म की गाथा १७ में अधर्म की गाथा १८ में आकाश की गाथा १९-२० में काल की गाथा २१-२२ में किया गया है।

सद्दोबन्धोसुहुमोथूलो सण्ठाणभेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्सपज्जाया ॥१६॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, और आतप इन करके जो सहित है वे सब पुद्गलद्रव्य के पर्याय हैं।

भावार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु यह सब पुद्गल द्रव्य की पर्य्याय हैं अनेक मतवालों ने शब्द को आकाश का गुण माना है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि

मुख में जिह्वा के हिलने से वा घण्टे में मुगरी मारने से वा अन्य किसी प्रकार से पुद्गल द्रव्य हिलने से उस वस्तु के समीप की वायु हिलती है और वह वायु अपने समीप की वायु को हिलाती है इस तरह वायु हिलते हिलते जब किसी के कान को टक्कर देती है तो उस टक्कर के अनुसार शब्द मालूम होता है।

भेद अर्थात् टुकड़े होना जैसे गेहूं को पीस कर बारीक कण बनाकर आटा बना लेते हैं बन्ध अर्थात् जुड़ना जैसे आटे के बारीक कणों को पानी में घोलकर रोटी बना लेते हैं, यह दोनों बातें अर्थात् भेद और बन्ध पुद्गलही में होते हैं पुद्गल के सिवाय किसी द्रव्य के न टुकड़े होते हैं और न जुड़ते हैं।

सूक्ष्म अर्थात् बारीक होना और स्थूल अर्थात् मोटा होना यह भी पुद्गलही में होता है। अन्य सब द्रव्य अमूर्तीक हैं और वैसेही रहते हैं।

संस्थान अर्थात् गोल, चकोर और त्रिकोण आदिक आकार का होना भी पुद्गलही में है।

तम अर्थात् अन्धेरा और छाया अर्थात् साया उद्योत अर्थात् रोशनी और आतप अर्थात् गर्मी यह सब भी पुद्गल में ही होती हैं।

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥

अर्थ—पुद्गल और जीव गमन रूप परिणमते हैं उनके गमन में धर्म द्रव्य सहकारी है जैसे मछली के चलने में जल सहकारी है। परन्तु गमन न करते हुवे पुद्गल और जीवों को वह धर्म द्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है। अर्थात् गमन की प्रेरणा नहीं करता है।

भावार्थ—गमन अर्थात् हिलने चलने की शक्ति जीव और पुद्गल दोही द्रव्यों में है। और कोई द्रव्य हिलता चलता नहीं है। परन्तु जैसे मछली को चलने के वास्ते जल की और पतंग को उड़ने के वास्ते वायु की ज़रूरत होती है वा जैसे कोठे पर चढ़ने के वास्ते सीढ़ी की ज़रूरत होती है इसही प्रकार प्रत्येक वस्तु को हिलने चलने के वस्ते एक द्रव्य की आवश्यक्ता है जिस का नाम धर्म द्रव्य रक्खा गया है। धर्म द्रव्य से मतलब यहां पुन्य पाप वा मुक्ति मार्ग से नहीं है बरण यह तो एक अजीव द्रव्य है और अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है। तीन लोक से बाहर नहीं है। यह धर्म द्रव्य आप तो हिलता चलता नहीं है। तीन लोक में ज्योंका त्यों

व्यापक रहता है परन्तु इसके सहारे से जीव और पुद्गल हलन चलन क्रिया करते रहते हैं । तीन लोक के बाहर अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इसही हेतु वहां गमन नहीं हो सक्ता है । परन्तु यह धर्म द्रव्य किसी वस्तु को हिलने चलने की प्रेरणना नहीं करता है जैसे सीढ़ी मनुष्य को प्रेरणा नहीं करती है कि तुम मेरे द्वारा कोठे पर चढ़ो बरण जब कोई मनुष्य चढ़ै तो उसको चढ़ने में सीढ़ी सहकारी होती है ।

ठाणजुदाणअधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छायाजहपहियाणं गच्छन्ताणेवसो धरई ॥१८॥

अर्थ—जो पुद्गल और जीव स्थिति सहित हैं अर्थात् ठहरे हुए हैं उनकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे मुसाफिर को वृक्ष की छाया ठहरने में सहकारी कारण होती है परन्तु गमन करते हुए जीव पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य प्रेरणा करके नहीं ठहराता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार गमन के वास्ते सहकारी धर्म द्रव्य है इसही प्रकार ठहरने के वास्ते सहकारी अधर्म द्रव्य है । अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है । लोक से बाहर अलोकाकाश में नहीं है । परन्तु जिस प्रकार धर्मद्रव्य गमन करने की प्रेरणा नहीं करता है बरण गमन करनेवाली वस्तु को गमन में सहायता देता है इसही प्रकार अधर्म द्रव्य भी ठहरने की प्रेरणा नहीं करता है बरण जो वस्तु गमन अर्थात् हलन चलन क्रिया को बन्द करके ठहरे उसको ठहरने में सहायता करता है ।

जीव, पुद्गल, आकाश और काल यह चार द्रव्य बहुत से मतवालों ने माने हैं परन्तु धर्म और अधर्म यह दो द्रव्य जैनमत में ही माने गये हैं । किन्तु आज कल अंग्रेजी के महान फ़िलासोफर इस बात की शङ्का कर रहे हैं कि वस्तु की गति और स्थिति के वास्ते कोई सहकारी वस्तु अवश्य चाहिये और वह इसकी कुछ खोज भी लगा रहे हैं परन्तु अमूर्तीक वस्तुओं की उन को क्या खोज मिल सक्ती है ?

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ—जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने की योग्यता रखने वाला है उसको श्रीजिनेंद्रदेव आकाश कहते हैं । आकाश के दो भेद हैं लोकाकाश और अलोकाकाश ।

भावार्थ—रहने को स्थान देना आकाश का काम है-आकाश सर्व व्यापक है यदि कोई पूछे कि तीन लोक के बाहर क्या है ? तो यह ही कहा जावेगा कि आकाश और वह कहां तक है ? इस की कोई सीमा नहीं बांधी जा सक्ती क्योंकि जो कुछ भी सीमा बांधी जावे उसके बाहर क्या है ? तो फिर यह ही कहना पड़ेगा कि आकाश। इस कारण आकाश अनन्त है आकाश का कोई अन्त नहीं है—आकाश भी अमूर्तीक है और सर्व व्यापक होने से प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर सब जगह आकाश है-

धम्मा धम्मा कालो पुग्गल जीवाय संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुरिति ॥२०॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव यह पांचो द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश से बाहर को अलोकाकाश कहते हैं।

भावार्थ—पांचो द्रव्य जितने स्थान में देखने में आते हैं उसही को लोक कहते हैं इसही लोक के ऊपर, नीचे और मध्य यह तीन विभाग करके तीन लोक कहे जाते हैं—लोक अर्थात् तीन लोक के भीतर के आकाश को लोकाकाश और उससे बाहर के अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं—

दव्वपरिवट्टरूवोजोसो कालोहवेइववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोयपरमट्ठो ॥२१॥

अर्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप है और परिणाम क्रिया आदि से जाना जाता है वह व्यवहार काल है और जो वर्त्तना लक्षण का धारक है वह निश्चय काल है।

भावार्थ—समय, घड़ी, पहर, दिन, महीना, और वर्ष आदिक को व्यवहार काल कहते हैं। यह काल की पहचान संसार की वस्तुओं के परिवर्त्तन से स्थापित की गई है। क्योंकि जितने काल में सूर्य उदय होकर और अस्त होकर फिर उदय होता है उसको दिन कहते हैं। उसही दिन के साठ विभाग करके घड़ी आठ विभाग करके पहर स्थापित कर लिये हैं। इसही प्रकार महीने और वर्ष स्थापित किये गये हैं। निश्चय में काल द्रव्य पदार्थों के परिणामन में कुम्हार के चाक की कीली की तरह उदासीनरूप से सहकारी कारण है। उस पदार्थ परिणति में सहकारिता को ही वर्त्तना कहते हैं। और वर्त्तना जिसका लक्षण है वही कालाणु रूप निश्चय काल है।

समय—जितने काल में मन्दगति से एक परमाणु (पुद्गल का सब से छोटा टुकड़ा) आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है उतने काल का नाम समय है भावार्थ काल के सब से छोटे हिस्से का नाम समय है।

काल के एक चक्कर को कल्प कहते हैं जो बीस कोड़ा कोड़ी सागर का होता है, इसके दो भेद हैं अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के छः ६ भेद हैं सुषमा सुषमा, २ सुषमा ३ सुषमा दुःषमा, ४ दुःषमा सुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमा दुःषमा। उत-सर्पिणी के भी छः ६ भेद हैं जिनका क्रम अवसर्पिणी से विपरीत (उलटा) है और वह यह हैं। १ दुःषमा दुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमा सुषमा, ४ सुषमा दुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा।

अवसर्पिणी के छहों कालों में भरत और एरावत क्षेत्रों में निवास करने वाले जीवों के आयु, शरीर बल वैभवादि क्रम से घटते हैं और उत्सर्पिणी के छहों कालो में क्रम से बढते हैं। भावार्थ अवसर्पिणी के १ले, २रे, ३रे, ४थे, ५ वें, ६ठे काल की रचना उतसर्पिणी के ६ठे, ५वें, ४थे, ३रे, २रे, १ले काल की रचना के समान है। भेद केवल इतना ही है कि अवसर्पिणी में आयुकायादिक की हानि होती है और उतसर्पिणी में वृद्धि होती है। भरत और एरावत के सिवाय अन्य क्षेत्रों में प्रायः काल की समान रचना रहती है अर्थात् किसी क्षेत्र में सदा १ले काल की ही रचना रहती है किसी में दूसरे काल की, किसी में तीसरे की और किसी में ४थे काल की विदेह क्षेत्रों में सदा ४थे काल की ही रचना रहती है। चौथे काल में ही ६३ शलाका के पुरुष होते हैं। और चौथे काल में ही संसार से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

आज कल इस भरत क्षेत्र में, जिसमें हम तुम सब लोग निवास करते हैं अव-सर्पिणी का पांचवा 'दुःषमा' नामक काल बीत रहा हैं जिसको 'पंचम काल' कहते हैं इसी से दिन पर दिन मनुष्यों की आयु, काय, बल, वैभव आदिक घटते जाते हैं यह पंचम काल २१ हजार वर्ष का है। चौबीसवें तीर्थंकर के मोक्ष जाने से ६०५ वर्ष और ५ महीने पीछे पंचम काल में शक राजा होता है। इसी हिसाब से आज कल २४३५ श्री वीर निर्वाण सम्वत प्रचलित है अर्थात् अभी तक २१ हजार में से अनु-मान इतने ही वर्ष पंचम काल के व्यतीत हुए हैं। शक राजा के ३९४ वर्ष ७ महीने पीछे अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर के निर्वाण से १ हजार वर्ष पश्चात् कल्की राजा होता है। यह कल्की धर्म से विमुख आचरण में लीन रहता है। इसी प्रकार एक २ हजार वर्ष बाद एक २ कल्की राजा होता है तथा इन कल्कियों के बीच बीच में एक २ उप कल्की भी होता है। परन्तु मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चार प्रकार जिन

धर्म के संघ का सद्भाव पंचम काल के अंत तक रहता है अर्थात् पंचम काल के अन्त तक धर्म बना रहता है और उसका लोप नहीं होता है भावार्थ पंचम काल के अन्त होने पर धर्म का भी अन्त हो जाता है और कोई राजा भी नहीं रहता फिर छठे काल में मनुष्य धर्म शून्य पशुओं की तरह मांसाहारी होते हैं और मरकर नरक वा तिर्यंच गति को ही जाते हैं और ऐसी ही खोटी गतियों से आन कर जीव छठे काल में उत्पन्न होते हैं। यह छठा काल भी २१ हजार वर्ष का ही होता है। छठे काल के अन्त में अग्नि आदि की ४९ दिन तक घोर वर्षा होती है जिनसे प्रायः सब जीव मर जाते हैं। इसी को महा प्रलय कहते हैं। परन्तु यह प्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंडों में ही होता हैं अन्यत्र नहीं होता है। जो लोग सर्व जगत का प्रलय होना मानते हैं वह ग़लत है और प्रमाण विरुद्ध है।

सुषमा सुषमा, सुषमा, और सुषमा दुःखमा, इन तीन कालों में भोग भूमि की रचना रहती है अर्थात् खेती बाड़ी करना, मकान बनाना, भोजन तय्यार करना, कपड़े सीना तप संयम धारण करना आदि कोई काम नहीं होता है बल्कि उस समय दस प्रकार के कल्प वृक्षों द्वारा सर्व प्रकार की भोग सामिग्री प्राप्त होती रहती है। सुषमा दुःखमा काल के अंत में क्रम से १४ कुल कर होते हैं जो अधिक ज्ञान के धारी होते हैं और भोग भूमि या जीवों को अनेक प्रकार की कर्म भूमि की शिक्षा देते हैं, खेती करने भोजन बनाने वस्त्र सीने, मकान बनाने, विवाह करने और तप संयम धारण करने आदि को कर्म भूमि की रीति कहते हैं, चौदहवें कुलकर यह सब काम मनुष्यों को पूर्ण रीति से सिखा देते हैं और कर्म भूमि की रीति प्रारम्भ हो जाती है, दुःखमा सुषमा, दुखमा, और दुःखमा दुःखमा काल में कर्म भूमि की रीति ही रहती है।

लोयायासपदेसेइक्किके जेठियाहुइक्किका।
रयणाणं रासीइवते कालाणुअसङ्खदव्वाणि॥२२॥

अर्थ—जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश में रत्नों की राशी के समान परस्पर भिन्न होकर एक २ स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ—जितने स्थान में एक परमाणु रक्खा जावै उसको प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेश है। प्रत्येक प्रदेश में काल का एक एक अणु है इस प्रकार सर्व लोकाकाश में काल द्रव्य भरा हुआ है।

एवंछब्भयमिदं जीवाजीवप्पभेददोदव्वं।
उत्तंकालविजुत्तं णादव्वापञ्चअत्थिकायादु॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छ भेद को लिये हुए द्रव्य का वर्णन किया गया इन छओ द्रव्यों में से कालद्रव्य के सिवाय शेष पांच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना चाहिये।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश यह पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं कहलाता है अगली गाथा में इन पांचों ही को अस्तिकाय क्यों कहा है। इसका हेतु पूर्वक निरूपण किया गया है।

सन्तिजदोतेणदेअत्थिति भणन्तिजिणवराजह्मा।
कायाइवबहुदेसा तह्माकायाय अत्थिकायाय ॥२४॥

अर्थ—क्योंकि पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, तथा, आकाश पांचों द्रव्य विद्यमान हैं इस वास्ते जिनेश्वर इनको "अस्ति" कहते हैं और चूंकि काय के समान यह द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस कारण इनको "काय" कहते हैं। इस हेतु यह पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

भावार्थ—अस्ति अर्थात् विद्यमान होना, मौजूद होना यह गुण तो सबही द्रव्य में है अर्थात् कालद्रव्य भी अस्ति है परन्तु कालद्रव्य के अणु भिन्न भिन्न एक एक हैं अर्थात् एक एक प्रदेशी हैं इस कारण उसकी काय संज्ञा नहीं हो सक्ती है अन्य पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस हेतु वह अस्तिकाय कहलाते हैं। इसका ब्यौरा अगली गाथा में किया गया है।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्तेतिविह पदेसाकालस्सेगोणतेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं-पुद्गल में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल के एकही प्रदेश है इस कारण काल काय नहीं है।

भावार्थ—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक जीव सर्व लोकाकाश में फैल सक्ता है इस कारण जीव असंख्यात प्रदेशी हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सर्व लोकाकाश में व्यापक हैं इस कारण वह दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश लोकाकाश से भी बाहर अनन्त है उसको कुछ सीमा नहीं है इस कारण वह अनन्त प्रदेशी है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं। परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो चार, दस, बीस, हजार, लाख आदिक परमाणु मिलकर छोटा वा बड़ा स्कन्ध भी होता है

इस ही हेतु, पुद्गल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा है-काल के अणु एक एक अलग २ हैं वह मिल कर स्कंध नहीं होते हैं इस कारण काल को काय नहीं कहते हैं।

पुद्गल का जब एक परमाणु अलग भी होता है तब उसको काय क्यों कहा जावे इसका उत्तर अगली गाथा में दिया गया है।

पुद्गल द्रव्य लोकाकाश ही में है अलोकाकाश में नहीं है और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं तो पुद्गल द्रव्य के प्रदेश असंख्यात से अधिक अर्थात अनन्त कैसे हो सक्ते हैं ? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल के परमाणु अनन्त हैं जिस प्रकार लोहा पीतल आदिक धातु में अग्नि प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहा पीतल आदिक के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के भी परमाणु स्थान पालेते हैं इस प्रकार बहुत सी अवस्था में पुद्गल में अवगाह अर्थात् स्थान देने वा स्थान पाने की शक्ति होती है इस कारण असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में ही अनन्त पुद्गल परमाणु भरे हुवे हैं-पुद्गल परमाणुओं के अनन्त होने से उनके प्रदेश भी अनन्त कहे गये हैं।

एयपदेसोवि अणु णाणा खधप्पदे सदो होदि ।
बहुदेसा उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वएहु ॥२६॥

अर्थ--एक प्रदेश का धारक भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुत प्रदेशों से बहु प्रदेशी होता है इस हेतु सर्वज्ञदेव पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहते हैं।

भावार्थ—वह ही वस्तु काय कहाती है जो बहु प्रदेशी हो-जब अनेक परमाणु मिल कर स्कंध हो तबही पुद्गल काय वाला होता है पुद्गल का एक परमाणु काय वाला नहीं है परन्तु ऐसे २ परमाणु मिल मिल कर ही स्कंध बनते रहते हैं इस हेतु उपचार नय से एक परमाणु भी काय ही कहलाता है।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्ठद्धं ।
तंखुपदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

अर्थ—अविभागी पुद्गल अणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश है, वह प्रदेश सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ हैं।

भावार्थ—सब से छोटे से छोटा अणु जिसका विभाग न होसके वह परमाणु कहाता है-एक परमाणु जितने स्थान में आवे उस को प्रदेश कहते हैं-एक प्रदेश में सर्व

परमाणु समा सक्ते हैं गाहन शक्ति के कारण जैसा कि अग्नि लोहे के भीतर भी प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहे के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के परमाणु भी अवगाह कर जाते हैं-इस से सिद्ध हुवा कि एक प्रदेश में अनेक परमाणु समा सक्ते हैं।

इति प्रथम अधिकारः

द्वितीय अधिकार

आसव बंधण संवर णिज्जरमोक्खो सपुण्णपावाजे ।
जीवाजीवविसेसा तेविसमासेण पभाणमो ॥२८॥

अर्थ—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुन्य और पाप इस प्रकार जीव और अजीव के जो भेद रूप पदार्थ अर्थात् पर्याय हैं उनका भी संक्षेप से कथन करते हैं।

भावार्थ—जीव और अजीव यह दोही प्रकार के पदार्थ हैं-जीव में कर्मों का आस्रव अर्थात् कर्मों की उत्पत्ति और जीव के साथ कर्मों का बन्ध अजीव पदार्थ के कारण होता है कर्मों के आने को रोकना जिसको सम्बर कहते हैं और बंधे हुवे कुछ कर्मों को दूर करना जिसको निर्जरा कहते हैं और सर्वथा कर्मों को दूर करना जिसको मोक्ष कहते हैं यह तीनों बातें अजीव पदार्थ को जीव से अलग करने से पैदा होती हैं

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्व कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ही सात तत की बातें है।

कर्म बंध दो प्रकार का होता है-पापरूप वा पुन्यरूप इस कारण सात तत्वों के साथ पाप, पुन्य का कथन मिलाना भी आवश्यक है-पुन्य पाप मिलकर नौ ९ पदार्थ कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ९ बात जानने योग्य ज़रूरी हैं।

जीव और अजीव का वर्णन पीछे कर चुके हैं अब आगे बाकी के सात पदार्थों का कथन करते हैं— गाथा २९, ३० और ३१ में आस्रव का कथन है गाथा ३२ और ३३ में बंध का कथन है-गाथा ३४ और ३५ में संवर का कथन है-गाथा ३६ में निर्जरा का और गाथा ३७ में मोक्ष का कथन है— गाथा ३८ में पुन्य और पाप का कथन है।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणोसविण्णेओ ।
भावासवो जिणुक्ते कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उस परिणाम को श्री जिनेन्द्र भगवान भाव आस्रव कहते हैं और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मों का जो आस्रव है वह द्रव्य आस्रव है ।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने का नाम भाव आस्रव है और द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य आस्रव है ।

मिच्छत्ताविरदिपमाद जोगकोधादओऽथविण्णेया ।
पण पण पणदसतिय चदुकमसो भेदादु पुव्वस्स॥३०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविराति, प्रमाद, योग, और क्रोध आदिक कषाय यह पांच भेद भावआस्रव के हैं-मिथ्यत्व के पांच, अविराति के पांच, प्रमाद के पंद्रह, योग के तीन, और कषाय के चार भेद हैं ऐसे क्रमसे भेद जानने चाहिये।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन, जिससे कर्म की उत्पत्ति होती है पांच कारणों से होती है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय ।

मिथ्यात्व—पर पदार्थों से रागद्वेष रहित अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभवन में श्रद्धान होने को सम्यक्त कहते हैं यह ही आत्मा का निज भाव है—इसके विपरीति भाव को मिथ्यात्व कहते हैं-मिथ्यात्व भाव के कारण संसारी जीव में अनेक तरंग उठती हैं अर्थात् जीव के शांति स्वभाव का नाश होता है इसी से यह कर्मों की उत्पत्ति का कारण है-मिथ्यात्व पांच प्रकार का है—एकान्त, विपरीत, विनय संशय और अज्ञान ।

वस्तु में अनेक गुण होते हैं जैसे दूध पीना शारीरक पुष्टी करता है परन्तु बहुत से रोगों में हानि कारक भी है--इस हेतु दूध लाभ दायक भी है और हानि कारक भी है मनुष्य जो २० वर्ष का है वह १० वर्ष के बालक से बड़ा और ५० वर्ष के मनुष्य से छोटा है इस हेतु वह बड़ा भी है और छोटा भी है इसही प्रकार वस्तु में अनेक गुण होते हैं परन्तु संसार के अल्पज्ञ जीव वस्तु के एक ही विषय को लेकर उसही के अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं इसही का नाम एकान्त मिथ्यात्व है जैसे पाप कर्म करने की अपेक्षा दान पूजादिक पुण्य कर्म करना बहुत अच्छा है परन्तु मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा पुण्य कर्म भी छोडने योग्य हैं-इस हेतु अनेक शास्त्रों में जो पुण्य कर्म

का उपदेश दिया गया है उसही को सम्पूर्ण धर्म मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है— श्री वीतराग भगवान हमारा न कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं क्योंकि वह राग द्वेष से रहित हैं परन्तु उनका ध्यान करने से उनकी वीतरागता को चिंतवन करने से हमारे परिणामों में वीतरागता आती है जिससे पाप कर्मों का क्षय होता है इस हेतु उपचारनय से वह हमारे दुःख को दूर करने वाले हैं परन्तु उनको साक्षात दुःखों का दूर करने वाला कर्ता परमेश्वर मानना एकान्त मिथ्यात्व है-स्नान आदिक शरीर शुद्धि और शुचि क्रिया से मन की मलिनता दूर करने में संसारी जीवों को सहायता मिलती है परन्तु स्नान करने वा शुचि क्रिया ही करने को धर्म मानना और मन की शुद्धि का कुछ भी विचार न करना एकान्त मिथ्यात्व है इसका ऐसा दृष्टान्त है कि अग्नि जलाने से रोटी बनती है परन्तु अनाज पीस कर आटे को पानी में गूंद कर और रोटी थेपकर अग्नि से तपे हुवे तवे पर सेकने से रोटी बनती है जो कोई न तवा तपावै न आटा लावै वरण अग्नि चूल्हे में जला देना काफ़ी समझै वह एकान्त मिथ्यात्वी है उसकी क्रिया से कभी रोटी न बन सकेगी और उसका आग जलाना व्यर्थ ही जावेगा— इसही प्रकार एकान्त मिथ्यात्व के हज़ारों लाखों दृष्टान्त दिये जा सक्ते हैं और यदि जांच की जावे तो अन्य मत के बहुत से सिद्धान्त एकान्त मिथ्यात्व को ही लिये हुए हैं परन्तु शोक है तो यह है कि हमारे बहुत से जैनी भाई भी जैन शास्त्रों को न पढ़ने के कारण एकान्त मिथ्यात्व में फंसे हुये हैं।

उल्टी बात मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं जैसे हिंसा में धर्म मानना।

सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा न करके अर्थात इस बात का विचार न करके कि जिसकी मैं बिनय करता हूँ उस में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन गुण हैं वा नहीं, समस्त देव, कुदेवों की समान विनय करना और समस्त प्रकार के दर्शनों (मतों) को एकही मानना बिनय मिथ्यात्व है।

किसी वस्तु को संशय रूप मानना संशय मिथ्यात्व है-अर्थात ठीक ठीक यक़ीन न होना, भ्रम रहना कि यह बात ऐसे है या दूसरी प्रकार है, जैसे सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है या कि नहीं। हिताहित की परीक्षा रहित श्रद्धान का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है जैसे वृक्षादिक एकेंद्री जीवों को अपने हिताहित का कुछ भी ज्ञान नहीं है वा बहुत से मनुष्य अपने संसार कार्यों में ऐसे लगे रहते हैं कि धर्म का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं करते और धर्म से ऐसे ही अज्ञानी रहते हैं जैसे पशु, वा वृक्ष आदिक।

अविरति-अपने ही शुद्ध आत्मीक परम सुख में आनन्दित रहना आत्माका

निज स्वभाव है-उस परम आनन्द से विमुख हो कर यह जीव बाह्य विषयों में लगता है उसको अविराति कहते हैं वह आविराति पांच हैं-हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनही के त्याग को व्रत कहते हैं-अथवा यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवत्तिरूप ६ भेद तथा छः काय के जीवों को विराधना रूप ६ भेद ऐसे दोनों मिलाने से १२ प्रकार की भी है

कषायरूप परिणाम से अपने वा पर जीव के द्रव्य प्राण वा भाव प्राण का घात करना हिंसा है क्रोधादिक कषाय उत्पन्न होने से अपने शुद्धोपयोग रूप शांत परिणाम में बाधा पड़ती है इस हेतु अपने भाव प्राणों का घात होता है यह क्रोधादिक कषाय से आँखों का लाल होना चिहरे का चढ़ना अपने हस्त पादादिक का टूटना आदिक शरीर में बिकार होना अपने द्रव्य प्राणों में बाधा आना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव को कुवचन कहना वा उसकी तरफ़ कुचेष्टा करना आदिक से उसके परिणाम में पीड़ा पहुंचाना उस जीव के भाव प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव के शरीर के किसी अंग को छेदना काटना आदिक उसके द्रव्य प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है

कषाय के योग से अपने को वा पर को हानि कारक अप्रशस्त बचन बोलना असत्य है।

बिना दिये हुए पदार्थ को कषाय से ग्रहण करना चोरी है।

पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद के उदय से पुरुष वा स्त्री से मैथुन करना अब्रह्म है।

संसार सम्बंधी वस्तुओं से ममत्व परिणाम का नाम परिग्रह है।

प्रमाद--शुद्ध आत्म अनुभव से डिगना, फिसलना, सावधान न रहना और व्रतादि के विषय अनादर का होना प्रमाद है।

चार विकथा--चार कषाय, पांच इन्द्रियविषय, निद्रा और राग यह १५ भेद प्रमाद के हैं।

ऐसी वार्ता का कहना वा सुनना जो संयम के बिरोधी हो आत्मा के शुद्ध परिणाम को बिगाड़ने वाली हो उसको बिकथा कहते हैं उसके मोटे रूप चार भेद हैं स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भोजनकथा, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाला जो परिमाण है उसको कषाय कहते हैं वह चार प्रकार है क्रोध मान-माया और लोभ, तथा अनन्तानुबंधी आदिक और हास्य आदिक भेद से कषाय के २५ भेद हैं।

इन्द्रियों के विषय में लगना भी आत्मा के शुद्ध परिणाम का बिगाड़ने वाला है इन्द्रिय पांच हैं स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

निद्रा से भी असावधानी होती है

राग किसी वस्तु से स्नेह करने को कहते हैं यह तो सब से ही अधिक प्रमाद रूप है।

योग—शरीर के हिलने के कारण जीवात्मा भी जो शरीर में व्यापक है हिलती है-शरीर का हिलना तीन प्रकार है-मन में कुछ चिन्तवन करने से द्रव्य मन अर्थात् आठ पांखडी का कमल के आकार जो शरीर के अन्दर मन है वह हिलता है उसके हिलने से जीवात्मा हिलती है इसको मन योग कहते हैं, वचन बोलने में जिह्वा आदिक शरीर के अंग हिलते हैं उससे जीवात्मा हिलती है यह वचन योग है हाथ पैर आदिक शरीर के अन्य अंगो के हिलने से जीवात्मा हिलती है उसको काय योग कहते हैं-जीवात्मा में जब जब हलन चलन पैदा होगा तभी कर्मों का आस्रव होगा ऐसे संक्षेप से योग तीन प्रकार है और विस्तार से १५ भेद रूप है।

कषाय – मान, माया, लोभ और क्रोध यह चार कषाय हैं इनसे तो आत्मा के परिणाम में बिकार पैदा होकर कर्मों की उत्पत्ति होती ही है।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवोसणेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि कर्मरूप होने के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्य आस्रव जानना चाहिये-इस के अनेक भेद हैं-ऐसा श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।

भावार्थ—किसी वस्तु में बिकार का होना किसी अन्य वस्तु के मिलने से ही हो सक्ता है-जीवात्मा में विकार उत्पन्न करने के अर्थ अजीव पदार्थ का ही मिलना हो सक्ता है-अजीव द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों में तो जुड़ने और टुकड़े होने की शक्ति नहीं है यह गुण तो पुद्गल में ही है इस हेतु पुद्गल परमाणुओं के ही मिलने से जीवात्मा बिकारी होता है-शीतल जल अग्नि के समीप होने से गरम हो जाता है। शीतल स्वभाव से विपरीत गरम भाव हो जाने अर्थात् गर्मी का बिकार पैदा हो जाने का यह ही कारण होता है कि शीतल जल में अग्नि के परमाणु सम्मिलित हो जाते हैं अग्नि के परमाणुओं के मिलने के बिना शीतल जल में गर्मी का बिकार नहीं आ सक्ता है इस ही प्रकार जीवात्मा भी द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं के मिलने से ही बिकारी हो रहा है।

पुद्गल द्रव्य अनेक पर्याय धारण करता है-नीम के बीज में जल सींचने से वह जल नीम के वृक्ष के मूल, स्कंध टहनी, पत्ते, फूल और फल रूप होता है और कड़वी

ही कड़वी वस्तु पैदा करता है और उसही जल से नीबू का बीज सींचने से वही जल नीबू के वृक्ष के स्कंध, टहनी, पत्ते, और फूल रूप होता है और खट्टा नीबू पैदा करता है और वह ही जल मिरच के वृक्ष में जाने से चिरचरी मिरच रूप हो जाता है और ईख में जाकर अत्यन्त मधुर रस धारण करता है इस से यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप हो रहा है वह ही अनेक प्रकार का पर्य्याय धारण कर लेता है मनुष्य के शरीर में वही ही दूध मनुष्य के शरीर के आकार की सप्त धातु मांस, हड्डी, खून और वीर्य्य आदिक और आंख, कान, हाथ और पैर आदिक बनाता है और वही दूध बिल्ली के शरीर में जाकर बिल्ली के शरीर के अनुसार सब वस्तु बनाता है और सर्प के शरीर में जाकर सर्प के अनुसार ज़हर आदिक वस्तु बनजाता है, इसही प्रकार जीवात्मा में भाव आस्रव के द्वारा परिणमन होने से उस जीवात्मा के समीप वर्ती पुद्गल परमाणु आकर्षित होकर कर्म रूप बन जाते हैं।

जिस प्रकार बीज वा वृक्ष से आकर्षित मिट्टी पानी वायु और धूप आदिक के परमाणु उस वृक्ष के स्कंध, मूल, टहनी, पत्ता, फूल और फल रूप अनेक प्रकार की पर्य्याय धारण करते हैं इसही प्रकार जीव के भाव आस्रव से आकर्षित परमाणु भी ज्ञानावरण आदिक अनेक प्रकार के कर्मरूप बन जाते हैं।

मोटे रूप कर्मों के आठ भेद किये गये हैं। ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र ८ अन्तराय

ज्ञानावरणीय-जो जीव के ज्ञान को ढकैं-इसके ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय-जो जीव के दर्शन को ढकै इसके ९ भेद हैं।

वेदनीय-जो सुख और दुख की अनुभव करावे—तथा सुख दुख की सामिग्री पैदा करै।

मोहनीय-इसके दो भेद हैं दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी-जो जीव के सच्चे श्रद्धान को भ्रष्ट करके मिथ्यात्व उत्पन्न करावै वह दर्शन मोहनी है इसके ३ भेद, जो जीव के शुद्ध और शान्त चारित्र को बिगाड़ कर कषाय उत्पन्न करावै वह चारित्र मोहनी है इसके २५ भेद हैं। इस प्रकार मोहनी के कुल २८ भेद हैं।

आयु-जो एक पर्य्याय में जीव की स्थिति का कारण हो इसके ४ भेद हैं।

नाम-जो शरीर का अनेक प्रकार का रूप पैदा करावै इसके ९३ भेद हैं।

गोत्र-जो ऊंच वा नीच अवस्था को प्राप्त करावै-इसके दो भेद हैं।

अन्तराय-जो अन्तर डाले, विघ्न पैदा करे इसके ५ भेद हैं।

इस प्रकार कर्मों के १४८ भेद मोटे रूप किये गये हैं वास्तव में कर्म के अनन्ते भेद हैं-१४८ भेदों का भिन्न २ वर्णन आगामी बंध के वर्णन में किया जावेगा।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

अर्थ—आत्मा के जिस भाव से कर्म आत्मा से बंधता हैं वह तो भाव बंध है और कर्म और आत्मा के प्रदेशों का सम्मिलित होना एक का दूसरे में प्रवेश होना वह दूसरा द्रव्य बंध है—

भावार्थ—आत्मा के जिस विकार भाव से जीवात्मा में कर्म बंध होता है उस विकार भाव को भाव बंध कहते हैं और उस विकार भाव के कारण कर्म के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में सम्मिलित होना जिस प्रकार कि दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं इसको द्रव्य बंध कहते हैं।

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदोहोंति ३३

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंधचार प्रकार का है इन में योगों से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

भावार्थ—कर्म जिस प्रकार का है अर्थात् जिस स्वभाव को लिये हुये कर्म है उसको प्रकृति कहते हैं-जितने समय तक वह कर्म आत्मा के साथ रहेगा उसको स्थिति कहते हैं-तीव्र वा मंद अर्थात हलका वा भारी जैसा उस कर्म का फल है उसको अनुभाग कहते हैं, कर्मों के आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप जो सम्बंध होना है उसको प्रदेश बंध कहते हैं, इस प्रकार बंध का वर्णन महान ग्रन्थों में चार प्रकार किया गया है।

कषाय से जो योग होता है अर्थात् कषाय सहित मन बचन काय की जो क्रिया होती है उसको लेश्या कहते हैं उसही से बंध होता है बिना कषाय के मन, बचन वा काय की क्रिया होने से प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही होता है स्थिति और अनुभाग नहीं होता है अर्थात् शरीर के हिलने से शरीर के अन्दर व्यापक आत्मा भी हिलती है यदि यह हिलना बिना किसी कषाय के है तो कर्म तो उत्पन्न हो जावेगी और आत्मा के हिलने के अनुसार वह उत्पन्न हुआ कर्म किसी न किसी प्रकार का भी

होगा अर्थात् कोई प्रकृति उस कर्म की अवश्य होगी और जब कर्म किसी प्रकृति का उत्पन्न हो गया तो वह आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप भी होगा अर्थात् प्रकृति और प्रदेश दो बातें पैदा हो जावेंगी परन्तु बिना कषाय के वह कर्म जीवात्मा के साथ सम्मिलत नहीं होगा बिना कषाय कर्म उत्पन्न होकर तुरंत ही नाश हो जायगा उसमें कोई स्थिति नहीं होगी और न उस में कोई रस होगा, कर्म की स्थिति और अनुभाग यह दो बातें कषाय से ही उत्पन्न होती हैं इस हेतु यदि योग कषाय सहित है तो कर्म बंध की चारों बातें पैदा हो जावेंगी।

मन, वचन और काय की क्रिया क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय में से किसी कषाय के द्वारा होने से कर्म बंध होता है, क्रिया भी तीन प्रकार की है संरंभ अर्थात् इरादा करना समारंभ उस कार्य की सामिग्री इकट्ठी करना और आरंभ अर्थात् उस कार्य को करना इनके भी तीन तीन भेद हैं, कृत आप करना कारित दूसरे से कराना और अनुमोदना अर्थात् करते को भला जानना इस प्रकार कर्म बंध के कारणों के अनेक भेद हैं अब पृथक २ वर्णन करते हैं।

प्रकृतिबन्ध।

अब कर्मों की १४८ प्रकृति को वर्णन करते हैं।

ज्ञानावरणीय-मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्य्यय और केवल इस प्रकार ज्ञान के ५ भेद किये गये हैं इसही प्रकार इनके ढकने वाले कर्म के ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय-दर्शन के चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसही प्रकार चार भेद इनके आवरण अर्थात् ढकने वाले कर्म के हैं, इसके अतिरिक्त निद्रा भी दर्शन को नहीं होने देती है गहरी नींद और हलकी नींद की अपेक्षा निद्रा के निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ऐसे ५ भेद करके दर्शनावरण के ९ भेद होते हैं।

मोहनीय—दर्शनमोहनीय का बन्ध तो मिथ्यात्वरूप एकही प्रकार होता है परन्तु उदय में आकर उसके तीन भेद हो जाते हैं जिसका वर्णन आगामी रत्नत्रय के वर्णन में किया जावेगा। चारित्रमोहनी के कषाय वेदनीय, और नो कषाय वेदनीय ऐसे दो भेद हैं जिनमें कषाय वेदनीय के मूल भेद क्रोध, मान, माया, लोभ, और प्रत्येक चार चार भेद अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन हैं, अनन्तानुबन्धी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धा न हो सके, अप्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धान तो होसके परन्तु श्रावक का वा मुनि का अर्थात् किसी

प्रकार का भी चारित्र न हो सके। प्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके उदय होते हुए गृहस्थी श्रावक का चारित्र तो हो सके परन्तु मुनि धर्म ग्रहण न हो सके, संज्वलन वह सूक्ष्म कषाय है जिसके होते हुए मुनि धर्म हो सके परन्तु यथाख्यात चारित्र न पल सके, इस प्रकार कषाय वेदनीय के १६ भेद हुए और अनोकषायवेदनीय के हास्यादिनो कषाय रूप ९ भेद इस प्रकार चारित्र मोहनी के कुल २५ भेद हैं।

आयु—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस प्रकार आयु के ४ भेद हैं।

वेदनीय—साता और असाता के भेद से वेदनीय दो प्रकार है। जिसके उदय से सुख रूप सामिग्री की प्राप्ति हो वह साता वेदनी है और जिसके उदय से दुःख दायक सामिग्री की प्राप्ति हो वह असाता वेदनी है।

गोत्र—उच्च और नीच ऐसे गोत्र दो प्रकार हैं।

अन्तराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य अर्थात् शक्ति इन पांचों में विघ्न करे सो पांच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

नाम—जिसके उदय से शरीर की आकृति उन का रंग, गंध, रस, स्पर्श और हड्डियों का जोड़ आदिक होता है, नाम कर्म के ९३ भेद किये गये हैं।

नामकर्म के ९३ भेद।

गति—जिसके उदय से आत्मा एक भव से दूसरे भव में गमन करती है। गति कर्म ४ प्रकार है नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य।

जाति—जीव की जाति अर्थात् क़िसम ५ प्रकार है, एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, और पंचेंद्रिय, जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय जाति हो वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म है इसी प्रकार पांचों जानना।

शरीर-जिसके उदय से संसारी जीवों के शरीर की रचना हो, वह शरीर नाम कर्म पांच प्रकार का है वृक्षादिक, स्थावर, पशु, पक्षी और मनुष्य का शरीर अर्थात् स्थूल देह औदारिक है, देव नारकियों का शरीर वैक्रियिक है अर्थात् विक्रिया कर सक्ता है, अनेक प्रकार रूप धारण कर सक्ता है—प्रमत्त गुणस्थानी मुनि महाराज को शंका उत्पन्न होने पर उनकी आत्मा शरीर से बाहर फैल कर जहां श्री केवली वा श्रुत केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में ही संकुचित हो जाती हैं उस समय मुनि के जो शरीर प्रगट होता है उसको आहारक शरीर कहते हैं-शरीर में जिस से तेज होता है वह तैजस शरीर है—ऋद्धि धारक मुनि को क्रोध वा दया उत्पन्न होने पर किसी को नष्ट करने वा उपकार करने में जो समर्थ होता है वह भी तैजस शरीर है—कर्म के पुद्गल परमाणुओं का नाम कार्माण शरीर है, कार्माण और तैजस यह दो शरीर संसारी जीव के सदा बने रहते हैं जब तक कि मुक्ति नहीं होती है—

अङ्गोपाङ्ग-मस्तक, पीठ, हृदय, बाहु, उदर, नलक, हाथ, पांव इन को अंग कहते हैं और ललाट नासिका आदिक उपांग हैं—अंगोपांग नाम कर्म तीन प्रकार है-औदारिक शरीर अंगोपांग—वैक्रियक शरी-

रांगोपांग-आहारिक शरीरांगोपांग, जिसके उदय से अंग उपांगों का भेद प्रकट होता है वह अंगोपांग नाम कर्म कहलाता है।

निर्माण—जिस कर्म के उदय से अंगोपांग की उत्पत्ति हो वह निर्माण कर्म है-यह दो प्रकार है एक स्थान निर्माण और दूसरा प्रमाण निर्माण, अंगोपांग का योग्य स्थान में निर्माण होना स्थान निर्माण है और अंगोपांग की योग्य प्रमाण लिये रचना करे सो प्रमाण निर्माण है।

वन्धन—जिस के उदय से शरीर नाम कर्म के वश से ग्रहण किये हुये पुद्गल परमाणुओं का शरीर रूप बन्धन होता है वह वन्धन नाम कर्म पांच प्रकार है। औदारिक बन्धन, वैक्रियक वन्धन, आहारक वन्धन, तैजस वन्धन, और कर्माण वन्धन।

संघात—जिस के उदय से शरीरों में छिद्र रहित एक दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश रूप संघटन (एकता) होवै उसे संघात नाम कर्म कहते हैं वह भी पांच प्रकार है। औदारिक संघात, वैक्रियक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात और कार्मांण संघात।

संस्थान—शरीर की आकृति का होना। छै प्रकार है। (१) सम चतुरस्र संस्थान अर्थात् ऊपर नीचे और मध्य में समान विभाग से शरीर की आकृति का उत्पन्न होना। (२) न्यग्रोध परिमण्डल अर्थात् वट वृक्ष के समान शरीर का नाभि के नीचे का भाग पतला होना और ऊपर का मोटा होना। (३) स्वाति संस्थान अर्थात् शरीर का नीचे का भाग मोटा होना और ऊपर का पतला (४) कुब्ज संस्थान अर्थात् कूब निकला हुवा कुबड़ा शरीर (५) बामन संस्थान अर्थात् छोटा शरीर जिसको बावना कहते हैं (६) हुंडक अर्थात् बिल्कुल बेडौल शरीर।

संहनन—अर्थात् शरीर की हड्डियों का जोड़। संहनन नाम हाड़ों के समूह का है। नसों से हाड़ों के वेष्टित होने का नाम ऋषभ वा वृषभ है। कीलों के द्वारा हाड़ों के जुड़ने का नाम नाराच है। संहनन ६ प्रकार है (१) बज्रबृषभ नाराच संहनन अर्थात् हाड, कील, नस सब बज्र के समान मजबूत हों। (२) बज्र नाराच संहनन अर्थात् हाड और कील बज्र के समान हों और नस सामान्य हों (३) नाराच संहनन अर्थात् हाडों की संधि कीलों से जुड़ी हुई हों परन्तु बज्र के समान कोई नहो सब सामान्य हों (४) अर्ध नाराच संहनन अर्थात् हाड़ों की संधि आधी कीलों से जुड़ी हो (५) कीलक संहनन अर्थात् नाराच न हो कलि ठुकी हुई नहीं हाड ही आपुस में कीले हुवे हों। (६) असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन अर्थात् हाड आपुस में ठुके हुये नहीं बरण दो हाड मिलाकर उन पर नस और मांस आदिक लिपटा हुवा हो।

स्पर्श—अर्थात् शरीर में स्पर्श गुण का होना। और वह ८ प्रकार है। कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और उष्ण।

रस—अर्थात् शरीर में रस का होना और वह ५ प्रकार है। तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर

गन्ध—अर्थात् शरीर में गन्ध का होना वह २ प्रकार है। सुगन्ध और दुर्गंध।

वर्ण—शरीर में रङ्ग का होना। ५ प्रकार है। शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त, और पीत।

आनुपूर्व्य—पूर्व आयु के उच्छेद होने पर जब जीव शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है तब जीव छूटने वाले शरीर में मौजूद रह कर बाहर फैलता है और उस स्थान तक पहुंचता है जहां उसको नवीन शरीर धारण करना है। वहां पहुंच कर प्रथम शरीर को छोड़ देता है और सुकड़ कर दूसरे शरीर में समाजाता है। इस प्रकार दूसरे शरीर को ग्रहण करने और प्रथम शरीर के छोड़ने की क्रिया को विग्रह गति कहते हैं। इस गति में तैजस और कार्माण दो शरीर रहते हैं। जब तक जीव नवीन शरीर में नहीं

समाजाता है तब तक तैजस और कार्माण शरीरों का आकार वैसाही रहता है जैसा पूर्व शरीर का था। उस आकार के रहने का कारण आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जब जीव नवीन शरीर में समा जाता है तब तैजस और कार्माण शरीरों का आकार नवीन शरीर के अनुसार हो जाता है। आनुपूर्व्य के चार भेद हैं। (१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् नरक गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (२) देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य-अर्थात् देवगति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (३) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् मनुष्य गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (४) तिर्यंगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् तिर्यंच गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना।

अगुरुलघु-जिसके उदय से शरीर न तो ऐसा भारी हो जो नीचे गिरजावे और न ऐसा हलका हो जो आक की रूई की तरह उडजावै।

उपघात—शरीर के अवयवों का ऐसा होना कि आपही अपने को बांध लेवै आपही अपना घात करले।

परघात—सींग, नख और विष आदिक पर को घात करने वाली वस्तु शरीर में होना।

आताप—ऐसा शरीर का होना जिस में आग के समान गर्मी हो।

उद्योत—ऐसे शरीर का होना जिस में उद्योत अर्थात् रोशनी हो।

उच्छ्वास—सांस लेना।

विहायोगति—ऐसा शरीर होना जो आकाश में गमन कर सके वह दो प्रकार का है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

प्रत्येक—एक जीव के वास्ते ही एक शरीर का होना।

साधारण-बहुत जीवों का एक ही शरीर होना, अनन्ते निगोदिया जीवों का एक ही शरीर होता है उन सब का जन्म मरण और सांस लेना आदिक सब किया इकट्ठी ही होती है यह निगोदिया जीव वनस्पति कायही होते हैं।

त्रस—आत्मा का द्वीन्द्रियादिक रूप उत्पन्न होना।

स्थावर—आत्मा का पृथ्वी आदि एकेंद्री रूप उत्पन्न होना।

सुभग—ऐसा शरीर जिस को देख कर देखने वाले को प्रीति उत्पन्न हो।

दुर्भग—ऐसा शरीर जिस को देख कर अप्रीति उपजै।

सुस्वर—जिस के उदय से शब्द सुन्दर होवै।

दुःस्वर—जिस के उदय से अमनोज्ञ स्वर की प्राप्ति हो।

शुभ—शरीर के अवयव देखने में सुन्दर हों।

अशुभ—शरीर के अवयव देखने में असुन्दर हों।

सूक्ष्म—ऐसा बारीक शरीर हो कि वह किसी वस्तु से न रुके लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिक के भी बीच में हो कर निकल जावे।

बादर—जो सूक्ष्म नहो अर्थात् स्थूल शरीर हो और रुके।

पर्याप्ति—आहार आदिक जो पर्याप्ति कहाती हैं उनका प्राप्त होना। वह ६ प्रकार है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

अपर्याप्ति जिस के उदय से जीव छहों पर्याप्ति में से एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सके उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

स्थिर—उपवास और तपश्चरण तथा कष्ट आदिक के आने पर भी शरीर में स्थिरता का बना रहना और शरीर के धातु उपधातु का अपने २ स्थान में स्थिर रहना।

अस्थिर—किंचित कारण पाकर शरीर के धातु उपधातु की स्थिरता का बिगड़ जाना।

आदेय—प्रभा सहित शरीर का होना।

अनादेय—शरीर का प्रभा रहित होना।

यशःकीर्ति—यश और कीर्ति का होना।

अयशःकीर्ति—अपयश और अकीर्ति का होना अर्थात् पाप रूप गुणों की ख्याति का होना।

तीर्थङ्करत्व—तीर्थंकर पदवी अर्थात् अरहंतपना का प्राप्त होना।

इस प्रकार ९३ प्रकृति नाम कर्म की हैं।

मन, बचन और काय यह तीन प्रकार के योग हैं इनही के अनुसार प्रकृति और प्रदेश बन्ध है—योगों की चंचलता जैसी कमती बढ़ती होती है वैसाही कमती बढ़ती प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। योग के द्वारा एक समय में कर्म के जितने परमाणु उत्पन्न होते हैं वह आठों प्रकार के कर्मों में बँट जाते हैं। अधिक भाग बेदनी में उससे कम मोहनी में उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय में उससे कम नाम और गोत्र में जाता है। बेदनी, गोत्र और आयु इनकी उत्तर प्रकृतियों में एकही एक प्रकृति का एक समय में बन्ध होता है अर्थात बेदनी में साता, असाता में से एक का गोत्र में उच्च वा नीच एक का। आयु की चार प्रकृति में से एक का। मोहनी कर्म में जो नो कषाय हैं उन में तीन बेद में से एक बेदका, रति अरति में से एक का और हास्य और शोक में से एक का बन्ध होता है। मोहनी कर्मकी बाकी सर्व प्रकृति और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय की सर्व प्रकृतियों का बन्ध एकही समय में होता है। नाम कर्म में जो जो प्रकृति एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं उन में से एकही प्रकार की प्रकृति का बन्ध होता है। इस प्रकार जिन २ प्रकृतियों का एक समय में बन्ध होसक्ता है उन सब में एक समय में आये कर्म परमाणु तक़सीम होजाते हैं। परन्तु जिस अवस्था में वा जिस गुणस्थान में जिस २ प्रकृति का बन्ध होही नहीं सक्ता है उस उस अवस्था में जो जो प्रकृति बन्ध योग्य नहीं हैं उन में कर्म पुद्गल का बटवारा भी नहीं होता है।

एक समय में जो बस्तु मनुष्य खाता है उसके परमाणुओं से हड्डी, नस, खून, मांस, चाम, वीर्य, कफ़, पसीना, पेशाब और पाखाना आदिक बनता है अर्थात प्रत्येक खाई हुई बस्तु के परमाणु हड्डी, मांस आदिक रूप बँटजाते हैं और फिर सिरकी हड्डी,

परकी हड्डी, हाथकी हड्डी आदिक विभागों में और आंख, नाक, हृदय, पेट आदिक अवयवों में बँटते हैं इसही प्रकार प्रत्येक समय में योगों के द्वारा उत्पन्न हुए कर्म परमाणुओं का बटवारा होता है।

स्थितिबन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उस में से किसी वस्तु का असर हमारे शरीर में अधिक समय तक रहता है और किसी का बहुत थोड़े समयतक। यहही दशा कर्मोंकी है कि कोई कर्म अधिक समयतक रहता है और कोई थोड़े समयतक इसही को स्थिति बन्ध कहते हैं। स्थिति बन्ध कषाय के अनुसार है। कषाय जैसी हलकी भारी होगी वैसी कर्म की स्थिति होगी। कषाय हल्की अर्थात मन्द है तो कर्मकी स्थिति भी कमती होगी और कषाय तेज अर्थात तीव्र है तो स्थिति भी ज्यादा होगी।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन यह चार भेद जो कषाय के किये गये हैं वह कषाय की तीव्र वा मन्द अपेक्षा से नहीं हैं वह तो सम्यक्त वा चारित्र ग्रहण करने की अपेक्षा से हैं। तीव्र मन्द की अपेक्षा कषायों के हज़ारों और लाखों दर्जे होसक्ते हैं परन्तु मोटे रूप चार दर्जे हैं। अति तीव्र, तीव्र, मन्द और अति मन्द।

अनुभाग बन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उन में से कोई वस्तु ऐसी होती है जो पेट में वा शरीर के किसी दूसरे अंग में पीड़ा करदे परन्तु कोई वस्तु कम पीड़ा देनेवाली होती है और कोई अधिक पीड़ा देनेवाली होती है इसही प्रकार कोई वस्तु पीड़ाको दूर करनेवाली और हर्ष पैदा करानेवाली होती है परन्तु इस में भी कोई कमती हर्ष उत्पन्न करानेवाली होती है और कोई ज्यादा। इसही प्रकार किसी समय कर्म अधिक फल देनेकी शक्ति वाला और किसी समय कम फल देनेकी शक्ति वाला पैदा होता है। इसही को अनुभाग बन्ध कहते हैं। वह परिणाम जिससे कर्म उत्पन्न हो जितना संक्लेश रूप अधिक होगा उतनाही अशुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और शुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा और परिणाम जितना विशुद्ध रूप अधिक होगा उतनाही शुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और अशुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा।

कर्मों का अलटना पलटना।

हमने एक वस्तु ऐसी खाई जो हमारे शरीर में पीड़ा कररही है दूसरी कोई वस्तु ऐसी भी होसक्ती है जो पीड़ाको दूर करनेवाली और आप सुखदाई हो और पहली

खाई हुई वस्तु जो पीड़ा कररही है उसको भी पचाकर और पलटकर सुखदाई बनादेवै। वा कोई वस्तु सुखदाई हमने खाई उसके पीछे ऐसी वस्तु खाई जासक्ती है जो पहली खाई हुई वस्तु को भी दुखदाई बना दे और आप भी दुखदाई हो।

इसही प्रकार यह भी देखने में आता है कि जिसको बलगम (कफ) की बीमारी अधिक होजावे वह जो कुछ खाता है उसका बलगम ही बनता रहता है-यह ही दशा कर्मों की है कि नवीन कर्म के प्रभाव से पहले बन्ध हुवे कर्मों में अलट पलट हो जाती है और इसही प्रकार पहले कर्मों के प्रभाव से नवीन कर्मों पर असर पड़ता है

इस कथन को समझाने के वास्ते हम कर्म बन्धन के दस रूप वर्णन करते हैं— बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीणा, उपशांत, निद्धत, निकांचना और सत्व—अब इनका पृथक २ सरूप दिखाते हैं—

बन्ध—साधारण कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं का जीव के साथ मिलजाना।

उत्कर्षण—किसी कर्म का जो स्थिति और अनुभाग पहले था नवीन कर्म के मिलने से उस स्थिति अनुभाग में अधिकता होजाना।

अपकर्षण—जो स्थिति अनुभाग पहले था उसमें कमी होजाना।

संक्रमण—एक प्रकृति के कुछ परमाणुओं का दूसरी प्रकृतिरूप होजाना जैसे असाता वेदनी कर्म का साता वेदनीरूप होजाना। परन्तु आठ कर्मों में से एक प्रकार का कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सक्ता है। प्रत्येक कर्म के जो अनेक भेद हैं उन एक एक कर्म के भेदों में आपुस मेंही संक्रमण होता है। जैसे ज्ञानावरणी कर्म के पांच भेद हैं उन पांचों भेदों में संक्रमण अर्थात् अलटन पलटन हो जावैगा जैसा कि मति ज्ञाना वरणी कर्म के कुछ परमाणु अवधि ज्ञानावरणी रूप होजावैं परन्तु मोहनी वा और कोई कर्म रूप नहीं हो सक्ते हैं। यहां तक कि मोहनी कर्म के जो दो भेद दर्शनमोहनी और चारित्रमोहनी हैं इनका भी आपुस में संक्रमण नहीं होता है। चारित्रमोहनी के जो २५ भेद हैं उनही का आपस में संक्रमण होसक्ता है वह पलटकर दर्शन मोहनी नहीं बनसक्के। परन्तु आयु कर्म का अपने भेदों अर्थात चारों उत्तर प्रकृतियों में भी संक्रमरण नहीं है।

उदय—कर्म बंध के पश्चात् जब तक कि वह कर्म फल नहीं दे सक्ता है उसको आवाधा काल कहते हैं-आवाधाकाल के पश्चात् कर्म की स्थिति तक जितने समय होते हैं उतने ही बिभाग कर्म परमाणुओं के होकर एक भाग को निषेक कहते हैं-एक एक निषेक एक एक समय में उदय आता रहता है अर्थात् फल देकर नष्ट होता रहता है।

उदीर्णा—जो निषेक अभी तक उदय में आने योग्य नहीं हुआ है उसको पहलेही उदय में ले आना अर्थात् उदय आने वाले निषेक में मिला देना-भावार्थ कर्म को जल्दी उदय लाकर खिरा देना।

उपशांत—वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले नहीं हुवे हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

निद्धत—वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले या संक्रमण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है

निकाचित—वह निषेक जो अभी उदय आने वाले या संक्रमण होने वाले या उत्कर्षण या अपकर्षण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

सत्व—कर्मों का विद्यमान रहना।

इसके अतिरिक्त कर्म की एक प्रकृति बिल्कुल भी दूसरी प्रकृति में बदल सक्ती है उसको विसंयोजन कहते हैं—परन्तु यह पलटना मूल प्रकृतियों में नहीं हो सक्ता है अर्थात् ज्ञानावरण आदिक आठ कर्मों में से कोई कर्म बदल कर दूसरा कर्म नहीं हो सक्ता हैं बरण एक एक कर्म के जो कई कई भेद हैं उन में से एक भेद पलट कर बिल्कुल दूसरे भेद रूप हो सक्ता है।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

अर्थ—आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्य आस्रव को रोकने में कारण है वह द्रव्य संवर है—

भावार्थ—कर्मों को पैदा न होने देना अर्थात् रोकना सम्बर कहाता है—जिन परिणामों से कर्म का पैदा होना बन्द होता है वह आत्मा के परिणाम भाव सम्बर कहाते हैं और उसही के रुकने से पुद्गल परमाणु कर्म रूप नहीं होते हैं उसको द्रव्य संवर कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र यह सब भावसंवर के भेद जानने चाहियें।

भावार्थ—अपनी शुद्ध आत्मा के ही भाव में मग्न रहना रागद्वेषादि विकल्पों से रहित होना ही कर्मों के न पैदा होने का कारण है-ऐसी शुद्ध अवस्था पैदा होने के कारण व्रत समिति आदिक हैं-अब इन कारणों की पृथक, व्याख्या की जाती है।

व्रत— निश्चय से रागद्वेषादिक विकल्पों से रहित होने का नाम व्रत है-और इस अवस्था को प्राप्त करने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म और अपरिग्रह यह पांच व्यवहार रूप कारण हैं यह ही पांच व्रत कहाते हैं - कषाय से अपने वा पर जीव के भाव प्राण वा द्रव्यप्राण को पीड़ा न देना अहिंसा व्रत है। कषाय से अपने को वा पर को हानि कारक अप्रशस्त बचन न बोलना सत्यव्रत है- कषाय से बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है - पुरुष वा स्त्री से मैथुन का न करना ब्रह्म व्रत है, अपनी निज आत्मा से पर पदार्थों में ममत्व का न होना अपरिग्रह है।

समिति—अपने शरीर से अन्य जीवों को पीडा न होने की इच्छा से यत्नाचार रूप प्रवृति करना समिति है। कर्मों के पैदा होने को रोकने को पूरी पूरी कोशिश त्यागी मुनिही कर सकते हैं उनका सावधानी से क्रिया करना भी कर्मों के पैदा होने को रोकने में सहकारी कारण है इसी को समिति कहते हैं वह सावधानी पांच प्रकार है ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग, दिन में ही चलना रात्रि को न चलना, ऐसे रास्ते पर चलना जिस पर मनुष्य और पशु आदिक चलते रहे हों आहिस्ता २ आगे को देखते हुवे चलना, चलते समय इधर उधर न देखना, अर्थात् ऐसी सावधानी से चलना जिस से किसी जीव की हिंसा न हो इसका नाम ईर्या समिति है। हितकारी प्रमाणीक संदेह रहित प्रिय बचन कहना भाषा समिति है - दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है-शास्त्र, पीछी और कमंडल आदिक जो कुछ मुनि के पास होता है उसको नेत्रों से देखकर और पीछी से सोधकर इस प्रकार धरना उठाना कि किसी जीव को बाधा न हो आदान निक्षेपण समिति है। मल मूत्र इस प्रकार सावधानी से डालना जिसमें जीव को बाधा न हो उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति—मन, बचन और काय के व्यापार को बश करना काबू में लाना व रोकना गुप्ति है।

धर्म-उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम समय, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म कहाता है। क्रोध कषाय के कारण परिणामों में कलुषिता न होने देना क्षमा है। मान अर्थात् मद न करना मार्दव है। माया अर्थात् छल कपट का न करना आर्जव है; यथार्थ बचन कहना सत्य है। लोभ गृद्धिता अर्थात् लालच को दूर कर अन्तः

करण को पवित्र रखना शौच है । इन्द्रिय निरोध और जीवों की रक्षा करना संयम है कर्म क्षय करने के अर्थ इच्छा के निरोध करने को तप कहते हैं । इस हेतु जिन कारणों से इच्छा का निरोध होता है वह तप है वह तप दो प्रकार का है बाह्य और अन्तरंग, बाह्यतप ६ प्रकार है अनशन, ऊनोदर, विविक्तश्य्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश और वृत्तिपरि संख्या ॥ आहार त्याग का नाम अनशन है। भूख से कमती आहार करना अवमोदर्य्य वा ऊनोदर है । विषयी जीवों के सञ्चार रहित निरुपद्रव स्थान में सोना बैठना विविक्तश्य्यासन है । दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, लवन इन छै प्रकार के रसों का त्याग करना रस परित्याग है। शरीर को परीषह देकर पीड़ा का सहन करना कायक्लेश है । और अमुक प्रकार से अमुक आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा भोजन नहीं करूंगा इस प्रकार प्रवृत्ति की मर्य्यादा करना वृत्ति परिसंख्या है ।

अतरंग तप भी छे प्रकार है - विनय, वैय्यावृत्य प्रायश्चित, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान-आदर भाव को बिनय कहते हैं बिनय दो प्रकार है मुख्य विनय और उपचार विनय-सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को अपने कल्यान का हेतु समझ कर धारण करना मुख्य बिनय है और इनके धारण करने वाले श्रीवीतराग भगवान और श्रीआचार्य आदिकों को नमस्कार आदि करना और इनकी भक्ति के बश परोक्ष रूप में भी उनके तीर्थ क्षेत्र आदिकों की बन्दना करना उपचार बिनय है । धर्मात्माओं की सेवा चाकरी करना वैय्यावृत्य है । प्रमाद से यदि कोई दोष हो जावे तो दंड ग्रहण करके दोष निवारण करना प्रायश्चित है । धन धान्यादिक वाह्य और क्रोधमान माया आदिक अन्तरंग परिग्रहों में अहंकार ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है । सत्य शास्त्रों का पढ़ना, अभ्यास करना, पढ़ाना, उपदेश देना, सुनना और सुनाना स्वाध्याय है । समस्त चिन्ताओं को त्याग कर एक ओर लगना ध्यान है ध्यान का बिस्तार रूप बर्णन आगामी किया जावेगा ।

दया भाव करके पर जीव को ज्ञान और आहार आदि देना त्याग है परिग्रह का अभाव और शरीर आदिक में ममत्व का न होना आकिंचन्य है । अपनी शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहना और पुरुष वा स्त्री भोग का त्याग करना ब्रह्मचर्य्य है ।

अनुप्रेक्षा—बार बार बिचार करने को अनुप्रेक्षा वा भावना कहते हैं कल्यानकारी भावना बारह प्रकार की हैं जिनसे संम्बर होता है । अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संबर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म—

अध्रुव को अनित्य भावना भी कहते हैं । धन, धान्य, महल, मकान, स्त्री, पुत्र, शरीर, पदवी, अधिकार आदिक जगत की सर्व बस्तु विनाशीक हैं, सदा स्थिर रहने

वाली कोई वस्तु नहीं है। अपने २ स्वभावानुसार सर्व वस्तु अपनी पर्य्याय पलटती हैं और कुछ से कुछ हो जाती हैं। ऐसा बिचार करना अध्रुव भावना है।

अशरण—जगत में कोई शरण नहीं है कर्मों के फल से कोई बचाने वाला नहीं है। राजा, महाराजा, भाई, बन्धु, मन्त्र, औषधि आदिक कोई भी वस्तु बचाने वाली नहीं है जिसकी शरण ली जावै।

संसार—संसार का अर्थ संसरण अर्थात् चक्र की तरह घूमना है यह जीव ८४ लाख योनि में घूमता फिरता है कभी कोई पर्य्याय धारण करता है और कभी कोई इस प्रकार तेली के बैल की तरह घूमताही रहता है। नहीं मालूम एक २ पर्य्याय कितनी२ बार धारण की हो और यदि मुक्ति न हुई तो कितनी २ बार धारण करेगा। यह संसार भावना है।

एकत्व—स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, महल, मकान, धन, धान्य, आदिक जगत की सब वस्तु यहां तक कि जीवका शरीर भी पर पदार्थ है कोई भी वस्तु सदा साथ रहने वाली नहीं है। जिस प्रकार रस्ता चलते एक मुसाफिर को दूसरे मुसाफिर से साथ हो जाता है इसही प्रकार जगत की बस्तुओं का साथ है और जिस प्रकार रास्ते में मिले हुए मुसाफिर बिछड़ २ कर अपने अपने स्थान को चले जाते हैं इसही प्रकार जगत की सर्व बस्त बिछड़ २ कर अपने २ स्वभावानुसार अपने २ रस्ते लगती हैं। यह जीव वास्तव में अकेलाही है। मरण समय सब वस्तु यहीं रह जाती हैं कोई भी साथ नहीं जाती। जीव के कर्म जो साथ जाते हैं वह भी अपना फल देकर अलग होते रहते हैं। जीव का साथी कोई भी वस्तु नहीं है। जीव अकेलाही है यह एकत्त्व भावना है।

अन्यत्व—जीव चैतन्य है इस हेतु सर्व अचेतन पदार्थ तो इससे पराये हैं ही परन्तु जीव एक दूसरे से भी अन्यही है। आपुस में एक नहीं हैं। अपनी २ परिणति के अनुसार प्रवर्तते हैं। इस हेतु किसी से भी ममत्व नहीं करना चाहिये। यह अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व-यह शरीर अत्यन्त अशुचि और घिणावना है। मांस, रुधिर, हाड़, चाम, आदिक अपवित्र बस्तुओं का ही बना हुआ है। इस हेतु शरीर ममत्व के योग्य नहीं है। यह अशुचित्व भावना है।

आस्रव—आस्रव अर्थात् कर्मों के पैदा होने से यह जीव संसार में रुलता है इस हेतु जिन २ कारणों से आस्रव होता है उनका बिचार करके उनसे बचने काही उपाय करना चाहिये यह बिचार आस्रव भावना है।

सम्बर—सम्बर अर्थात् कर्मों के पैदा होने को रोकने सेही यह जीव संसार समुद्र

से तिर सका है इस हेतु संवर के कारणों को विचार करके उन कारणों को ग्रहण करना चाहिये यह विचार संवर भावना है।

निर्जरा—कर्मों का कुछ दूर होना निर्जरा है। निर्जरा के कारणों को जानकर जिस तिस प्रकार बंधे हुए कर्मों को दूर करना चाहिये ऐसा निर्जरा संबन्धी विचार करना निर्जरा भावना है।

लोक-लोक के तीन भेद हैं अधोलोक, मध्यलोक, और उर्ध्वलोक यहही तीन लोक कहाते हैं। अधोलोक में नरक है। नरक की सात पृथिवी हैं रत्नप्रभा, उसके नीचे शर्कराप्रभा उसके नीचे बालुका प्रभा उसके नीचे पंकप्रभा उसके नीचे धूमप्रभा उसके नीचे तमःप्रभा और सर्व से नीचे महातमःप्रभा है। नरक के नीचे स्थान में निगोद आदि पंच स्थावर जीव भरे हुवे हैं। रत्नप्रभा के तीन भाग हैं। खर, पंक और अब्बहुल, खर भाग में सात प्रकार के व्यन्तर, पंकभाग में असुर और राक्षस रहते हैं और अब्बहुल भाग से नरक प्रारम्भ होता है इस भाग में नारकी रहते हैं।

मध्यलोक में मनुष्यों तिर्यंचों के रहने की पृथिवी और सूर्य्य चन्द्रमा नक्षत्र आदिक हैं।

ऊर्ध्वलोक में एक युगल (जोड़ा) के ऊपर दूसरा इस प्रकार १६ स्वर्ग हैं सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, इन १६ स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक हैं इनके भी ऊपर नवा अनुदिश पटल है। इसके भी ऊपर पञ्चानुत्तर पटल हैं। इन में भी देव रहते हैं। इनके ऊपर मोक्ष शिला है। इस प्रकार तीन लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना कि लोक कितना बड़ा है उसमें क्या क्या स्थान हैं और किस २ स्थान में क्या २ रचना है और वहां क्या होता है सो लोक भावना है।

इस लोक भावना से संसार परिभ्रमण की दशा मालूम होती है और इससे छूटने और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

बोधि दुर्लभ एकेंद्रियादिक बहुत से जीवों को तो ज्ञान नाम मात्र ही होता है पंचेंद्री भी बहुत से जीव पशु आदिक कुछ आत्म शुद्धि नहीं कर सक्ते हैं। देव और नारकी चारित्र नहीं पाल सक्ते और मुक्ति नहीं पा सक्ते एक मनुष्य देह से ही मुक्ति होती है। और सम्यक् दर्शनादि पल सकते हैं सो यह मनुष्य देह बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है इस को पाकर भी धर्म का उपदेश और धर्म पालने का समागम मिलना दुर्लभ है ऐसी दशा में अपने कल्यान का अवसर यदि किसी प्रकार मिल गया है तो उसको

अहोभाग्य जान कर प्रमाद करना और आत्म साधन न करना अति मूर्खता है। इस प्रकार रत्न त्रय की प्राप्ति दुर्लभ होने के विचार को बोध दुर्लभ भावना कहते हैं।

धर्म—धर्म के स्वरूप का चिन्तवन करना तथा धर्म ही संसार से तिराने वाला है यह ही शिवपुर में पहुंचाने को रेलगाड़ी है संसारीक सुख भी इसही से मिलता है। दुखों से निवृत्ति भी धर्म से ही होती है ऐसा विचार करना धर्म भावना है।

परीषहजय—मुनिमहाराज २२ प्रकार की परीषह अर्थात् पीड़ा को रागद्वेष और कलुषता रहित सहन करते हैं इसको परीषहजय कहते हैं यह भी संवर का कारण है वह १२ परीषह इस प्रकार हैं ॥ क्षुधा अर्थात् भूख, तृषा अर्थात् प्यास, शीत अर्थात् जाड़ा, उष्ण अर्थात् गर्मी, नग्न अर्थात् नंगा रहना, याचना अर्थात् किसी से कुछ न मांगना, अरति अर्थात् संयम में अनुराग का अभावन होने देना, अलाभ अर्थात् भोजन के अर्थ जाने में भोजन न मिलना, दंश मसकादि अर्थात् बन में नग्न रहने पर डांस मच्छर मक्खी कानखजूरा और सर्पादि से पीड़ा पहुंचना, आक्रोश अर्थात् दुर्मन मनुष्यों के दुर्वचन सहना, रोग अर्थात् शरीर में बीमारी का होना, मल अर्थात् शरीर पर मैल लग जाना और उसको दूर न करना, तृण स्पर्श अर्थात् कांटा कंकर और फांस आदिक का चुभना, अज्ञान अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान न होने का खेद न करना, अदर्शन अर्थात् बहुत काल तपश्चरण करने पर भी कुछ फल प्राप्ति न होने से सम्यग्दर्शन को दूषित न करना, प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने पर मान न करना सत्कार पुरस्कार अर्थात् आदर सत्कार न चाहना और सत्कार पाने पर हर्षित न होना और तिरस्कार पाने पर दुखित न होना, शय्या अर्थात् खुरदरी पथरीली भूमि पर शयन करने को दुःखं न मानना, वध बंधन अर्थात् दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध बंधनादि दुःख पाने पर समता रखना, निषद्या अर्थात् निर्जन बन में जहां सिंह आदि दुष्ट जीव रहते हैं निवास करने का दुःख न मानना, स्त्री अर्थात् महा सुन्दर स्त्री को देख कर भी चित्त में विकार न होना।

चारित्र—आत्मस्वरूप में स्थित होना चारित्र है उसके पांच भेद हैं। (१) सब जीवों में समता भाव रखना संपूर्ण शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों का त्यागरूप समाधि धारण करना तथा रागद्वेष का त्याग करना और सुख दुःख में मध्यस्थ रहना यह समायिक चारित्र है। (२) सामायिक में स्थित रहने को असमर्थ होने पर अर्थात् डिगजाने पर फिर अपने को अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में लगाना वा व्रत आदिक में भंग पड़ने पर प्रायश्चित आदिक से फिर सावधान होना छेदोपस्थापन चारित्र है (३) रागद्वेषादिक विकल्प को त्यागकर अधिकता के साथ अतिशुद्धि करना परिहार

विशुद्धि चारित्र है (४) अपनी आत्मा को कषाय से रहित करते करते सूक्ष्मलोभ कषाय नाममात्र को रहजावै उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं उसके भी दूर करने की कोशिश करना सूक्ष्मसांपराय चारित्र है । (५) कषाय रहित जैसा निष्कंप आत्मा का शुद्धस्वभाव है वैसा होकर उस में मग्न होना यथाख्यात चारित्र है । चारित्र के अनेक भेदों का वर्ण आगामी बिस्तार से किया जावैगा । इस प्रकार संवर के अनेक कारण वर्णन कियेगये ।

जह्कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलंजेण ।
भावेणसडदिणेया तस्सडणे चेदिनिज्जरादुविहा ॥३६

अर्थ—आत्मा के जिस परिणामरूप भाव से कर्म्म रूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह भाव निर्जरा है और समय पाकर वा तप से कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना द्रव्य निर्जरा है ।

भावार्थ—किसी कर्म के नष्ट होने का नाम निर्जरा है । जब किसी कर्म का फल हो चुकता है तो वह कर्म दूर होजाता है इस प्रकार फल देकर अपने समय पर कर्म का दूर होना सविपाक निर्जरा है और तप करके समय से पहले ही किसी कर्म को नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है ।

तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है ।

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयोस भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥३७॥

अर्थ—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का शुद्ध परिमाण है वह भाव मोक्ष है और आत्मा से सर्वथा कर्मों का जो दूर होना है वह द्रव्य मोक्ष है ।

भावार्थ—सर्व कर्म नष्ट होकर जीवात्मा के शुद्ध होने का नाम मोक्ष है । एक बार कर्मों से रहित होकर और निज शुद्ध परमानन्द स्वरूप पाकर फिर यह जीव कभी भी कर्मों के बन्ध में नहीं पड़ता है । क्योंकि योग कषाय आदिक कोई भी कारण कर्म आस्रव का शेष नहीं रहता है । जीव का कर्म बंध अनादि सान्त है अर्थात् अनादि से तो यह जीव कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है परन्तु यह बंधन दूर हो कर इसको मुक्ति हो जाती है अर्थात् कर्म बन्धन का अन्त हो जाता है । मुक्ति सादि अनन्त है अर्थात्

मुक्ति की आदि है परन्तु इसका अन्त नहीं है सदा ही के वास्ते रहती है। परन्तु यद्यपि जीव अनादि से बन्धन में पड़ा हुवा है और किसी समय मुक्ति प्राप्त करता है तोभी बन्धन में पड़ना शुद्ध निश्चय नय से जीव का निज स्वभाव नहीं है। जीव का निज स्वभाव तो शुद्ध और मुक्त ही है इस हेतु जीव को नित्य मुक्त भी कहते हैं।

जीव निराकार है और कर्म पुद्गल हैं अर्थात् मूर्तीक हैं इस हेतु इन का सम्बन्ध होना कठिन है परन्तु अनादि काल से ऐसा सिलसिला चला आता है कि कर्मों के साथ नवीन कर्म मिलते रहते हैं इस प्रकार कर्मों से कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और उन ही में से कर्म नष्ट भी होते रहते हैं अर्थात् निर्जरा भी होती रहती है। जब एक वार सब कर्म दूर हो जाते हैं तब फिर किसी कारण से भी जीव के साथ कर्म बन्ध नहीं हो सक्ता है।

कोई २ वस्तु अनन्त भी होती है अर्थात् जिनकी न कुछ गिणती हो सके और न कुछ सीमा हो। जिसमें से कितनी ही वस्तु निकलती रहैं तौभी अनन्त ही बाक़ी रहैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं उनका कोई अन्त नहीं है क्योंकि तीन लोक के बाहर भी आकाश है और बाहर के आकाश की कोई सीमा नहीं है। आकाश की जो कुछ सीमा बांधी जावै उस सीमा के बाहर भी आकाश अवश्य है। आकाश का कोई अन्त नहीं है। इस ही प्रकार जीवों की गिणती भी अनन्त है इनका भी कोई अन्त नहीं है। इस हेतु चाहे जितने जीव मोक्ष में जाते रहें तो भी संसार में अनन्त जीव बाकी रहते हैं संसार में कभी जीव ख़तम नहीं हो सक्ते हैं, जीव तीन लोक के ही भीतर हैं तीन लोक से बाहर नहीं हैं, तीन लोक की हद्द है बेहद्द नहीं, परन्तु जीव में अवगाहन शक्ति है अर्थात् जिस स्थान में एक जीव हो उसही स्थान में अनेक जीव समा सक्ते हैं इस हेतु तीन लोक में अनन्त जीव समाये हुवे हैं, पुद्गल में भी अवगाहन शक्ति है अर्थात् एक पुद्गल दूसरे पुद्गल में समा सक्ता है जैसे लोहे में अग्नि समा जाती है, जिस स्थान में एक दीपक का प्रकाश है उसही स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश समा सक्ता है, इस ही हेतु पुद्गल के परिमाणु भी अनन्त हैं, अनन्त जीवों की अनन्त देह हैं और अनन्त जीव और उनकी अनन्त देह अवगाहन शक्ति से तीन लोक ही में समाई हुई हैं।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलुजीवा।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावंच ॥३८॥

अर्थ-शुभ और अशुभ परिणामों में युक्त जीव पुन्य और पाप रूप होते

हैं॥ साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्चगोत्र इस प्रकार जो कर्मों की प्रकृतियें हैं वे तो पुन्य प्रकृति हैं और बाकी सब पाप प्रकृतियें हैं।

भावार्थ-शुभ परिणामों से पुन्य होता है और अशुभ परिणामों से पाप होता है, कर्मों के दो भेद हैं एक घातिया जो जीव के गुणों का घात करते हैं, और दूसरे अघातिया जो गुणों को घात नहीं करते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शणावरणी मोहनी और अन्तराय यह चारों कर्म घातिया हैं इस हेतु यह तो पाप कर्म ही हैं, बाकी चार कर्मों में वेदनी कर्म में सातावेदनी पुन्य कर्म है और असातावेदनी पाप कर्म है, आयु कर्म में देव आयु मनुष्य आयु औरतिर्यंच आयु यह तीन पुन्य कर्म हैं और नरक आयु पाप कर्म है, नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में ५३ प्रकृति पुन्य रूप हैं।

शुभराग, अनुकम्पा और चित्त प्रसाद इन कारणों से पुन्य कर्म पैदा होता है। धर्म और धर्मात्माओं से राग करना शुभ राग है। दया भाव करके किसी जीव के दुःख दूर करने की कोशिश करना अनुकम्पा है। कषायों की मंदता से चित्त में क्षोभ उत्पन्न न होना शांति का होना अर्थात् प्रसन्न रहना चित्त प्रसाद है।

इसके विरुद्ध अन्य प्रकार की क्रियाओं से पाप कर्म पैदा होता है॥ ज्ञाना वरणी आदि प्रत्येक कर्म के उत्पन्न होने के कारण साधारण रूप से इस प्रकार हैं।

प्रदोष-अर्थात् ज्ञानी पुरुष ज्ञान का व्याख्यान करता हो उस पर ईर्षा करके उसकी प्रशंसा न करना चुप हो जाना, निह्नव अर्थात् किसी बात का ज्ञान रखते हुवे भी किसी के पूछने पर न बताना इनकार कर देना कि मैं नहीं जानता, मात्सर्य अर्थात् इस विचार से कि जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो मेरी बराबरी करेगा किसी को ज्ञान का न बताना, अन्तराय अर्थात् कोई ज्ञान का अभ्यास करता हो उसमें विघ्न कर देना पुस्तक, पाठक पाठशाला आदिक की प्राप्ति में विघ्न डालना, जिस कार्य से ज्ञान का प्रचार होता हो उस कार्य को बिगाड़ना विरोधकरना-आसादन अर्थात् कोई पुरुष ज्ञान का उपदेश करे वा प्रकाश करे उसको किसी बहाने से रोक देना-उपघात अर्थात् सत्य ज्ञान में दूषण लगाना द्वेष करना, यह सब कार्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के पैदा होने के कारण हैं।

१ अपने वा पराये परिणाम पीडा रूप करना अर्थात् दुःख पैदा करना २शोक करना वा दूसरे को शोक उपजाना ३ सोच करना पश्चाताप करना वा दूसरे को कराना ४ विलाप करना आंसू बहाना वा दूसरे को रुलाना जिसको आक्रंदन कहते हैं ५ अपने को वा पर को मारना शरीरको पीड़ा पहुंचाना वा कोई अंग छेद करना जिसको बध कहते हैं ६ इतना जोर से विलाप करना वा कराना कि जिससे

सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावै जिसको परिदेवन कहते हैं यह सब असातावेदनी कर्म के पैदा होने के कारण है।

व्रती धर्मात्मा वा सर्व प्रकार के जीव अर्थात् प्राणीमात्र के दुःख दूर करने रूप परिणामों का होना जिसको भूतव्रत्यनुकम्पा कहते हैं, पर के तथा अपने उपकारार्थ दान देना, सराग संयम अर्थात् राग सहित संयम करना भावार्थ धर्म और धर्मात्मा से प्रीति और दुष्ट कर्मों के नष्ट करने में राग होना चित्त में शांति रखना क्रोधादि कलुषता पैदा न करना लोभ का कम करना इन सब कार्यों से सातावेदनी कर्म की उत्पत्ति होती है।

केवल ज्ञानी, शास्त्र, मुनि सच्चे धर्म और देवों को दूषण लगाना दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्या श्रद्धान को पैदा करनेवाले हैं।

तीव्र कषाय रूप परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् कषाय करने से अगामी को चारित्र मोहनी कर्म का आस्रव होता है।

बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकआयुकर्म के आस्रव का कारण है। माया अर्थात् छल कपट करना कुटिल परिणाम रखना तिर्यंच आयुकर्म पैदा होने का कारण है।

थोड़ा आरम्भ करना थोड़ा परिग्रह रखना और स्वभाव सेही कोमल परिणाम का होना मनुष्यआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप और सम्यक् श्रद्धान यह सब देवआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं। धर्म और धर्मात्मा में प्रीति और भक्ति को सरागसंयम कहते हैं। अनुव्रत अर्थात् श्रावगव्रत धारण करने को संयमासंयम कहते हैं। किसी पराधीन कारण से अर्थात् लाचारी से बेबस होकर भूख प्यास आदिक पीड़ा सहनी पड़े या मारने ताड़ने आदिक के त्रास भोगने पड़ें वा अन्य प्रकार कोई कष्ट उठाना पड़े तो उस दुख को मन्द कषाय रूप होकर सहन करै इसको अकाम निर्जरा कहते हैं। आत्मज्ञान रहित अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था में तप करने को बाल तप कहते हैं।

मन, बचन और काय की बक्रता अर्थात् कुटिलता से हिलना और अन्यथा (उलटा) रूप प्रवर्तना इससे अशुभ नाम कर्म पैदा होते हैं।

मन, बचन और काय का सरल और सीधा होना और यथार्थ प्रवर्तना शुभ नाम कर्म पैदा करता है।

पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना पर के विद्यमान गुणों को छिपाना और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करना नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।

अपनी निन्दा पर की प्रशंसा अपने गुणों को छिपाना पर के गुणों को प्रकाश करना नीचा रहना अर्थात् दूसरों का विनय करना और अनुत्सक अर्थात् अपने गुणों का घमंड नहीं करना उच्चगोत्र कर्म पैदा होने का कारण है।

पर के दान भोगादि कर्मों में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

नामकर्म की प्रकृतियों में एक तीर्थंकर प्रकृति है जो १६ प्रकार की भावनाओं से पैदा होती है। वह भावना इस प्रकार है। (१) दर्शन विशुद्धि अर्थात् निर्मल सम्यक् श्रद्धान (२) विनय संपन्नता अर्थात् देव गुरु और शास्त्र की विनय (३) शीलव्रतष्वेन-तीचार अर्थात् व्रत में निरतिचार प्रवृति (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अर्थात् निरन्तर तत्वाभ्यास रखना (५) संवेग अर्थात् संसार के दुःखों से भयभीत रहना (६) शक्तितः त्याग अर्थात् शक्ति को नहीं छिपाकर दान करना (७) शक्तितः तप अर्थात् अपनी सामर्थ्य भर तप करना (८) साधु समाधिः अर्थात् मुनियों के विघ्न और कष्ट को दूर करके उनके संयम की रक्षा करना (९) वैयावृत्यकरण अर्थात् रोगी साधु की सेवा (१०) अर्हद्भक्ति अर्थात् श्रीअरहंत की भक्ति (११) आचार्य भक्ति अर्थात् श्रीआचार्य की भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति अर्थात् शास्त्र के अधिक जाननेवाले श्रीउपाध्याय की भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति अर्थात् शास्त्र के गुणों में अनुराग (१४) आवश्यका परि-हाणिः अर्थात् सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओं में हानि न करना (१५) मार्ग प्रभावना अर्थात् जैनधर्म का प्रभाव बढाना (१६) प्रवचनवत्सलत्व अर्थात् साधर्मी जनों के साथ गऊ बच्चे की समान प्रीति का होना।

॥ इति द्वितीयोऽधिकारः ॥

तृतीय अधिकार।

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे। ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है वह ही मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—सच्चा श्रद्धान सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण यह तीनों बात इकट्ठी होने से मोक्ष की सिद्धि होती है। और वास्तव में यह तीनों गुण आत्मा के हैं इस लिये निश्चय से आत्माही को मोक्ष का कारण जानो यह तीनों कारण तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहाते हैं।

रयणत्तयंन वट्टइ अप्पाणमुइत्तु अण्णादिविअह्मि।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥४०॥

अर्थ—आत्मा के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है इस कारण रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वह ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह आत्माही में होते हैं पुद्गल, धर्म अधर्म, अकाश और काल इन पांच द्रव्यों में से किसी द्रव्य में भी दर्शन, ज्ञान चारित्र नहीं होसक्ता क्योंकि यह पांचों द्रव्य अजीव हैं अचेतन हैं जड़ हैं। इस हेतु जीवात्माही वास्तव में मोक्ष का कारण है वह ही रत्नत्रय का धारक है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणोतं तु।
दुरभिणिवेश विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि॥४१॥

अर्थ—जीव आदि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—जानना अर्थात् ज्ञान और निश्चय करना रुचि करना यक़ीन करना अर्थात् श्रद्धान यह दो प्रथक २ बातें हैं। ज्ञान और बात है और श्रद्धान और, फ़ारसी वाले ज्ञान को इल्म और श्रद्धान को यक़ीन कहते हैं। अङ्गरेज़ी में ज्ञान को नालिज Knowledge और श्रद्धान को बिलीफ़ belief कहते हैं।

धर्म कथन अर्थात् मोक्ष मार्ग में अपनी आत्मा को शुद्ध निरञ्जन मानना और निज आत्मा से भिन्न शरीर आदिक सब पदार्थों को भिन्न समझना और संसारीक अवस्था को कर्मों के बस क़ैदख़ाना समझ कर इस से छुटकारा पाना आवश्यक समझना अर्थात् इन सब बातों की श्रद्धा मन में होना सच्चा श्रद्धान अर्थात् सम्यक्दर्शन है।

वस्तु को ज्यों का त्यों जानना सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञान में तीन प्रकार के दोष नहीं होते हैं वह ही सच्चा ज्ञान होता है (१) संशय अर्थात् दुभिदा रूप ज्ञान

कि यह है वा वह है इस प्रकार है वा उस प्रकार है । जैसे आकाश में चमकती हुई बस्तु को देखकर संशय करना कि क्या तो यह तारा है वा काग़ज़ का बुर्ज है जिस में अग्नि जलती हुई होती है और अग्नि के जोर से आकाश में चढ़ जाता है (२) विपर्य्य अर्थात् उल्टी बात जानना जैसे कोई औषधि कोई रोग उत्पन्न करने वाली हो और उसको उसही रोग के दूर करने वाली जानना (३) अनध्यवसाय वा विभ्रम अर्थात् यह मालूम ही न होना कि क्या बस्तु है। संशय में तो किसी बस्तु की बाबत दो चार ही प्रकार का ख़याल होता है कि यह है वा यह है परन्तु विभ्रम में कुछ पता ठिकाना ही नहीं होता है। जैसे रस्ते चलते हुवे मनुष्य के पैर से धरती में पड़ी हुई अनेक बस्तु स्पर्श करती हैं परन्तु केवल इतनाही ज्ञान होता है कि कोई बस्तु पैरों से लगती जाती है उसमें संशय भी प्राप्त नहीं होता कि अमुक है वा अमुक और न कुछ विपर्य ही होता है ।

इस प्रकार तीन दोष ज्ञान में नहीं होते हैं तो ज्ञान ठीक होता है ।

सम्यक् दर्शनवाले काही ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहाता है । बिना सम्यक्त के ज्ञान मिथ्या है ।

जिस बस्तु का श्रद्धान होगा उसका ज्ञान अवश्य होगा अर्थात् ज्ञान और श्रद्धान दोनों एक साथ ही होते हैं ऐसा होही नहीं सकता है कि किसी बस्तु का श्रद्धान हो और ज्ञान न हो क्योंकि जब उस बस्तु की जानकारी ही नहीं है तो उसका श्रद्धान ही क्या होगा परन्तु ऐसा होसक्ता है कि ज्ञान हो और श्रद्धान न हो।

धर्म मार्ग के कथन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यद्यपि इन तत्त्वों का श्रद्धान शास्त्र के पढ़ने वा उपदेशों के सुनने सेही बहुधा कर हो सक्ता है परन्तु यह श्रद्धान बिना लिखे पढ़े तुच्छ बुद्धि जीवों को भी हो सक्ता है क्योंकि सम्यक् दर्शन के वास्ते यह जरूरी नहीं है कि सातों तत्वों के नाम और उनके भेदों को जाने, परन्तु इन तत्वों के अभिप्राय में प्रतीत का हो जानाही सम्यक् दर्शन है। मन्द बुद्धि मनुष्य भी यह प्रतीत कर सक्ता है कि मैं अर्थात् मेरा जीव शरीर आदिक से भिन्न है और ज्ञान शक्तिवाला है, और क्रोध आदिक कषाय इसके उपाधिक और दुखदाई भाव हैं, इन उपाधिक भावों को दूर करने सेही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है । यह सम्यक् दर्शन मन्द बुद्धी मनुष्यों को तो क्या बरण पशु पक्षियों को भी प्राप्त हो सक्ता है क्योंकि मोटे रूप उपरोक्त बातों के आशय की प्रतीत उनको भी हो सक्ती है ।

सम्यक्दर्शन के न होने का नाम मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व भी मोह ही का अंश है । मोहनी कर्म के दो भेद हैं एक दर्शन मोहनी अर्थात् सम्यक्दर्शन का नष्ट करने वाली और दूसरी चारित्र मोहनी अर्थात् मोक्ष साधन रूप चारित्र को बिगाड़ने वाली । दर्शन मोहनी कर्म का बंध एकही रूप होता है जिसको मिथ्यात्व कहते हैं परन्तु उदय इसका तीन रूप से होता है । एक मिथ्यात्वरूप दूसरे मिथ्यात्व और सम्यक् मिले हुवे मिश्ररूप इस ही के उदय में मिश्र नाम वाला तीसरा गुण स्थान होता है । तीसरे सम्यक्त रूप जिसको सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कहते हैं इस में यद्यपि सम्यक्त होता है परन्तु मिथ्यात्व की झलक होने के कारण मल सहित होता है इसको वेदक सम्यक्त कहते हैं और क्षायोप समिक सम्यक्त भी कहते हैं इस सम्यक्त में तीन प्रकार के दोष होते हैं चल, मल और अगाढ़ । जिसके सम्यक् भाव में तरंग उठती हैं उसको चल कहते हैं दृष्टान्त रूप उसको यह विचार होता है कि यह मन्दिर मेरा है यह दूसरे का है इस प्रकार उसका श्रद्धान अनेक प्रकार चलायमान होता है परन्तु आत्मीक श्रद्धान में बाधा नहीं आता है इस कारण सम्यक्त बनाही रहता है । इस सम्यक्ती में शंकादिक दोष भी उत्पन्न होते हैं जो २१ प्रकार के हैं जिनको मल कहते हैं इनका वर्णन आगे किया जावैगा । और यह सम्यक्त गाढ़ा अर्थात् दृढ़ भी नहीं होता है इस कारण इसमें अगाढ़ दोष होता है अर्थात् इसको ऐसी २ प्रतीति होती है कि अमुक भगवान् की पूजा करने से अमुक कष्ट दूर होता है और अमुक भगवान् का नाम लेने से अमुक कार्य सिद्ध होता है इत्यादिक अदृढ़ता अर्थात् ग़ैर मज़बूती उसके श्रद्धान में होती है । ऐसा सम्यक्ती सातवें अप्रमत्त गुण स्थान तक पहुंच सक्ता है अर्थात् मुनि तक होसक्ता है ।

सम्यक्त के भेद ।

बीमारी के दूर होने की तीन अवस्था होती है एक बीमारी का प्रगट रूप हट जाना परन्तु बीमारी के कारणों का शरीर में मौजूद रहना जैसे बुख़ार उतर गया है परन्तु बुख़ार का कारण नहीं हटा इस कारण बुखार फिर चढ़ैगा इसको उपशम कहते हैं ।

दूसरे बीमारी का कुछ कम हो जाना और उसके कारण का कुछ नष्ट हो जाना कुछ मौजूद रहना इसको क्षयोपशम कहते हैं । तीसरे बीमारी के कारण का बिल्कुल दूर होजाना इसको क्षय कहते हैं । इसही प्रकार मिथ्यात्व भी एक बीमारी है जिस का दूर होना अर्थात् सम्यक्दर्शन तीन प्रकार का है । क्षायोपशम सम्यक्त का तो ऊपर वर्णन हो ही चुका है । मिथ्यात्व का उपशम होकर सम्यक्त होना उपशम सम्यक्त है और मिथ्यात्व के क्षय होने से सम्यक्त का होना क्षायक सम्यक्त कहाता है ।

उपसम सम्यक्त से न मुक्ति होसक्ती है और न इस सम्यक्त से क्षायक सम्यक्त होता है। उपशम सम्यक्त तो मिथ्यात्व के दबने से हुवा है जिस में मिथ्यात्व मौजूद ज़रूर है इस कारण वह मिथ्यात्व उभर कर अवश्य उपसम सम्यक्त को विगाड़ता है।

उपशमसम्यक्त के दो भेद हैं। मिथ्यात्व अवस्था से जो उपशमसम्यक्त होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त कहते हैं और वह अन्तर मुहूर्त रहता है। अन्तर मुहूर्त के पीछे या तो मिथ्यात्वी हो जावेगा या क्षायोपशमिक अर्थात् वेदक सम्यक्त हो जावेगा, सातवें गुणस्थानी महामुनि जिसके क्षायोपशमिक सम्यक्त हो उसको यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त से औपशमिक सम्यक्त होजावै तो उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त कहते हैं और ऐसा सम्यक्ती ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सक्ता है परन्तु आगे उन्नति नहीं कर सक्ता है वह अवश्य नीचेही गिरता है।

क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने पर फिर नहीं छूटता है और अधिक से अधिक चार भव धारण करके मोक्ष करलेता है। इसमें प्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त होकर फिर क्षायक सम्यक्त होता है। परन्तु क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने का प्रारम्भ श्रीकेवली भगवान वा श्रुत केवली के निकट ही हो सक्ता है अन्यथा नहीं, यह नियम प्रारम्भ करने काही है क्षायक सम्यक्त की प्राप्ती चाहें अन्य भव में हो और तब केवली भगवान मिलें वा न मिलें।

सम्यक्त के ८ अङ्ग

चारों प्रकार का सम्यक्त निम्न लिखित आठ अङ्गों के होने से अधिक कार्य कारी और शोभायमान हो जाता है परन्तु सम्यक्दर्शन बिना इन अङ्गों के भी हो सक्ता है। वह ८ अङ्ग इस प्रकार हैं।

(१) **निःशङ्कित**—तत्वार्थ में अर्थात् उन सिद्धान्तों और पदार्थों में जिन में श्रद्धान होने से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है किसी प्रकार की शङ्का न करना, संदेह न करना कि वह सिद्धान्त वा पदार्थ सत्य है वा झूठ। परन्तु समझने के अर्थ विचार करना, तर्क उठाना और अधिक विद्वान से पूछना शङ्का नहीं है।

(२) **निःकांक्षित**—अपने पुन्यरूप कर्मों से अर्थात् धर्म साधन से संसारिक फल प्राप्ति की बांच्छा नहीं करना।

(३) **निर्विचिकित्सा**—अर्थात् किसी जीव को दुखी, दरिद्री, अपवित्र, कुचेष्टावान आदिक अवस्था में देख कर ग्लानि न करना और यह ही समझना कि यह सब नीच कर्मही नाच रहे हैं और संसार की अपवित्र और घिणावनी वस्तुओं को

देख कर घृणा न करना और यह ही विचार करना कि इन बस्तुओं का ऐसाही स्वरूप है और यह तेरा शरीर तो सब से ही अधिक अपवित्र है।

(४) **अमूढ़दृष्टित्व**—अर्थात् बे सांचे समझे बिना परीक्षा किये अन्धे की तरह लोगों के देखा देखी अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्रवृत्ति हो रही है उस प्रचार के अनुसार कु देव, कु गुरू कु शास्त्र, और कु धर्म को मानना, उनकी प्रशंसा आदि करना मूढ़ता है। सम्यक्ती को उचित है कि वह मूढ़ता को छोड़ कर लोक प्रचार के अनुसार न प्रवर्ते। बिचार और परीक्षा के साथही धर्म की बातों को माने।

(५) **उपगूहन**— सम्यक्दृष्टि को धर्म से प्रीति होती है इस कारण यदि किसी धर्मात्मा में अज्ञानता वा अशक्तता के कारण कोई दोष उत्पन्न होजावे और उसके दोष के कारण सत्य धर्म को निन्दा होती हो तो उस निन्दा को सम्यक्दृष्टि छिपाता है इसके अतिरिक्त सम्यक्दृष्टि किसी के दोष प्रगट करना पसन्द नहीं करता है बरण उसके दोषों को छिपा कर दोषी पुरुष में से दोष दूर करने की इच्छा करता है। और अपने शुद्ध स्वभावों की वृद्धि करने की भी कोशिश करता रहता है।

(६) **स्थितिकरण**—अपने परिणाम धर्म से भ्रष्ट होते होंतो आपको और जो दूसरे किसी मनुष्य के परिणाम भ्रष्ट होते हों तो उस मनुष्य को जिस प्रकार होसके धर्म में स्थित करना।

(७) **वात्सल्य**—साधर्मी जनों के साथ ऐसी प्रीति रखना जैसे गौ और उसके बच्चे में होती है।

(८) **प्रभावना**—सत्य धर्म के महात्म्य का प्रकाश करना। ऐसे कार्य करना जिस से संसार के सब जीवों पर धर्मका प्रभाव पड़े।

यह उपरोक्त आठ अंग सम्यक्दर्शन के हैं। इन अंगो के बिना सम्यक्दर्शन पूरण कार्यकारी नहीं होता है।

सम्यक्दर्शन के २५ मल।

सम्यदर्शन सम्बन्धी २५ प्रकार के मल अर्थात् मैल होते हैं यदि यह मैल न हों तो सम्यक्दर्शन विशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है और यदि मल हों तो मल सहित होता है। यह नहीं है कि २५ प्रकार के मल दूर होने पर ही सम्यक्दर्शन होसकै। सम्यक्दर्शन मल सहित भी होता है परन्तु उतना कार्य कारी नहीं होता है जितना मल रहित होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर चौधवें गुणस्थान तक सम्यक्दर्शन ही होता है। परन्तु किस किस गुणस्थान में सम्यक्दर्शन की कैसी कैसी विशुद्धता होती

है यह बात महान ग्रन्थों से ही मालूम होसक्ती है। यहां तो समुच्चयरूप कथन किया जाता है।

२५ मल इस प्रकार हैं ३ मूढ़ता ८ दोष ८ मद और ६ अनायतन।

मूढ़ता—बिना बिचार लोक प्रवृत्ति के अनुसार रागी द्वेषी देवों को देवमान कर पूजना और उनसे अपने संसारीक कार्य की सिद्धि मानना देव मूढ़ता है। लोक में जिस प्रकार धर्म की प्रवृत्ति होरही है उस प्रकार बिना बिचारे धर्म मानना जैसे गङ्गा स्नान करने से मुक्ति, ब्राह्मणों को भोजन खिलाने से मृतक पूर्वजों को सुख होना इत्यादिक अनेक मिथ्या प्रवृत्तियों के अनुसार प्रवृर्तना लोक मूढ़ता है। मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्या दृष्टि साधु और मिथ्या धर्म का सेवन, पूजन, बिनय आदिक भय, बांछा और स्नेह आदिक से करना। धर्म मूढ़ता है—भावार्थ यह है कि बिना बिचारे आंख मींच कर लोक प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी बात को मानना वा उस रूप प्रवर्तना मूढ़ता है। सम्यक्‌दृष्टि को लोक प्रवृत्ति का कुछ भी आश्रय न लेना चाहिये सब काम बिचार पूर्वकही करने चाहियें।

दोष—सम्यक्‌दर्शन के आठ अंग निशांकित आदिक जो ऊपर बर्णन किये गये हैं उनका न होना आठ प्रकार के दोष हैं।

मद—मान कषाय से उत्पन्न अहंकार के कारण घमंड (ग़रूर) करने को मद कहते हैं। मद आठ बातों का होता है। १ बिज्ञान अर्थात् किसी कला वा हुनर जानने का मद २ ऐश्वर्य अर्थात् धन दौलत वा किसी संसारीक पदवी का मद ३ ज्ञान अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वा अवधिज्ञान आदिक प्राप्तिका मद ४ तप का मद, ५ कुल का मद कि मेरा उच्च कुल है ६ जाति का मद कि मैं उत्तम जातिकाहूं ७ शरीर के बल कामद ८ रूप का मद कि मैं सुन्दर रूपवान हूं। सम्यक्‌दृष्टि को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिये।

अनायतन—धर्म के आश्रय को आयतन कहते हैं। खोटे आश्रय को अनायतन कहते हैं। वह छ हैं। मिथ्या देव, मिथ्या देवों के सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रों के धारक। इन सब अनायतन को त्यागना उचित है।

इस प्रकार सम्यक्‌दर्शन के २५ मल बर्णन किये गये।

७ प्रकार का भय।

सम्यक्‌दर्शन के आठ अङ्गों में निशाङ्कित अङ्ग का लक्षण सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन

करने पर भयका त्याग भी इस अङ्ग में गर्भित होता है । क्योंकि जिस का तत्वों में पूर्ण श्रद्धान है और संसारिक सर्व प्रकार के दुःख सुख को कर्मों के उदय से जानता है और संसारीक सुख दुःख को अपने से पर समझता है तो उसको भयही किस बात का होवे । उसको भय तो तभी प्राप्त होसक्ता है जब उसके श्रद्धान में शङ्का दोष उत्पन्न हो । भय ७ प्रकार का है । इस लोक सम्बन्धी किसी बात का भय, परलोक अर्थात् अगले जन्म सम्बन्धी किसी बात का भय, मरण भय, वेदना भय, अनरक्षा भय, अर्थात् इस बात का भय कि मेरा कोई रक्षक नहीं है, व्याधि भय, अकस्मात् भय अर्थात् इस बात का भय कि नहीं मालूम किसी समय अचानक क्या हो जावे ।

सम्यक्त्व के ५ अतीचार ।

श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थ सूत्र में सम्यक् दर्शन के पांच अतीचार वर्णन किये हैं। दोष लगने को अतीचार कहते हैं अर्थात् अतीचार सहित जो सम्यक् दर्शन होता है वह सम्यक् दर्शन तो है परन्तु निर्मल निर्दोष नहीं होता । वह अतीचार इस प्रकार हैं १ शङ्का, २ कांक्षा ३, विचिकित्सा ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा अर्थात् मिथ्या दृष्टि के ज्ञान चारित्र की प्रशंसा करना अच्छा समझना । ५ अन्य दृष्टि संस्तव अर्थात् मिथ्या दृष्टि के गुणों का प्रकाश करना गुणानुबाद गाना ।

श्रुत केवली भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह अवगाढ़ कहलाता है, गाढा अर्थात् दृढ़ श्रद्धान को अवगाढ़ कहते हैं और तेरवें गुणस्थानी श्री सर्वज्ञ भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह परमावगाढ़ अर्थात् परम दृढ़ श्रद्धान कहाता है ।

चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि का लक्षण यह है कि उसमें चार बात प्रगट हों प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

प्रशम—अर्थात् कषायों की मन्दता ।

संवेग—कर्मों से भयभीतता ।

अनुकम्पा—जीवों पर दया ।

आस्तिक्य—अर्थात् जीवात्मा को अनादि अनन्त और देह से पृथक मानना ।

संसयविमोह विब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

अर्थ—संशय, विमोह और विभ्रम रूप कुज्ञान से रहित आपा पर का अर्थात् आत्मा का और पर पदार्थ का स्वरूप जानना सम्यक् ज्ञान है वह आकार सहित अर्थात् सविकल्प है और उसके अनेक भेद हैं—

भावार्थ—संशय अर्थात् नहीं मालूम ऐसे है वा वैसे है, विमोह जिसको अन-ध्यवसाय भी कहते हैं, जैसे गमन करते हुए मनुष्य के पैर में किसी घास आदि का स्पर्श हो जावे और उस को यह मालूम नहीं होता है कि क्या लगा वा जैसे दिशा का भूल जाना होता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा के धारक जो द्रव्यार्थिक और पर्याया-र्थिकनय है उन के अनुसार द्रव्य गुण पर्याय का जो नहीं जानना है उसको विमोह कहते हैं। बिभ्रम अर्थात् विपरीत जानना एकान्त पक्ष से जानना इन तीनों बिधि जानने को ज्ञान नहीं कहते हैं ठीक २ जानने को ही ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान यदि सम्यक् दर्शन सहित हो तो सम्यक् ज्ञान कहाता है।

सम्यक् ज्ञान के अनेक भेद हैं —

प्रमाण

सम्यक् ज्ञान जीव को पांच रीति से होता है मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्य्यय और केवल इन में अवधि मनः पर्य्यय और केवल ज्ञान **प्रत्यक्ष** प्रमाण हैं अर्थात् पदार्थ को स्पष्ट रूप से जानते हैं और मति, श्रुतिज्ञान प्रमाण तो हैं परन्तु साक्षात नहीं हैं दूसरे के सहारे से अस्पष्ट रूप जानते हैं इस कारण **परोक्ष प्रमाण** हैं। परन्तु व्यवहार में जो इन्द्रियों और मन के द्वारा ज्ञान होता है उस को प्रत्यक्ष कहते हैं इसलिये इन का नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। यथार्थ जानने को **प्रमाण** कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रीति से यथार्थ ज्ञान हो सक्ता है। परोक्ष ज्ञान ५ प्रकार से होता है स्मृति, प्रतिभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन ५ को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति-अर्थात् पहली जानी हुई बात को याद करना।

प्रत्यभिज्ञान-अर्थात् किसी वस्तु को देख कर यह बिचार करना कि यह पहली देखी हुई बस्तु है या उसके समान है या वैसी नहीं है इत्यादिक जोड रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

तर्क-अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान-दो वस्तुओं के एक साथ रहने के सम्बन्ध को वा आगे पीछे होने के सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूआं अग्नि से ही उत्पन्न होना है बिना अग्नि धूआं नहीं हो सक्ता। जैसे सूरज का धूप में प्रकाश और आताप एक साथ रहते हैं। जैसे वर्षाऋतु के पीछे सरद ऋतु और सरद ऋतु से पहले बर्षा ऋतु होता है, दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन होता है। इत्यादिक।

अनुमान-व्याप्ति के सहारे से एक वस्तु को देख कर दूसरी वस्तु को जान लेना अर्थात् हेतु से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, जैसे धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करना, पुत्र को देख कर उस के पिता माता का अनुमान करना। जिस वस्तु

को वादीप्रति वादी के सिद्ध करने की अभिलाषा है उस को साध्य कहते हैं । साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति हो अर्थात् जिस जानी हुई वस्तु के सहारे से साध्य का अनुमान किया जा सक्ता है उसको हेतु कहते हैं। हेतु के द्वारा साध्य के ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। धूम अग्नि से ही पैदा होता है इस कारण धूम को देख कर अग्नि का अनुमान होता है । इस में अग्नि साध्य है और धूम हेतु है ।

आगम—आप्त वचन को आगम कहते हैं और आगम के द्वारा जो ज्ञान होय उसको आगम प्रमाण कहते हैं । सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक यह गुण जिस में हों वह आप्त हैं और उनके वचन प्रमाण होते हैं । ऐसे गुण वाले आप्त श्री तीर्थंकर भगवान् ही होते हैं जिनकी वाणी से जैन धर्म की प्रवृत्ति है ।

नय

वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता लेकर वस्तु को जानना नय है । अथवा वक्ताने अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस धर्म की अपेक्षा से शब्द कहा है उसके उसही अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को "नय" कहते हैं ।

नय के मूल भेद दो हैं । (१) पदार्थ जैसा है उसको वैसाही कहना निश्चयनय है इसको भूतार्थ नय कहते हैं (२) एक पदार्थ को पर वस्तु के निमित्त से व्यवहार साधन के अर्थ अन्यथा रूप कहना व्यवहार नय है इसको अभूतार्थ नय भी कहते हैं और इसका नाम उपनय भी है ।

निश्चयनय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक। प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष गुण हुवा करते हैं । सामान्य वह गुण होते हैं जो अन्य वस्तु में भी हों और विशेष वह गुण होते हैं जो उसही वस्तु में हों, वस्तु के विशेष गुण को गौण करके सामान्य गुण की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण करना **द्रव्यार्थिकनय** है और सामान्य गुण को गौण करके विशेष गुण की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करना **पर्य्यायार्थिकनय** है।

द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार ।

नैगम—एक वस्तु में अनेक पर्याय अर्थात् अवस्था होती हैं और पर्याय पलटती रहती है । कोई पर्य्याय हो चुकी है कोई पर्य्याय अब है और कोई होने वाली है । अतीत अर्थात् जो कार्य पहले हो चुका उसमें वर्त्तमान कालका आरोपण करना भूत नैगम है । जैसे दीवाली के दिन यह कहना कि आज के दिन श्री महावीरस्वामी निर्वान को प्राप्त हुए, होने वाले कार्य का अतीत की तरह कथन करना भावी नैगम है जैसे

अर्हंतों को सिद्ध कहना और जहां कार्य का प्रारम्भ कर दिया गया हो परन्तु बिलकुल तैयार न हुआ हो उसको तय्यार हुआ कहना वर्त्तमान नैगम है जैसे कोई मनुष्य चूल्हे में आग जलाता हो अभी आटा भी नहीं गूंदा है परन्तु जो कोई पूछे कि क्या करते हो तो उसको यह कहना कि रोटी बनाता हूं। यह सब कथन नैगमनय के द्वारा सार्थिक हैं मिथ्या नहीं हैं।

संग्रह—संसार में अन्तानन्त वस्तु हैं सब को पृथक २ जानना और बर्णन करना बहुत कठिन है इस हेतु अनेक वस्तुओं की एक जाति नियत करली जाती है। जैसे काला, गोरा, लाल, बड़ा, छोटा, तेज़ चलने वाला, हलका चलने वाला, आदिक अनेक प्रकार के घोड़े होते हैं परन्तु उन सब की एक जाति "घोड़ा" नियत करली गई इस ही प्रकार अनेक प्रकार की गऊ की एक जाति, "गऊ" अनेक प्रकार के कुत्तों की एक जाति "कुत्ता" अनेक प्रकार के मनुष्यों की एक जाति "मनुष्य" अनेक प्रकार के वृक्षों की एक जाति "वृक्ष" अनेक प्रकार के मकानों की एक जाति "मकान" अनेक प्रकार के कपड़ों की एक जाति "कपड़ा" अनेक प्रकार के बर्तनों की एक जाति "बर्तन" नियत की गई। इसी प्रकार जब हम घोड़े वा गऊ वा मनुष्य, वा कुत्ते वा वृक्ष वा मकान वा कपड़े वा बर्तन का बर्णन करते हैं और उनके भेद करके किसी विशेष वस्तु का बर्णन नहीं करते हैं तो हमारा बर्णन संग्रह नय के अनुसार है। क्योंकि जब हम साधारण रूप मनुष्य मात्र का बर्णन करते हैं तो उसमें सबही प्रकार के मनुष्य आगये अर्थात् सब प्रकार के मनुष्यों का संग्रह करके बर्णन करते हैं।

मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, वृक्ष, गऊ आदिक अनेक जातियों को संग्रह करके एक जीव जाति होती है और मकान, कपड़ा, बर्तन, घड़ा, पुस्तक आदिक अनेक जातियों को संग्रह कर के एक पुद्गल जाति होती है इस कारण जब हम जीव मात्र को वा पुद्गल मात्र को बर्णन करते हैं तब संग्रह नय को और भी अधिक काम में लाते हैं। फिर जीव, पुद्गल आदिक जाति को संग्रह कर के जगत की सर्व वस्तुओं को एक द्रव्य नाम कर कथन करते हैं और समुच्चय रूप द्रव्य को बर्णन कर के संग्रह नय को सब से ही अधिक काम में लाते हैं।

व्यवहार—संग्रह नय से ग्रहण किये हुए विषय को जो भेद रूप करती है उस को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के दो भेद जीव और अजीव कर के किसी एक भेद का कथन करना, जीव के चार भेद मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी कर के किसी एक का कथन करना, तिर्यंचों के भेद घोड़ा, बैल, कीड़ी, मकोड़ी वृक्ष आदिक करना—वृक्षों के भेद आम, नीबू, अनार, नारंगी, आलू, मूली आदिक करना—आम के भेद

मालदा, देसी–बम्बई आदिक करना–देसी आम के भेद संदूरया, मीठा, खट्टा आदिक करना इस ही प्रकार भेदाभेद करते जाना यह सब व्यवहार नय है।

पर्य्यायार्थिक नय के चार भेद हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

ऋजुसूत्र–प्रत्येक वस्तु की पर्य्याय समय २ पलटती रहती है परन्तु जो पर्य्याय बीत चुकी वा जो होने वाली है इन दोनों को छोड़ कर वर्त्तमान पर्य्याय ही का कथन करना अर्थात् एक पर्य्याय को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है।

शब्द–जो व्याकरण के अनुसार सिद्ध शब्दों को स्वीकार करता है और कालादिक के भेद से अर्थ का भेद मानता है वह शब्द नय है।

समभिरूढ़—किसी पदार्थ में एक मुख्य गुण को लेकर उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप प्रवर्तने के समय भी उस ही मुख्य गुण के अनुसार उस वस्तु को ग्रहण करना जैसे जो न्याय करे वह न्यायाधीश वा मुन्सिफ़ वा जज कहाता है परन्तु किसी न्यायधीश को जब वह सोता हो वा खाता हो अर्थात् न्याय करने का काम न करता हो न्यायाधीश ही कहना यह समभिरूढ़ नय के अनुसार हैं।

एवंभूत—समभिरूढ़ नय के विरुद्ध अर्थात् जिस काल में कोई वस्तु जो क्रिया करती हो उस ही के अनुसार ग्रहण करना जैसे जिस समय न्याय करता हो उस ही समय न्यायाधीश कहना दूसरे समय में न कहना यह एवंभूत नय का विषय है।

इस प्रकार निश्चय नय के सात भेदों का कथन किया-व्यवहार नय को उपचार और उपनय भी कहते हैं इस के तीन भेद हैं सद्भूत, असद्भूत और उपचरित।

सद्भूत— वस्तु और उस का गुण पृथक २ दो पदार्थ नहीं हैं इस ही प्रकार वस्तु और उस की पर्य्याय दो पदार्थ भिन्न २ नहीं हैं परन्तु गुण और गुणी में भेद करना वा पर्य्याय और पर्य्याइ में भेद करना अर्थात् इन को भिन्न २ कथन करना वा अखण्ड द्रव्य को बहुप्रदेश रूप कहना यह सद्भूत व्यवहार नय है।

असद्भूत—किसी एक वस्तु के धर्म को किसी दूसरी वस्तु में समारोप करना–यह समारोपण तीन प्रकार होता है (१) अपनी ही जाति वालेमें समारोपण करना जैसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को जो जल आदिक में हो जाता है चन्द्रमा कहना (२) बिजाति में बिजाति का समारोप जैसे मति ज्ञान को मूर्तीक कहना (३) सजाति बिजाति में सजाति और बिजाति दोनों को समारोपन करना जैसे जीव, अजीव स्वरूप ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना।

उपचरित—इस नय को उपचरिता सद्भूत व्यवहार नय भी कहते हैं, प्रयोजन

और निमित्त के वश से इस नय की प्रवृत्ति होती है इस के भी तीन भेद हैं (१) अपनी ही जाति वाली बस्तु में उपचार करना जैसे मित्र, पुत्र आदिक जीवों को कहना कि यह मेरे हैं (२) बिजाति बस्तु में उपचार करना जैसे महल, मकान, रुपया पैसा आदिक को अपना बताना (३) सजाति और बिजाति दोनों प्रकार की वस्तु में उपचार करना जैसा यह कहना कि यह गाड़ी मेरी है जिस में गाड़ी अजीव है और बैल घोड़ा आदिक जो उस में जुते हुवे हैं जीव हैं दोनों को अपना बताया इसी प्रकार राज्य दुर्गादिक को अपने बताना।

किसी २ ग्रन्थ में नय के निम्न प्रकार भी भेद कियेगये हैं।

निश्चय—जो बस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै। इस के दो भेद हैं शुद्ध और अशुद्ध वस्तु को निरूपाधी रूप उसके शुद्ध गुण के अनुसार कथन करना, जैसे जीव को सर्वज्ञ और परमानन्द स्वरूप वर्णन करना शुद्ध निश्चय नय है और उपाधी सहित कथन करना जैसे जीव को इन्द्रिय जनित ज्ञान वाला वा सुखी दुखी वर्णन करना अशुद्ध निश्चयनय है।

व्यवहार—जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करै इसके भी दो भेद हैं। सद्भूत और असद्भूत। गुण और गुणी को भिन्न २ ग्रहण करना सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी फिर दो भेद हैं। उपचरित और अनुपचरित। उपाधिक गुण गुणी को भेद रूप ग्रहण करना जैसे यह कहना कि जीव में मति ज्ञान आदिक गुण हैं, यह उपचरित सद्भूत नय है और निरूपाधिक गुण गुणी को भेद रूप कथन करना जैसे यह कहना कि जीव में केवल ज्ञान गुण है, यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। भिन्न पदार्थों को अभेद रूप ग्रहण करना असद्भूत व्यवहार नय है इसके भी दो भेद हैं। उपचरित और अनुपचरित। जो अपने से बिल्कुल भिन्न पर बस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै, जैसे यह रुपया पैसा मेरा है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जो ऐसी पर बस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै जो मिल कर एक हो रही हों, जैसे यह शरीर मेरा है। वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

वास्तव में नय के भेद बहुत हैं जितनी वस्तु हैं वा जितने शब्द हैं उतनीही नय हैं। नय का बिशेष बर्णन महान ग्रन्थों से जानना चाहिये।

बस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है। इस कारण प्रमाण और नय का समझना अति आवश्यक है।

निक्षेप

पदार्थों का लौकिक व्यवहार निक्षेप से होता है इनका भी जानना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव यह चार निक्षेप हैं।

नाम—पहचान के वास्ते वस्तुओं का नाम रक्खा जाता है जैसे किसी मनुष्य का नाम शेरसिंह रक्खा जावे तो वह पहचान के वास्ते ही रक्खा जाता है चाहे वह बहुत कमज़ोर हो और शेर वा सिंह की कोई बात उसमें नहो। परन्तु शेरसिंह नाम से वही मनुष्य समझना चाहिये जिसका वह नाम रक्खा गया है। स्थापना—किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु स्थापन करना। यह दो प्रकार है एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। समान आकार वाली वस्तु में स्थापना करना तदाकार है जैसे घोड़े का आकार अर्थात् मूर्ति बना कर उस मूर्ति को घोड़ा कहना इसही प्रकार किसी मनुष्य की मूर्ति बना कर उस मूर्ति को वह मनुष्य कहना जिसकी वह मूर्ति है। असमान आकार वाली वस्तु में किसी वस्तु की स्थापना करना अतदाकार स्थापना है जैसे किसी देश के नक़शे पर एक बिन्दी को यह कहना कि यह अमुक नगर है और दूसरी बिन्दी को यह कहना कि वह दूसरा अमुक नगर है।

द्रव्य—जिस वस्तु में कोई गुण आगामी प्रगट होगा वा कोई गुण था और अब नहीं है तौभी उसको उस गुण रूप कहना जैसे कोई पुरुष राजा होने वाला है उसको अभी से राजा कहना। कोई पहले दारोग़ा था और अब नहीं है परन्तु अब भी उसको दारोग़ा जी ही कहना।

भाव—वर्त्तमान समय में जो जैसा हो उसको वैसाही कहना। जैसे राज्य करते को राजा कहना।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

अर्थ—यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह छोटा है, यह बड़ा है यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से पदार्थों को भिन्न २ न करके और विकल्प को न करके जो पदार्थों का सामान्य रूप ग्रहण करना है उसको परमागम में दर्शन कहा गया है।

भावार्थ—संसार में अनेक वस्तु हैं वह सब पृथक २ चिन्हों से पहचानी जाती हैं। जब तक इतना थोड़ा ज्ञान होता है कि कोई वस्तु है परन्तु यह ज्ञान नहीं होता

कि क्या बस्तु है अर्थात् जब तक अनेक बस्तुओं के पृथक २ चिन्हों में से किसी भी चिन्ह का ज्ञान नहीं होता है जिसके द्वारा भेद होसके कि अमुक बस्तु है वा अमुक प्रकार की वा अमुक जाति वा अमुक चिन्ह की बस्तु है तब तक उस तुच्छ ज्ञान को दर्शन कहते हैं, उस तुच्छ सत्ता मात्र सामान्य बोध का नाम ज्ञान नहीं होता है, फिर जब कुछ भी किसी प्रकार के चिन्ह का ज्ञान हो जाता है जैसे जब इतना भी ज्ञान होजाता है कि वह बस्तु काली है वा धौली है तब ही से वह जानना ज्ञान कहलाने लगता है। यद्यपि इतनाही बोध होने से कि कुछ है और काला है वा धौला है इतना जानने से इस बात का बोध नहीं हुवा कि वह क्या बस्तु है क्योंकि काली भी अनेक बस्तु होती हैं और धौली भी अनेक होती हैं परन्तु तौ भी इतने ही बोध को भी ज्ञान कहते हैं और इस से कमती बोध को जिस में यह भी मालूम नहीं हुवा कि बस्तु काली है वा धौली है वा कैसी है अभी इतनाही जाना है कि कोई बस्तु है यह मालूम नहीं कि वह कैसी है उसको दर्शन कहते हैं।

पाठकों को जानना चाहिये कि जैन शास्त्रों में दर्शन शब्द दो अर्थों में आया है। दर्शन के एक अर्थ श्रद्धान के हैं और दूसरे अर्थ उस तुच्छ बोध के हैं जिसमें इतनाही जानपना हुवा है कि कोई बस्तु है। जहां शास्त्रों में रत्नत्रय का बर्णन है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का कथन है अथवा मिथ्या दर्शन वा सम्यक् दर्शन का कथन है वहां दर्शन का अर्थ श्रद्धान है और जहां उपयोग (ज्ञान) के भेदों का बर्णन है वहां सब से कमती ज्ञान अर्थात् सत्तामात्र के ज्ञान को दर्शन कहा है। मिथ्या दर्शन तो दर्शन मोहनी कर्म के उदय से और सम्यक् दर्शन दर्शन मोहनी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से उत्पन्न होता है और जिस कमती ज्ञान को दर्शन कहते हैं वह दर्शनावरणी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से होता है।

दंसण पुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि॥४४॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है क्योंकि उनके ज्ञान और दर्शन यह दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। और केवली भगवान के यह दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

भावार्थ—जो जीव सर्वज्ञ नहीं है उसको पहले दर्शन होता है पीछे ज्ञान होता है अर्थात् पहले समय में बस्तु का इतनाही ज्ञान होता है कि कुछ है इसको दर्शन कहते हैं फिर दूसरे समय में यह मालूम होता है कि किस प्रकार की है अर्थात् काली है धौली

है या किस प्रकार की है फिर आहिस्ता २ यह ज्ञान होजाता है कि अमुक वस्तु है। एक समय काल का सब से छोटा भाग होता है जो हमारी तमीज़ में आना कठिन है इस कारण हमको यह मालूम नहीं होता है कि प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसको इसही क्रम से जानते हैं, हम तो यहही समझते हैं कि दृष्टि पड़तेही हम वस्तु को जानलेते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। हमको पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है।

केवली भगवान अर्थात् सर्वज्ञ को क्रम रूप ज्ञान नहीं होता है। उनको एक साथ ही सब कुछ बोध होता है। यहां तक कि भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों काल का ज्ञान एक साथ होता है। इसलिये उनको दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोग युगपत एक साथ ही होते हैं उनमें परस्पर समय भेद नहीं है।

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद समिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम्॥४५॥

अर्थ--जो अशुभ कार्य से बचना और शुभ कार्य में लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये। श्री जिनेंद्र भगवान् ने व्यवहार नय से उस चारित्र को व्रत, समिति और गुप्ति स्वरूप कहा है।

भावार्थ—अपनेही शुद्ध आत्म भावों में रमण करना निश्चय चारित्र है और इस अवस्था को प्राप्त होने का जो कारण है वह व्यवहार चारित्र है। वह व्यवहार चारित्र क्या है अशुभ अर्थात् खोटे कार्यों का न करना और अच्छे कार्यों का करना। वह अच्छे कार्य जिन से निश्चय चारित्र की सिद्धि होती है व्रत, समिति और गुप्ति हैं।

व्रत पांच प्रकार है अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, समिति भी पांच प्रकार है। और गुप्ति तीन प्रकार है, इन सब के सरूप का वर्णन सम्बर के कथन में हो चुका है। इस प्रकार चारित्र १३ प्रकार है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक साथ होते हैं परन्तु यह नियम नहीं है कि चारित्र भी इनके साथ अवश्यही हो ऐसा भी होता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान होने पर सम्यक् चारित्र बिल्कुल भी न हो। ऐसी अवस्था वाले को अविरति सम्यक् दृष्टि कहते हैं। चौथे गुणस्थान वाले की यहही अवस्था होती है कि सम्यक्त तो होगया है परन्तु चारित्र कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। जो जीव सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात कुछ चारित्र ग्रहण करता है परन्तु पूरे रूप से चारित्र को नहीं पालता है वह अणु व्रती, देश व्रती वा श्रावक कहलाता है यह अवस्था पञ्चम गुण स्थान वाले की

होती है। और जो जीव सम्यक् दृष्टि होकर सकल चारित्र को पालता है वह महा ब्रती वा साधु वा मुनि कहलाता है और छोटे वा उससे भी ऊपर के गुण स्थान वाला होता है।

यह पांच ब्रत मुनि अवस्था में महा ब्रत कहाते हैं और श्रावक अवस्था में अणु ब्रत। मुनि के आचार का कथन बिस्तार रूप बहुत कुछ है जो भगवती आराधना सार और मूलाचार आदिक ग्रन्थों से मालूम होसक्ता है परन्तु मोटे रूप कथन में पञ्च महा ब्रतों का ही कथन है। समिति और गुप्ति को इनही में गर्भित किया है।

५ महाब्रत की भावना।

बार बार चिंतवन करने को भावना कहते हैं। पञ्च महाब्रतों के स्थिर रखने के वास्ते प्रत्येक ब्रत के अर्थ पांच २ भावना हैं जिनका चिंतवन मुनि को बराबर रखना चाहिये।

अहिंसा ब्रत की भावना—१ बचन गुप्ति अर्थात् बचन को अपने बश में रखने का चिंतवन रखना कि कभी ऐसा बचन मुख से न निकले जिस से प्राणी को पीड़ा हो २ मनो गुप्ति अर्थात् मनको अपने बश में रखने का चिंतवन रखना कि कभी हिंसा रूप बिचार मन में न आवे ३ इर्यासमिति अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि गमन करते समय किसी जीव की हिंसा न हो जावे ४ अदान निक्षेपण अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि किसी बस्तु के उठाते वा रखते समय किसी जीव की हिंसा न होजावे ५ आलोकित पान भोजन अर्थात् इस बात का बिचार रखना कि भोजन पान आदिक भले प्रकार देख शोध कर किया जावे जिससे किसी जीव की हिंसा न हो।

सत्यब्रत की भावना—१ इस बात का बिचार रखना कि क्रोध न आवे, २ लोभ न उपजे, ३ भय उत्पन्न न हो क्योंकि इन तीनों अवस्था में असत्य बचन मुख से निकल जाता है ४ यह बिचार रखना कि हास्य रूप बचन मुख से न निकले क्योंकि हास्य में भी असत्य बचन बोला जाता है और ५ आगम के अनुसार पाप रहित बचन बोलने का बिचार रखना।

अचौर्य ब्रत की भावना—१ इस बात का बिचार रखना कि ऐसे घर में न रहैं जहां कोई असबाब हो शून्य घर होना चाहिये जिससे किसी बस्तु के ग्रहण करने की प्रेरणा न हो २ ऐसे स्थान में रहना जो छोड़ा हुवा हो जिससे किसी के ग्रहण किये हुवे स्थान के ग्रहण करने का दोष न आवे ३ जो कोई जीव उस स्थान में ठहरे जहां अपना बास हो तो उसको ठहरने से नहीं रोकना क्योंकि रोकने से उस स्थान को

अपनी मिलकियत बनाने का दोष आता है ४ इस बात का भी विचार रहे कि भिक्षा की विधि में न्यूनाधिकता न हो क्योंकि इस से भी पर वस्तु ग्रहण करने का दोष लगता है और ५ इस बात का भी विचार रहना चाहिये कि धर्मात्माओं से किसी प्रकार का झगड़ा न हो।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावना—१ ऐसी बातों का बचाव रखना चाहिये जिन से काम उत्पन्न होता हो। अर्थात् स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथा के सुनने का त्याग, २ स्त्रियों के मनोहर अङ्गों के देखने का त्याग, ३ पूर्व किये हुवे विषय भोगों के याद करने का त्याग, ४ कामोद्दीपन वस्तु खाने का त्याग और ५ अपने शरीर को शृंगार रूप करने का त्याग।

परिग्रह व्रत की भावना—इस बात का विचार रखना कि पांचो इन्द्रियां किसी इष्ट अनिष्ट वस्तु में रागद्वेष रूप न प्रवर्तें।

इस प्रकार प्रत्येक व्रत की पांच २ भावना हैं जिन से व्रत में सावधानी रहती है। इन के अतिरिक्त मुनिको यह भी चिंतवन करते रहना चाहिये कि हिंसा आदिक से अर्थात् व्रत के न होने से इस लोक और परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश होता है और निन्दा भी होती है। और पाप उत्पन्न होता है जिस से दुःख मिलता है।

मुनि को उचित है कि संसार से भय भीत रहने और वैराग्य स्थिर रखने के वास्ते जगत और काय के स्वभाव को भी चिंतवन करते रहैं।

चार भावना।

इसके अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ यह चार भावना भी मुनि को निरन्तर चिंतवन करनी चाहियें।

मैत्री—सर्वसाधारण जीवों से मित्रता रखना सब का भला चिंतवन करना।

प्रमोद—जो गुणों में अधिक हों उन में प्रसन्नता का भाव रखना।

कारुण्य—दुःखी जीवों पर करुणा बुद्धि रखना और उनके दुःख दूर करने का परिणाम रखना।

माध्यस्थ—पापी अविनयी और क्रूर जीवों में मध्यस्थ भाव रखना अर्थात् न प्रीति और न द्वेष।

तीन शल्य।

यह पांच व्रत उसके पलते हैं जिस में शल्य नहीं होता है। माया, मिथ्या और निदान यह तीन शल्य हैं। मन वचन काय की क्रिया का एक समान न होना अर्थात्

मन में कुछ और बचन में कुछ और काय की क्रिया कुछ अर्थात् कपट को माया कहते हैं। तत्वार्थ श्रद्धान का न होना मिथ्या शल्य है। आगामी के वास्ते संसार के किसी प्रकार के सुख की वांछा रखना निदान शल्य है।

इस प्रकार मोटे रूप मुनि चारित्र का वर्णन किया।

श्रावक धर्म।

पंचम गुण स्थानी श्रावक के ११ भेद हैं जिनको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं परन्तु श्रावक धर्म के ११ भेद न करके समुच्चय रूप इनके चारित्र का इस प्रकार कथन है।

अहिंसा आदि पांच व्रतों का अणु रूप अर्थात् कमती एक देश पालना श्रावक का चारित्र है। वह अणु व्रत इस प्रकार हैं।

अहिंसा—स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी न होकर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग।

सत्य—स्नेह बैर और मोह आदि के बश झूठ बोलने का त्याग।

अचौर्य—पराई बस्तु के इस प्रकार ग्रहण का त्याग जो राज्य आज्ञा के विरुद्ध हो वा जिस से किसी जीव को पीड़ा होती हो।

ब्रह्मचर्य—अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियों से काम भाव का त्याग।

अपरिग्रह—संसारीक बस्तुओं का परिमाण करना कि इतनी से अधिक नहीं रक्खेंगे। इसही कारण इसको परिग्रह परिमाण व्रत भी कहते हैं।

इन पांचो व्रतों के पृथक २ पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। यद्यपि अतीचार के होते हुवे भी व्रत होता है परन्तु निर्दोष नहीं होता है। अतीचारों के टालने से व्रत निर्दोष होजाता है।

अहिंसा अनुव्रत के अतीचार—१ पशु आदिक जीव का बांधना वा पिंजरे में बन्द करना २ बंध अर्थात् लाठी चाबुक आदि से जीव को मारना ३ छेदन अर्थात् जीव का कान आदिक काटना वा बींधना ४ अतिभारारोपण अर्थात् किसी जीव पर अधिक बोझ लादना ५ अन्नपान निरोध अर्थात् किसी जीव को भूखा प्यासा रखना।

सत्य अणुव्रत के अतीचार—१ मिथ्या उपदेश अर्थात् जीव के अहित का उपदेश देना २ रहोभ्याख्यान अर्थात् स्त्री पुरुष की गुप्त वार्त्ता वा गुप्त आचरण को प्रगट करना ३ कूट लेख क्रिया अर्थात् झूठी बात लिखना जालसाज़ी करना ४ न्यासा पहार अर्थात् धरोहर के सम्बन्ध में कोई असली बात भूल कर अपने विरुद्ध कहने लगे

सो असली बात प्रगट न करना और चुप होकर उसकी भूली हुई बात के अनुसार व्यवहार करना जैसे किसी ने ५००) धरोहर रक्खे परन्तु बहुत दिन पीछे जब लेने आया तब उसको यह ही याद रहा कि मैंने ४००) रक्खे थे सो चारसौ ही मांगने लगा। जिस के पास रक्खे थे उसको मालूम है कि ५००) रख गया था परन्तु उसके ४००) मांगनें पर चार सौ ही देदेना और उसकी भूल प्रगट न करना यह न्यासापहार नाम झूठ का अतिचार है ५ साकार मंत्र भेद अर्थात् किसी की चेष्टा से उसके मन की गुप्तबात जान कर प्रगट कर देना।

अचौर्य अणुव्रत के अतीचार—१ स्तेन प्रयोग अर्थात् चोरी करने की बिधि बताना २ चौरार्थदान अर्थात् चोरी की वस्तु लेना ३ विरुद्ध राज्याति कम अर्थात् राज्य आज्ञा के बिरुद्ध क्रिया करना ४ हीनाधिक मानोनमान अर्थात् मापने तोलने आदिक के बाट आदिक कमती बढ़ती रखना ५ प्रति रूपकव्यवहार। अर्थात् बहु मूल्य की वस्तु में घटिया वस्तु मिलाकर बढ़िया वस्तु में चलाना जैसे दूध में पानी मिला कर असली के तौर पर बेचना।

ब्रह्मचर्य्य व्रत के अतीचार—१ पर विवाह करण अर्थात् दूसरे के बेटा बेटी का विवाह करना वा करादेना २ परिग्रहीतत्वरिका गमन अर्थात् दूसरे की विवाहिता व्यभिचारणी स्त्री के पास जाना आना और उस से व्यवहार रखना ३ अपरिग्रहीतेत्वरिका गमन अर्थात् बिना पतिवाली भावार्थ गणिका स्त्री के पास जाना आना उससे वार्तालाप वा किसी प्रकार का व्यवहार रखना। ४ अनंग क्रीड़ा अर्थात काम सेवन के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना ५ कामतीव्राभिनिवेश अर्थात् काम सेवन मे अत्यंत अभिलाषा रखना चाहे अपनी ही स्त्री के साथ हो।

परिग्रह परिमाण अनुव्रत के अतीचार १ खेत और मकान आदिक २ रुपया पैसा सोना चांदी आदिक ३ गौ बैल और अनाज आदिक ४ नौकर चाकर चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष ५ बस्त्र और वर्तन आदिक, इन पांच प्रकार की वस्तु में परिमाण का उलंघन करना।

पांच अनुव्रत धारण करने के पश्चात उन ब्रतों को बढ़ाने अर्थात् चारित्र में उन्नति करने के वास्ते तीन गुण ब्रत हैं दिग्विरति, देशाविरति और अनर्थ दंडविरति इनका सरूप इस प्रकार है:—

दिग्विरति—लोभ आरंभादिक को कम करने के अभिप्राय से यावज्जीव इस बात का नियम करना कि अमुक प्रसिद्ध नदी वा ग्राम वा पर्वतादि से बाहर नहीं

जाऊंगा इस व्रत का अभिप्राय यह है कि बांधा हुई सीमा से बाहर की भी क्रिया करने का विचार न हो —

देशविरति—कुछ नियमित समय के वास्ते इस बात का नियम करना कि दिग्विरति में जो क्षेत्र नियत किया है उसके अंदर भी अमुक नगर ग्राम वा मुहल्ले तक जाऊंगा इस से बाहर नहीं जाऊंगा।

अनर्थ दंडविरति—ऐसे पाप के कार्यों का त्याग करना जिससे अपना कोई अर्थ सिद्ध न होता हो ऐसे व्यर्थ पाप पांच प्रकार के हैं १ पापो पदेश २ हिंसादान ३ अपध्यान ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या, ऐसे संसारीक कार्य के करने का उपदेश देना जिस में स्थावर वा त्रस जीवों की हिंसा होती हो और अपना कोई कार्य सिद्ध न होता हो वह **पापोदेश** है। हिंसा के औज़ार फावड़ा, कुदाल, शांकल, चाबुक, पींजरा, चूहेदान आदिक दूसरे को देना **हिंसादान** है यदि इस प्रकार की बस्तु अपने किसी कार्य के वासते रखना आवश्यक होतो रखो परन्तु दूसरे को दान करना तो व्यर्थ ही पाप कमाना है। अन्य जीवों के दोष ग्रहण करने के भाव, अन्य का धन ग्रहण करने की इच्छा, अन्य की स्त्री देखने की इच्छा, मनुष्य वा तिर्यंचोंकी लड़ाई देखने के भाव, अन्य की स्त्रीं पुत्र धन आजीविका आदिक नष्ट होने की चाह, पर का अपमान अपवाद होने की चाह आदिक **अपध्यान** हैं इन से कोई कार्य तो सिद्ध होता नहीं व्यर्थ का पाप बंधता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदिक उत्पन्न करने वाला पुस्तक पढ़ना किस्सा सुन्ना **दुःख श्रुति** है। बिना प्रयोजन जल खिड़ाना, अग्नि जलाना, बनस्पति छेदना, भूमि खोदना और इसही प्रकार का अन्य कोई कार्य करना जिसमें हिंसा होती हो वा बिना सावधानी के व्यर्थ इस प्रकार प्रवर्तना जिससे जीव हिंसा हो प्रमाद चर्या है।

इन तीनों गुण व्रतों के भी पांच २ अतीचार बर्णन किये गये हैं। वह इस प्रकार हैं।

दिग्विरीत के अतीचार। १ **अर्द्धातिक्रम** अर्थात् ऊंचाई पर जाने की जितनी मर्यादा बांधी हो उससे अधिक ऊपर वृक्ष पर्वतादिक पर चढ़ना। **अधोऽतिक्रम** अर्थात् नीचाई का जितना परिमाण किया हो उससे अधिक नीचा कूपादिक में जाना। **तिर्यगतिक्रम** अर्थात् टेढ़ा जाकर मर्यादा से बाहर चले जाना। **क्षेत्रवृद्धि** अर्थात् परिमाणित क्षेत्र को बढ़ाना। **स्मृत्यंतराधान** अर्थात् दिशाओं की बांधी हुई मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतीचार १ मर्यादा के बाहर से किसी चेतन वा अचेतन बस्तु को मंगाना वा बुलाना, २ मर्यादा से बाहर आपतो जाना नहीं परन्तु अपने किसी सेवकादि को भेजना ३ मर्यादा से बाहर होने में शब्द पहुंचाना अर्थात् खांसी, खंखारने

का शब्द करके वा टेलीफोन के द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना ४ मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में हाथ पैर आदिक का कोई इशारा करके काम कराना ५ कंकरी आदिक फेंकने से मर्यादा के बाहर क्षेत्र में इशारा पहुंचाना ।

अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतीचार–१हास्य को लिये हुए भण्ड वचन बोलना २ काय से भंड क्रिया करना ३ व्यर्थ बकवाद करना ४ प्रयोजन को बिना बिचारे अधिकता से प्रवर्तन करना ५ ज़रूरत से ज्यादा भोग उपभोग की सामिग्री इकट्ठा करना ।

गुण व्रतों के द्वारा अणु व्रतों को बढ़ा कर शिक्षा व्रत ग्रहण करने चाहियें। जिससे चारित्र में अधिक उन्नति हो। जिन व्रतों से मुनि धर्म की शिक्षा प्राप्त होती है अर्थात् अभ्यास होता है उन को शिक्षा व्रत कहते हैं। शिक्षा व्रत चार हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, और अतिथि संविभाग। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

समायिक--समस्त पाप क्रियाओं से रहित होकर सब से रागद्वेष छोड़ साम्य भाव को प्राप्त हो कर आत्मस्वरूप में लीन होना।

प्रोषधोपवास—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को पहले दिन के दोपहर से लगा अगले अर्थात् पारने के दिन के दोपहर तक अर्थात् १६ पहर समस्त आरम्भ छोड़ कर विषय कषाय और समस्त प्रकार के आहार को त्याग कर धर्म सेवन में व्यतीत करना

उप भोग परिभोग बिरति—उप भोग और परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके बाक़ी सब का त्याग करना। जो एक बार भोगने में आवे वह भोग और जो बार बार भोगने में आवे वह परि भोग है।

अतिथिसं विभाग—महा व्रती मुनि वा अणु व्रती श्रावक के अर्थ शुद्ध मन से आहार दान करना।

इन चार शिक्षा व्रतों के भी पांच २ अती चार वर्णन किये गये हैं जो इस प्रकार हैं।

सामायिक के अतीचार—१ मन को वा २ बचन को वा ३ काया को अन्यथा चलायमान होने देना ४ उत्साह रहित अनादर से सामायिक करना और ५ सामायिक करते हुए चित्त की चंचलता से पाठ भूल जाना।

प्रोषधोपवास के अतीचार—१ बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मल मूत्र कफ आदिक डालना २ बिना देखे बिना शोधे उपकरण का उठाना वा रखना ३ बिना देखी बिना शोधी भूमि पर सांथरा आदिक बिछाना ४ धर्म क्रिया में उत्साह रहित प्रवर्तना ५ आवश्यकीय धर्म क्रियाओं को भूल जाना।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतीचार—१ सचित अर्थात् ऐसे फलादिक का आहार करना जिस में जीव हो २ सचित वस्तु से स्पर्श की हुई वस्तु का आहार करना ३ पदार्थ से सचित मिली हुई वस्तु का आहार करना ४ पुष्टि कारक वस्तु का आहार करना ५ भले प्रकार न पकी हुई तथा देर से हज़म होने वाली वस्तु का आहार करना।

अतिथि सम्बि भाग व्रत के अतीचार—१ सचित्त वस्तु में अर्थात् हरे कमलपत्र आदि में रख कर आहार देना २ सचित्त से ढके हुए आहार औषधि का देना ३ दूसरे की वस्तु का दान करना ४ अनादर से वा ईर्षा भाव से दान देना ५ योग्य समय को टाल कर आहार देना।

तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत यह सात शील कहलाते हैं अर्थात् अणु व्रत की रक्षा वा वृद्धि करने वाले हैं।

श्रावक को इन १२ व्रतों के अतिरिक्त छै कर्म प्रति दिन करते रहना चाहिये जो षट् आवश्यक् कर्म कहलाते हैं पूजा, उपासना, दान, स्वाध्याय, तप और संयम।

पूजा—भक्ति करने आदर और बड़ाई मानने को पूजा कहते हैं। अपने में वैराग्य भाव उत्पन्न करने के वास्ते बीतरागियों और उन कारणों की जिन से बीतरागता प्राप्त होती है भक्ति करना।

उपासना—निकट जाने पास बैठने को उपासना कहते हैं। साधु और धर्मात्मा पुरुषों के पास जाना और पास जाना न हो तो उसके गुणों का चिंतवन करना।

दान—देने का नाम दान नहीं है। किसी भय से वा लोकाचार से वा अपने किसी संसारिक प्रयोजन के अर्थ देना दान नहीं है। दान वह है जो करुणा उत्पन्न होने पर किसी के दुख दूर करने को वा ज्ञान और धर्म की वृद्धि के अर्थ दिया जावे जिससे अपने को भी पुन्य बन्ध हो और दूसरे का भी हित सधता हो।

स्वाध्याय—श्री जैन शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना चर्चा वार्ता करना।

तप—इन्द्रियों को वश करने और कषायों को मन्द करने के अर्थ किसी प्रकार का कष्ट उठाना तप है।

संयम—पापों से बचने के वास्ते अपनी क्रियाओं का प्रबन्ध करना अर्थात् नियम बांधना संयम है।

श्रावक का यह भी धर्म है कि जब मृत्यु का निश्चय होजावे तो धर्म ध्यान के साथ प्राणों को त्याग करे। इसको सन्यास मरण वा समाधि मरण वा सल्लेखना कहते हैं। आहिस्ता २ सब प्रकार की क्रिया और चिन्ता और खाना पीना आदिक को छोड़

कर आत्म ध्यान में लग जाना इस का उपाय है।

सन्यासमरण के भी पांच अतीचार बर्णन किये गये हैं १ जीने की इच्छा करना २ शीघ्र मरने की इच्छा करना ३ अपने मित्रों में अनुराग रखना और उन को याद करना ४ पूर्व भोगों का चिंतवन करना ५ आगामी के भोगों की बांछा रखना।

इस प्रकार समुच्चय रूप श्रावक धर्म का बर्णन किया गया। अब इसके भेदों का बर्णन करते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि में चारित्र बिलकुल नहीं होता है एक तो श्रावक का यह दर्जा है इस में भी यद्यपि कोई चारित्र नहीं है परन्तु मांस का भोजन तो इस दर्जे वाला भी नहीं करता है और मदिरा, शहद, और बड़, पीपल, पीलू आदिक पांच उदम्बर फल जिन में साक्षात त्रस जीवों का घात होता है और त्रस जीव दिखाई देते हैं नहीं खाता है। अर्थात् उपर्युक्त आठ चीजों का त्यागी होता है इसी का नाम श्रावक के आठ मूल गुण हैं बिना इन आठ बस्तु के त्याग के जैनी अर्थात् पाक्षिक श्रावक ही नहीं कहला सक्ता है।

पंचम गुणस्थानी श्रावक जिसको देश ब्रती कहते हैं उसके ११ दर्जे हैं जो ११ प्रतिमा कहाती हैं। उन्नति करते हुवे एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदिक ग्यारह प्रतिमा तक चढ़ना होता है और इन से भी ऊपर चढ़कर साधु होता है। अगली २ प्रतिमाओं में पूर्व २ की प्रतिमाओं की क्रिया का होना भी जरूरी है।

१ **दर्शनप्रतिमा**—सम्यग्दर्शन सहित मद्यमांसादिक त्याग रूप अष्ट मूल गुण का निरतिचार पालने वाला दर्शनिक अर्थात् १ ली प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा में जूवा खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्यागमन, शिकारखेलना, चोरीकरना और पर स्त्री सेवन करना इन सात कुव्यसनों का भी त्याग होता है।

२ **ब्रतप्रतिमा**—१२ ब्रत का धरना। अर्थात् जब दर्शनिक १२ ब्रत का पालन करता है तब वह ब्रतिक कहलाता है।

३ **सामायिक प्रतिमा**—ब्रतिक का प्रभात काल, मध्याह्नकाल और अपराह्न-काल अर्थात् सुबह दोपहर और शाम को छै छै घड़ी बिधि पूर्वक सामायिक करना।

४ **प्रोषधप्रतिमा**—महीने के चारों प्रर्वादिनों में अर्थात् प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को १६ पहर का उपबास करना।

५ **सचित त्याग प्रतिमा**—हरी बनस्पति अर्थात् कच्चे फल फूल बीज आदिक न खाना।

६ **रात्रिभोजन त्यागप्रतिमा**—रात्रि को सर्व प्रकार के आहार का त्यागना।

७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा—अपनी पराई किसी भी प्रकार की स्त्री से भोग न करना।

८ आरम्भ विरतिप्रतिमा— गृहकार्य सम्बन्धी सर्व प्रकार की क्रिया का त्याग करना और दूसरों से भी प्रारम्भ नहीं कराना।

९ परिग्रहत्याग प्रतिमा—दस प्रकार के वाह्य परिग्रह से, ममता को त्याग कर सन्तोष धारण करना।

१० अनुमोदन विरतिप्रतिमा-अन्य गृहस्थी के संसारीक कार्यों की अनुमोदना भी न करना जो कोई भोजन को बुलावे उसके यहां भोजन करआवै परन्तु यह न कहै कि मेरे वास्ते अमुक वस्तु बनावो।

११ उद्दिष्टविरति प्रतिमा—घर छोड़ बन तथा मठ आदिक में तपश्चरण करते हुए रहना, भिक्षा भोजन करना और खण्ड वस्त्र धारण करना। इस प्रतिमा धारी के दो भेद हैं १ क्षुल्लक और २ ऐलक। १ पहले दर्जे वाले प्रर्थात क्षुल्लक अपनी डाढी आदि के केश उस्तरे वा कैंची से कटवाते हैं, लंगोटी और उस के साथ चादर वा दुपट्टा धारण करते हैं, तथा बैठ कर अपने हाथ में वा किसी पात्र में भोजन करते हैं। और इस से ऊंचे दर्जे वाले अर्थात् ऐलक केशों का लोच करते हैं और केवल लंगोटी धारण करते हैं तथा मुनि की सदृश हाथ में पिच्छिका रखते हैं और अपने हाथ में ही भोजन करते हैं किसी बरतन में नहीं करते।

इस प्रकार पंचम गुणस्थानी श्रावक के ११ दर्जे हैं और चौथे गुणस्थानी सम्यक्ती को मिलाकर १२ दर्जे होते हैं।

इनका विस्तार वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थों से जानना—

बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव के संसार के कारणों को नष्ट करने के वास्ते जो अन्तरङ्ग और वाह्य क्रियाओं का निरोध करना है वह श्रीजिनेन्द्र ने उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र कहा है।

भावार्थ—पूर्वगाथा में जो चारित्र वर्णन किया गया है वह व्यवहार चारित्र है अर्थात् असली चारित्र का कारण है वास्तविक चारित्र समस्त क्रियाओं को रोक कर अपनी आत्मा में ही मग्न हो जाना है। इसही चारित्र से संसार पर्याय नष्ट होती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञानी जनों को इसही चारित्र की प्राप्ति की कोशिश करनी चाहिये।

दुविहं पि मुखहेउं ज्झाणे पाऊणादि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह ॥४७॥

अर्थ—ध्यान के करने से ही मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है इस हेतु हे भव्य जीवों तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करो ।

भावार्थ—ध्यान से ही मोक्षमार्ग की सिद्ध है । चित्त को एकाग्र करना अर्थात् एक तरफ लगाना ध्यान है । ध्यान का अभ्यास मोक्ष अभिलाषी को अवश्य करना चाहिये ।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठानिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

अर्थ—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान तथा निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के वास्ते चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इंद्रियों के विषय हैं उन में राग, द्वेष और मोह को मत करो ।

भावार्थ—ध्यान चार प्रकार का है । आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

आर्त्तध्यान—के चार भेद हैं ।

अनिष्टयोगज— अनिष्ट अर्थात् अप्रिय और दुःखदाई वस्तु का संयोग होने पर उसके दूर करने के लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

इष्टवियोगज—इष्ट अर्थात् प्रिय और सुखकारी वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

वेदना जनित—रोग जनित पीड़ा का चिन्तवन करना अर्थात् सोच करना, अधीर होना आदि ।

निदान-आगामी विषय भोग आदिक की बांछा करना और उसी के विचार में लीन हो जाना ।

इन चार प्रकार के आर्त्त ध्यान में पहले तीन प्रकार के आर्त्त ध्यान तो १, २, ३, ४, ५, और छटे गुणस्थान तक हो सक्ते हैं परन्तु निदान आर्त्तध्यान छटे गुणस्थान में नहीं हो सक्ता है पांच गुणस्थान तक ही हो सक्ता है । आर्त्तध्यान खोटा ध्यान है इसको नहीं करना चाहिये ।

रौद्रध्यान—के भी चार भेद हैं ।

हिंसानन्द—हिंसा करके आनन्द मानना और हिंसा का चिन्तवन करते रहना।

मृषानन्द—झूठ बोलने में आनन्द मानना और झूठही का चिन्तवन करते रहना।

स्तेयानन्द-चोरी में आनन्द मानना और उसी का चिन्तवन करते रहना।

परिग्रहानन्द-परिग्रह और अपनी विषय सामिग्री की रक्षा करने में आनन्द मानना और उसी की चिन्ता में लगे रहना।

रौद्रध्यान-१, २, ३, ४, और पांचवें गुणस्थान तक हो सक्ता है। यह ध्यान आर्त्त ध्यान से भी अधिक खोटा है।

धर्मध्यान—भी चार प्रकार का है।

आज्ञाविचय—आगम की प्रमाणता से अर्थात् श्रीजिन वाणी के अनुसार पदार्थों के स्वरूप को चिन्तवन करना।

अपाय विचय—इस बात का चिन्तवन करना कि संसार के जीव सच्चे धर्म से अज्ञानी और अश्रद्धानी होकर संसार में ही घूमने का यत्न करते हैं किस प्रकार से यह प्राणी खोटे मार्ग से फिरेंगे और किस प्रकार से जैनधर्म का प्रचार संसार के सब जीवों में होकर धर्म की प्रवृत्ति होगी, समचीन मार्ग तो प्रायः अभाव सा हो गया है इत्यादि सम्मार्ग के अभाव का चिन्तवन करना।

बिपाक बिचय-पापकर्मों से दुख और पुन्य कर्मों से संसारीक सुख और दोनों के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार कर्म फल को चिन्तवन करना।

संस्थान विचय—लोक के स्वरूप और द्रव्यों के स्वभाव को चिन्तवन करना।

धर्म ध्यान पुन्यबन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी हेतु है। यह ध्यान चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है।

शुक्लध्यान—भी चार प्रकार का है।

पृथक्त्ववितर्कवीचार-द्रव्य गुण पर्याय इनका जो जुदापना है उस को **पृथक्त्व** कहते हैं। श्रुतज्ञान तथा निज शुद्ध आत्मा का अनुभवन रूप भाव श्रुत अथवा जिन शुद्ध आत्मा को कहने वाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्मशब्दकल्पन) है वह **वितर्क** कहलाता है। विना इच्छा किये अपने आप ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक बचन से दूसरे बचन में और मन बचन काय इन तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन (परिवर्त्तन) होता है उस को **बीचार** कहते हैं भावार्थ यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोड़ कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्मा ही का ध्यान करता है तथापि जितने अंशों से उस पुरुष के अपनी आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से बिना इच्छा कियेही विकल्प

उत्पन्न होता है इस कारण से इस ध्यान को **पृथक्त्व वितर्क बीचार** कहते हैं। तर्क करना बिचारना अर्थात् श्रुतिज्ञान वितर्क है। परिवर्त्तन को विचार कहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १० और ग्यारहवें गुणस्थान में ही होता है और श्रुत केवली को ही होता है।

एकत्व वितर्क विचार—यह ध्यान तीनों योग में से किसी एक योग वाले के होता है और बारहवें गुणस्थान में श्रुतकेवली को ही होता है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति—यह ध्यान काय योग वालों को होता है और तेरहवें गुणस्थान में अर्थात् सयोगी केवली भगवान को ही होता है।

व्युपरत क्रिया निवर्त्ति—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् अयोगी भगवान को होता है।

पणतीस सोलछप्पण चउदुगमेगं च जवहज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

अर्थ—परमेष्ठी वाचक जो ३५, १६, ६, ५, ४, २, और एक अक्षर रूप मंत्र पद हैं उनका जाप्य करो और ध्यान करो। इनके सिवाय अन्य जो मंत्र पद हैं उनको भी गुरू के उपदेश के अनुसार जपो और ध्यावो।

भावार्थ—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पांच परमेष्टी हैं अर्थात् परम इष्ट हैं इन के ध्यान करने से भावों की शुद्धि और वैराग्य उत्पत्ति होती है।

३५ अक्षर का मंत्र—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

१६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू। अथवा "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः"।

६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध, अथवा "नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः"।

५ अक्षर का मंत्र—असिआउसा। अर्थात् पांचों परमेष्टि का प्रथम अक्षर।

४ अक्षर का मंत्र-अरिहंत।

२ अक्षर का मंत्र—सिद्ध।

१ अक्षर का मंत्र—"अ"—अथवा—'ॐ'।

अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ' सिद्ध को अशरीरी भी कहते हैं इसका भी प्रथम अक्षर 'अ' आचार्य का प्रथम अक्षर 'अ' उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म् इन पांचों अक्षरों की संधि होकर "ओम्" यह बन जाता है।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुह्णाणवीरियमईओ।
सुह्देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान अनन्त बीर्य का धारक, उत्तम देह में बिराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उस का ध्यान करना उचित है।

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली भगवान को अरिहंत कहते हैं। आठ कर्मों में से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं क्योंकि जीव के शुद्ध स्वभाव को भ्रष्ट करते हैं। श्री अरिहंत भगवान के यह चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और इन ही के नाश होने से अपने दर्शन, ज्ञान, सुख और बीर्य यह चार गुण प्रगट होते हैं। श्री अरिहंत भगवान के चार कर्म बेदनी आयु, नाम और गोत्र अभी बाक़ी रहते हैं इस ही कारण श्री अरिहंत भगवान देहधारी होते हैं।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्य जाणओदट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झ्हाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

अर्थ—जिस का अष्ट कर्म रूपी देह नष्ट होगया है, जो लोक अलोक को जानने देखने वाला पुरुषाकार का धारक और लोक शिखर पर विराजमान है वह आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। उसका ध्यान करो।

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान तेरहवें गुणस्थान से चौधवें गुणस्थान में आकर चौधवें गुणस्थान के अन्त मे सर्व कर्मों का नाश कर देते हैं कोई कर्म बाकी नहीं रहता है। कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं। सर्व कर्मों के नाश होने से कार्माण शरीर भी उनके नहीं रहता है और किसी प्रकार का भी शरीर नहीं रहता है। अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान प्राप्त होने से तेरवेंही गुणस्थान में अर्थात् अरिहंत अवस्थाही में सर्वज्ञ होकर वह लोक और अलोक की सर्व वस्तु को जानने लगे थे। सर्व कर्मों का नाश करके अर्थात् मुक्ति पाकर जिस देह से मुक्ति हुई है उस देह के आकार ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अन्त तक ऊपर जाते हैं आगे धर्म द्रव्य न होने के कारण गमन नहीं है इस हेतु लोक शिखर पर ठहर जाते हैं वह सिद्ध भगवान हैं और ध्यान करने योग्य हैं।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

अर्थ—दर्श, ज्ञान, वीर्य चारित्र, और तप इन पांच आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं वे आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन में परिणमन करना दर्शनाचार है। सम्यग्ज्ञान में लगना ज्ञानाचार है। वीतराग चारित्र में लगना चारित्राचार है। तप में लगना तपाचार है। इन चारों आचारों के करने में अपनी शक्ति का नहीं छिपाना वीर्याचार है। इन आचारों को जो आप पालते हैं और अपने शिष्यों को इन आचारों में लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं और ध्यान करने योग्य हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणेणिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

अर्थ—जो रत्न त्रय सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है वह आत्मा मुनीश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है उसको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन रत्न हैं और रत्न त्रय कहलाते हैं जो रत्न त्रय के धारी हैं और सदा धर्म का उपदेश देते हैं अर्थात् मुनियों को पढ़ाते हैं वह उपाध्याय हैं और ध्यान करने योग्य हैं उनको नमस्कार होवे।

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जोहु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥

अर्थ-जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष का मार्ग भूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं वे मुनी साधु परमेष्ठी हैं उनको मेरा नमस्कार हो।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के विना चारित्र कार्य कारी नहीं है। जो चारित्र सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक है वही मोक्ष का कारण है। ऐसे मोक्ष के कारण भूत और सदा शुद्ध अर्थात् रागद्वेषादि रहित चारित्र को जो मुनि साधन करते हैं वह साधु परमेष्ठी और ध्यान करने योग्य हैं ग्रंथकर्ता श्रीनेमिचंद्राचार्य कहते हैं कि ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार होवे।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयतं तदाहुतं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ॥५५॥

अर्थ—ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ को ध्याता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति अर्थात् सर्व प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

भावार्थ--निस्पृह अर्थात् सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर किसी वस्तु के ध्यान करने को निश्चय ध्यान कहते हैं।

माचिट्ठह माजंपह माचिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेवं परं हवं ज्झाणं ॥५६॥

अर्थ—हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आप में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे यह आत्मा में तल्लीन होना ही परम ध्यान है।

भावार्थ—मन, वचन और काय की क्रिया को रोकने से शुद्ध आत्म ध्यान होता है, अपनी आत्मा में लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है, पंच परमेष्ठी का ध्यान करना तो ध्यान का अभ्यास करने और वैराग्य की उत्पत्ति के अर्थ है, पंच परमेष्ठी का ध्यान शुभ ध्यान है पुन्य बंध का कारण है परन्तु शुद्ध ध्यान नहीं है किन्तु शुद्ध ध्यान तक पहुंचने का मार्ग है और क्रम से उन्नति कर पंच परमेष्टी के भी ध्यान को छोड़ कर अपनी आत्मा ही में लीन होना परम ध्यान है साक्षात मोक्ष का कारण है और सर्व प्रकार के संकल्प विकल्पों को दूर करके आत्मा को स्थिर करना ही अपनी आत्मा में तल्लीन होना है यह स्थिरता मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकने से ही प्राप्त होती है।

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

अर्थ—तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वह ही ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है इस कारण हे भव्य पुरुषों ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर रहो।

भावार्थ—तप करने वाला, शास्त्र का अभ्यास करने वाला और व्रत पालने वाला ही शुभ वा शुद्ध ध्यान को कर सक्ता है इस हेतु ध्यान करने के अर्थ सदा ही तप करना शास्त्र पढ़ना और व्रत करना उचित है।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा। सोधयंतुतणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणाभणियंजं ॥५८॥

अर्थ—अल्पज्ञान के धारक मुझनेमिचन्द्रमुनि ने जो यह द्रव्य संग्रह कहा है इस को निर्दोष और पूर्णज्ञानी आचार्य शुद्ध करैं।

भावार्थ—यद्यपि श्री नेमिचन्द्र आचार्य जो इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता हैं सिद्धान्त चक्रवर्त्ति और एक बड़े भारी विद्वान महर्षि हुए हैं तथापि वह अपनी लघुता प्रगट करते हुए उन श्रीआचार्यों से जो तत्व के जानने में संशयादि दोषों कर रहित हैं और पूर्णज्ञानी हैं प्रार्थना करते हैं कि यदि इस ग्रन्थ में कहीं भूल चूक हो तो शुद्ध कर देवें, सच है जो अधिक विद्वान और सज्जन तथा गुणी होते हैं उनकी ऐसी ही रीति है वह कदापि अपने ज्ञान का घमण्ड नहीं करते हैं।

इति तृतीयोऽधिकारः।

इति श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ति विरचितः बृहद्द्रव्यसंग्रह समाप्तः ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

हिन्दीभाषा अर्थसहित

जिसको

जैन सिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्द की तरफ़ से
बाबू सूरजभानु वकील देवबन्द ज़िला
सहारनपुर ने प्रकाशित किया।

मूल्य चार आना

काशी

चन्द्रप्रभा यन्त्रालय में गौरीशङ्कर लाल मैनेजर के प्रबन्ध से छपा
बाबू सूरजभानु वकील ने छपवाया।

सन् १९०९ ईस्वी।

॥ श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत

प्रथम अध्याय

मङ्गलाचरण

तज्जयतिपरंज्योतिः सममसमस्तैरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतलइवसकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अर्थ-वह परम ज्योती जयवन्त रहै जिस में सर्व पदार्थ समस्त अनन्त पर्यायों सहित दर्पण के समान झलकते हैं—

परमागमस्यजीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

अर्थ-मैं अनेकान्त को अर्थात् एक पक्ष रहित स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं जो परमागम अर्थात् सत्यसिद्धान्त की जान है, जो जन्म के अन्धों के हस्ति विधान को दूर करने वाला है, जो सर्व प्रकार की नय से प्रकाशित है और विरोध दूर करनेवाला है ॥ भावार्थ-कहावत प्रसिद्ध है कि कई पुरुषों ने जो जन्म से ही अन्धे थे एक हाथी को हाथ से छूकर देखा, जिसने कान को छूआ उसने हाथी को छाजसा बताया, जिसने टांग को हाथ लगाया उसने खंभ सा कहा, इत्यादिक सबने हाथी का रूप भिन्न २ समझा ॥ इसही प्रकार कोई मनुष्य वस्तु की एक अवस्था को देख कर उस वस्तु को उसही रूप समझने लगता है। और दूसरा मनुष्य दूसरी अवस्था को देखता है। और वस्तु को उसही रूप समझ जाता है इससे ही आपुस में विरोध हो रहा है ॥ इस विरोध को दूर करनेवाला अनेकान्त है जो वस्तु की सर्व अवस्थाओं को जांचता है ॥ इसही को स्याद्वाद कहते हैं और यह महिमा श्रीजिनवाणी ही में है जिसको आचार्य नमस्कार करते हैं—

उत्थानिका

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।

अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

अर्थ -- ऐसे परमागम को अर्थात् शास्त्र को जो तीन लोक का अद्वितीय नेत्र है प्रयत्न से निरूपण करके विद्वानों के अर्थ हमारे द्वारा यह पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ उद्धार किया जाता है—

मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। ४ ।।

अर्थ—जगत में धर्म तीर्थ को वह चलाते हैं जो निश्चय व्यवहार को जानने वाले हैं और जिन्हों ने मुख्य और उपचार कथन को वर्णन करके शिष्यों के कठिनता से दूर होने वाले अज्ञानभाव को दूर कर दिया है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्य भूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।। ५ ।।

अर्थ-निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं, बहुधा कर सर्वही संसार भूतार्थ के बोध से विमुख है ।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ।
व्यवहार मेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६ ।।

अर्थ—अज्ञानी जीवों के समझाने के वास्ते मुनीश्वर अभूतार्थ अर्थात व्यवहार का उपदेश करते हैं, जो केवल व्यवहार को ही जानता है उसका उपदेश नहीं है । भावार्थ—वह उपदेश देने योग्य नहीं है—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७ ।।

अर्थ —जैसे सिंह को न जानने वाला बिल्ली ही को सिंह मानै इसही प्रकार निश्चय को न जानने वाले को व्यवहार ही निश्चय रूप होता है, अर्थात वह व्यवहार को ही असली बात समझता है—

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।। ८ ।।

अर्थ—वह ही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त होता है जो व्यवहार और निश्चय को वस्तु स्वरूप के द्वारा यथार्थ जान कर मध्यस्थ अर्थात पक्षपात रहित हो जाता है--

ग्रन्थ प्रारम्भ

जीवात्मा और कर्म

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्श गन्धरस वर्णैः ।
गुण पर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।। ९ ।।

अर्थ—जीवात्मा चेतना स्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध और वर्ण से रहित है, गुण पर्याय सहित है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य वाला है॥ भावार्थ—किसी पर्याय के पैदा होने को उत्पाद, नाश होने को व्यय और स्थिति को ध्रुव कहते हैं—

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अर्थ—अनादि काल से जीव के ज्ञान पर परदा पड़ा हुवा है, इसही अज्ञान अवस्था में वह परिणमता रहता है अर्थात् अवस्था बदलता रहता है—इसही से अपने परिणामों का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृत कृत्यः सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धिमापन्नः ॥११॥

अर्थ—जब वह जीवात्मा ठीक २ पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होकर और सर्व विभावों से पार होकर अचल चैतन्य स्वरूप को पाता है। तब कृत कृत्य हो जाता है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अर्थ—जीव के किये हुये परिणामों के निमित्त से स्वयमेवही पुद्गल परमाणु कर्म रूप हो जाते हैं—

परिणममानस्यचितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवतिहि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्मतस्यापि ॥१३॥

अर्थ—जीव अपने चेतना स्वरूप भावों से स्वयं परिणमता है, पुद्गल कर्म उस परिणाम के निमित्त मात्र हैं॥ भावार्थ—पुद्गल कर्मों से रागादिक भाव होते हैं और रागादिक भावों से पुद्गल कर्म होते हैं—

एवमयं कर्मकृतै भावैरसमाहितोऽपि युक्तइव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

अर्थ—इस प्रकार यह आत्मा कर्मों के किये हुए भावों से भिन्न होने पर भी कमती ज्ञान वालों को रागादि भावों से युक्तही मालूम होता है और ऐसा समझनाही संसार का बीज है—

मुनि और श्रावक् धर्म के उपदेश का सिलसला ।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

अर्थ—उल्टे श्रद्धान को दूर करके अपनी आत्मा के स्वरूप को ठीक२ जान कर उसमें स्थिर होनाही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यानिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः ॥१६॥

अर्थ—इस पदवी को प्राप्त हुए मुनियों की वृत्ति पाप क्रियाओं से दूर और पर पदार्थों से उदासनिरूप लोक प्रचार से विलक्षण ही होती है—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

अर्थ—जो जीव बार बार समझाने पर भी महाव्रत को न ग्रहण करै उसको अनुव्रत का उपदेश होना चाहिये—

योयतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्म मल्पमतिः ।
तस्यभगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अर्थ—जो तुच्छबुद्धि पहले मुनिधर्म को उपदेश न देकर श्रावक धर्म को उपदेश करता है उसको श्रीभगवान् ने दण्डयोग्य बताया है—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽति दूरमपिशिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवतितेन दुर्मतिना ॥१९॥

अर्थ—क्योंकि उस दुर्बुद्धि के बेसिलसिले उपदेश से जो शिष्य अति उत्साहित हुवा ऊपर के दर्जे को ग्रहण करना चाहता है वह भी ठगा जाकर नीचेही दर्जे में रह जाता है—

सम्यक् दर्शन

एवं सम्यग्दर्शन बोध चरित्र त्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्ष मार्गो भवति निषेव्यो यथा शक्ति ॥२०॥

अर्थ—गृहस्थी श्रावक को भी यथा शक्ति सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप मोक्षमार्ग को आगे कहे अनुसार सदा सेवन करना चाहिये—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम खिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र इनतीनों में से पहले सम्यक् दर्शन को अनेक उपायों से भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये। क्योंकि सम्यक् दर्शन के होते हुए ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो सक्ता है—

जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्म रूपं तत् ॥२२॥

अर्थ—उल्टे रूप जानने से रहित हो कर जीव अजीव आदि तत्वार्थ का ही सदा श्रद्धान रखना उचित है यह ही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है—

सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन—१ निःशङ्कित

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तु जातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३॥

अर्थ—सर्वज्ञों ने समस्त पदार्थों को अनेकान्त स्वरूप कहा है अर्थात् यह कहा है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक प्रकार के स्वभाव होते हैं, सर्वज्ञ वाक्य में यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यह बात सत्य है वा झूठ है—

२ निःकाङ्क्षित

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्त वाद दूषित परसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥२४॥

अर्थ—इस जन्म के वास्ते ऐश्वर्य्य सम्पदा आदिक की चाह और जन्मान्तर के वास्ते चक्रवर्ती नारायण आदि पदवी की चाह और ऐसे धर्म की चाह जो एकान्त वाद से दूषित है नहीं करनी चाहिये—

३ निर्विचिकित्सा

क्षुत्तृष्णा शीतोष्ण प्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अर्थ—भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिक नाना प्रकार के भावों में और विष्टा आदिक पदार्थों में ग्लानि नहीं करनी चाहिये—

४ अमूढ़ दृष्टित्व

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवता भासे ।
नित्यमपि तत्त्व रुचिना कर्तव्यममूढ दृष्टित्वम् ॥२६॥

अर्थ—लोक प्रचार में, उन शास्त्रों में जो शास्त्र नहीं हैं और शास्त्र के समान मालूम होते हैं, उस धर्म में जो धर्म नहीं है और धर्म सा मालूम होता है, उस देवता में जो देवता नहीं है और देवता सा मालूम होता है सम्यक्दृष्टी पुरुषों की मूढ़दृष्टि नहीं होनी चाहिये अर्थात् आंख मीचकर नहीं मानना चाहिये सदा जांच करते रहना चाहिये—

५ उपगूहन

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

अर्थ— उपबृहण नामा गुण के वास्ते क्षमा आदि भावों के द्वारा सदा अपनी आत्मा के धर्म को बढ़ाना चाहिये और अन्य पुरुषों के दोषों को भी गुप्त रखना चाहिये—

६ स्थिति करण

काम क्रोध मदादिषु चलयितु मुदितेषुवर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्यास्थितिकरण मपिकार्यम् ॥२८॥

अर्थ—काम क्रोध मद आदि भावों के होने पर धर्ममार्ग से गिरते हुए अपने आप को और अन्यपुरुषों को अनेक युक्तियों से स्थिर करना चाहिये—

७ वात्सल्य

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यम् ॥२९॥

अर्थ—जैनधर्म में जो मोक्षसुख की सम्पदा का कारण है और अहिंसा में और सब धर्मात्मा पुरुषों में सदा परम प्रीति रखनी चाहिये—

८ प्रभावना

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सतत मेव ।
दान तपो जिनपूजा विद्याति शयैश्च जिन धर्मः ॥३०॥

अर्थ--सदाही रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की रोशनी से अपनी आत्मा को प्रकाशित करना चाहिये और दान, तप, भगवान् की पूजा और विद्याभ्यास आदि चमत्कारों से जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये—

—— :O: ——

दूसरा अध्याय

सम्यक् ज्ञान

इत्याश्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्म हितैः ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार जो सम्यक् दृष्टी हैं उन आत्मा के हितकारी पुरुषों को सदा यत्न के साथ जिनआगम और प्रमाणनय के अनुयोगों द्वारा विचार करके सम्यक् ज्ञान को सेवन करना चाहिये—

पृथ गारा धन मिष्टं दर्शन सह भाविनोपि बोधस्य ।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन और सम्यक ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं तो भी सम्यक ज्ञान को अलगही अराधन करना ठीक है क्योंकि इन दोनों में लक्षण के भेद से भिन्नता है—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्तिजिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रदेव सम्यक ज्ञान को कार्य और सम्यक दर्शन को कारण बताते हैं इस हेतु सम्यक दर्शन के पीछेही सम्यक ज्ञान का आराधन करना ठीक है—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपिहि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अर्थ—सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान के एकही काल में उत्पन्न होने पर भी दीवे की बत्ती की लौ और प्रकाश के समान कारण और कार्य-पना है—

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसाय विविक्तमात्मरूपंतत् ॥३५॥

अर्थ—द्रव्यों को जो अनेकान्त रूप हैं अनेक स्वभाव वाले हैं जानना चाहिये यह जानपना अर्थात् सम्यक् ज्ञान संशय विपर्यय और विमोह से रहित होने से आत्मा का निज स्वरूप है—

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेनसोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

अर्थ—ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और दोनों रूप अर्थात् शब्द अर्थ रूप शुद्धता से परिपूर्ण अध्ययन काल में विनय सहित और सन्मान सहित धारणा युक्त गुरू के नाम को न छिपा कर ज्ञान का आराधन करना चाहिये-

—— :o:——

तीसरा अध्याय

सम्यक् चारित्र

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदित तत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्पप्रकम्पैः सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

अर्थ--जिन्होंने दर्शन मोह को नष्ट कर दिया है और सम्यक्ज्ञान से जिनको तत्वार्थ विदित हो गया है जो सदा स्थिरचित्त हैं उनको सम्यक्-चारित्र ग्रहण करना चाहिये—

नहिसम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकंलभ्यते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

अर्थ--जो चारित्र अज्ञान पूर्वक है वह सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता है इस हेतु सम्यक्ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र को आराधन करना कहा है—

चारित्रं भवतियतः समस्तसावद्ययोग परिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीन मात्मरूपंतत् ॥३९॥

अर्थ—क्योंकि समस्त पापरूप मन वचन काय के योगों के त्याग से और सम्पूर्ण कषायों के छोड़ने से जो निर्मल और उदासीनरूप चारित्र होता है वह ही चारित्र आत्मा का स्वरूप है—

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायतेद्विविधम् ॥४०॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, और परिग्रह को सर्व देश और एकदेश त्यागने से चारित्र दो प्रकार का होता है—

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अर्थ—सर्वदेश त्याग में लगा हुवा शुद्धोपयोगरूप अपने स्वरूप में आचरण करने वाला मुनि होता है और जो देशविरति है वह उपासक अर्थात् श्रावक है—

हिंसा

आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेवहिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतंशिष्यबोधाय ॥४२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए पांचो पापों से आत्मा के परिणामों का घात होता है इस हेतु वह सब पाप हिंसा ही है, असत्य, चोरी आदि भेद शिष्यों के समझाने के वास्ते केवल उदाहरण मात्र ही कहे गये हैं—

यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भाव रूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अर्थ—कषाय रूप परिणमन हुए मन वचन काय के योगों से जो द्रव्य-प्राणों और भावप्राणों का घात करना है निश्चय से वह हिंसा होती है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्यसंक्षेपः ॥४४॥

अर्थ—रागादिक भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और रागादिक का उत्पन्न होना हिंसा है यह ही जैनशास्त्र का सार है—

युक्ताचरणस्यसतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
नहिभवतिजातुहिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अर्थ—योग्य आचरण करने वाले सन्तपुरुषों को रागादि भाव के उत्पन्न होने बिदून केवल प्राणपीड़ा से कदाचित भी हिंसा नहीं होती है—

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवोमावा धावत्यग्रेध्रुवंहिंसा ॥४६॥

अर्थ—रागादिक भावों के वशीभूत अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में हिंसा आगे २ दौड़ती है अर्थात् अवश्य होती है चाहे कोई जीव मरो वा मत मरो—

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणान्तु ॥४७॥

अर्थ—क्योंकि कषाय होतेही जीव पहले आपही अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का घात करता है फिर पीछे अन्य किसी जीव का घात हो वा न हो—

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवतिहिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

अर्थ—हिंसा को त्याग न करना भी हिंसा है और हिंसारूपप्रवृत्ति करना भी हिंसा है इस हेतु प्रमादयोग में सदा प्राणघात का सद्भाव है—

सूक्ष्मापिनखलुहिंसा परवस्तुनिबन्धना भवतिपुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धयेतदपिकार्या ॥४९॥

अर्थ—पर वस्तु के सम्बन्ध से निश्चय कर सूक्ष्म हिंसा भी जीव को नहीं होती है क्योंकि हिंसा तो अपनीही आत्मा में रागादिक भावों के उत्पन्न होने का नाम है तो भी परिणामों की विशुद्धता के लिये हिंसा के स्थानों को त्याग करना चाहिये। भावार्थ-रागादि भाव परिग्रह से ही होते हैं इस कारण सर्व पर वस्तुओं का त्याग करना चाहिये—

निश्चयमबुद्धयमानो योनिश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयतिकरणचरणं सबहिःकरणालसो बालः ॥५०॥

अर्थ—जो निश्चय के स्वरूप को न जानकर निश्चय को ही अङ्गीकार करता है वह मूर्ख बाह्यक्रिया में आलसी है और क्रिया आचरण को नष्ट करता है—

अविधायापिहिहिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरोहिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

अर्थ—कोई जीव हिंसा को न करके भी हिंसा के फल का भोगनेवाला होता है और कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगनेवाला नहीं होता है—

एकस्याल्पाहिंसा ददातिकालेफलमनल्पम् ।
अन्यस्यमहाहिंसा स्वल्पफलाभवतिपरिपाके ॥५२॥

अर्थ—एक जीव को थोडीही हिंसा उदयकाल में अधिक फल के देनेवाली होती है और दूसरे जीव को बडी भारी हिंसा भी उदयकाल में थोड़ेही फल को देनेवाली होती है—

एकस्यसैवतीव्रं दिशतिफलंसैवमन्दमन्यस्य ।
व्रजतिसहकारिणोरपि हिंसावैचित्र्यमत्रफलकाले ॥५३॥

अर्थ—एक साथ मिलकर भी की हुई हिंसा उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है। एक को वहही हिंसा अधिकफल देती है और दूसरे को वहही हिंसा कमती फल देती है—

प्रागेवफलतिहिंसा ऽक्रियमाणाफलति फलति च कृतापि ।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलतिहिंसानुभावेन ॥५४॥

अर्थ—कोई हिंसा पहलेही फलती है, कोई करते समयही फलती है, कोई कर चुकने परही फल देती है और कोई हिंसा आरम्भ करके न करने पर भी फल देती है॥ सारांश यह कि हिंसा कषाय भावों के अनुसारही फलती है—

एकःकरोतिहिंसां भवन्तिफलभागिनोबहवः ।
बहवोविदधतिहिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

अर्थ--हिंसा कोई एक पुरुष करता है परन्तु उस हिंसा का फल भोगने के भागी बहुत पुरुष होते हैं॥ किसी हिंसा को बहुत पुरुष करते हैं, और हिंसा के फल को एकही पुरुष भोगता है—

कस्यापिदिशतिहिंसा हिंसाफलमेकमेवफलकाले ।
अन्यस्यसैवहिंसा दिशत्यहिंसाफलंविपुलम् ॥५६॥

अर्थ— फल देने के काल में किसी पुरुष को तो हिंसा एक हिंसा के फल कोही देती है और किसी पुरुष को वहही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है—

हिंसाफलमपरस्यतु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्यपुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अर्थ—इसही प्रकार किसी को अहिंसा भी उदयकाल में हिंसा के फल को देती है और किसी को हिंसा भी अहिंसा केही फल को देती है—

इतिविविधिभङ्गगहने सुदुस्तरेमार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवोभवन्तिशरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त कठिन नानाप्रकार भङ्गरूप गहन बन में रास्ता भूले हुए पुरुषों को अनेक प्रकार की नय के जाननेवाले श्रीगुरुही शरण होते हैं—

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदंजिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयतिधार्यमाणं मूर्धानंझटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रभगवान का अतितीक्ष्ण धारवाला और कठिनता से सिद्ध होनेवाला नयचक्र यदि उसको अज्ञानी पुरुष धारण करें तो वह उनके मस्तक को शीघ्रही खण्डन कर देता है। अर्थात् जैनमत के नयभेद को समझना बहुत कठिन है, जो कोई मूढपुरुष बिन समझे नय चक्र में प्रवेश करते हैं वेलाभ के बदले हानि उठाते हैं—

अवबुध्यहिंस्यहिंसक हिंसाहिंसाफलानितत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्यात्यज्यताहिंसा ॥६०॥

अर्थ—कर्मों के आस्रव को रोकनेवाले पुरुषों को हिंस्य (वह जीव जिनकी हिंसा की जावै) हिंसक (हिंसा करनेवाला) हिंसा (घात करने की क्रिया) और हिंसा का फल इन चार बातों को यथार्थरूप जानकर अपनी शक्ति के अनुसार हिंसा का त्याग करना चाहिये—

आठमूल गुण

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानियत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामै मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अर्थ—जो हिंसा को छोड़ना चाहते हैं उनको प्रथमही यत्न के साथ शराब, मांस, शहद, और पांच उदम्बर फल त्याग देने चाहियें (यह आठ मूल गुण कहलाते हैं)

मदिरा

मद्यंमोहयतिमनो मोहितचित्तस्तु विस्मरतिधर्मम् ।

विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

अर्थ—शराब मन को मोहित करती है और मोहितचित्त धर्म को भूल जाता है और धर्म को भूला हुवा पुरुष बेधड़क हिंसा करने लगता है—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यतेमद्यम् ।

मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

अर्थ—शराब रस से उत्पन्न हुए बहुत से जीवों की खान भी कही जाती है इस कारण शराब पीनेवालों को उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है—

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यारति शोककामकोपाद्याः ।

हिंसायाः पापर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥६४॥

अर्थ—अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि जो हिंसा के रूप हैं वे सब ही शराब के निकट वर्त्ती हैं अर्थात् शराब पीने से यह सब उत्पन्न हो जाते हैं—

मांस

न विनाप्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यतेयस्मात् ।

मांसंभजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिताहिंसा ॥६५॥

अर्थ—प्राण घात के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं कही जाती है इस हेतु मांस खाने वाला हिंसा से नहीं बच सक्ता है उसको अवश्य हिंसा होती है—

यदपिकिलभवतिमांसं स्वयमेवमृतस्य महिषवृषभादेः ।

तत्रापिभवतिहिंसा तदाश्रितनिगोत निर्मथनात् ॥६६॥

अर्थ—यद्यपि स्वयमेव मरे हुवे भैंस बैल आदि का भी मांस होता है परन्तु उस मांस के आश्रित रहने वाले निगोदिया जीवों के घात से उस मांस में भी अर्थात् उस मांस के भक्षण से भी हिंसा होती है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासुमांसपेशीषु ।

सातत्येनोत्पाद स्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

अर्थ—बिना पकी हुई, पकी हुई और पकती हुई मांस की डलियों में भी उसही जाति के निगोदिया जीवों की उत्पत्ति सदा होती रहती है—

आमांवापक्वांवा खादतियःस्पृशतिवापिशितपेशी ।

नि हन्तिस ा ानि चे ां पिण्डं बहुजति कोटीनाम् ॥६८॥

अर्थ—जो कोई कच्ची वा पकी हुई मांस की डली को खाता है वा छूता है वह बहुत जाति के जीव समूह के पिंड को हनता है—

मधु

मधुशकलमपिप्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवतिलोके ।
भजतिमधुमूढधीकोयःसभवतिहिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अर्थ—लोक में शहद का कण भी मक्खियों की हिंसा से ही उत्पन्न होता है इस कारण जो मूर्ख शहद को खाता है वह बड़ा ही हिंसक है—

स्वयमेवविगलितंयो गृह्णीयाद्वाछलेन मधुगोलात् ।
तत्रापिभवतिहिंसा तदाश्रयप्राणिनाङ्घातात् ॥७०॥

अर्थ—और जो शहद की बूँद शहद के छत्ते में से धोके से ली जावै या स्वयमेव नीचे गिरी हुई ली जावे तो भी उस बूँद के आश्रित जीवों के घात होने से हिंसा होती है—

मक्खन

मधुमद्यंनवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णजन्तवस्तत्र ॥७१॥

अर्थ—शहद, शराब, नवनी घी अर्थात् मक्खन और मांस ये महा विकारों को धारण किये हुए चारों पदार्थ व्रतीपुरुषों को नहीं खाने चाहिये इनमें उसही रंग के जीव होते हैं--

पांच उदम्बर फल

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानांतस्मात् तेषान्तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

अर्थ—ऊमर, कठूमर यह दो उदम्बर और पिलखण, वड़ और पीपल का फल त्रस जीवों की खान है इस हेतु इनके खाने में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है—

यानितुपुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणिशुष्काणि ।
भजतस्तान्यपिहिंसा विशिष्टरागादिरूपास्यात् ॥७३॥

अर्थ—और जो यह पांचों उदम्बरफल सूख कर काल पाकर त्रस जीवों से रहित भी हो जावें तौ भी उनके खाने से अधिक रागादिरूप हिंसा होती है भावार्थ—सूखे उदम्बर फलों को तभी कोई खायगा जब उन फलों में अधिक रागभाव होगा और रागभाव उत्पन्न होना हिंसा है क्योंकि रागभाव से आत्मिक शुद्धभाव का घात होता है—

आठ पदार्थों का त्यागीही श्रावक है

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनिपरिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणिशुद्धधियः ॥७४॥

अर्थ—शराब, मांस, शहद और पांच उदम्बर फल यह आठों पदार्थ जो अनिष्ट हैं दुस्तर हैं पापों का स्थान हैं इन आठों को त्याग करही निर्मल बुद्धि वाले मनुष्य जिनधर्म के उपदेश को ग्रहण करने के योग्य होते हैं— भावार्थ—इन आठों पदार्थों का त्याग आठ मूल गुण कहाता है और इनके त्याग के बिदून श्रावक भी नहीं हो सक्ता है—

त्रसहिंसा का त्याग

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहा त्रसहिंसा तेऽपिमुञ्चन्तु ॥७५॥

अर्थ—जो अहिंसा मय धर्म को सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं छोड सक्ते हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा का तो त्याग करैं—

कृतकारितानुमननै र्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्ति र्विचित्ररूपापवादकीत्वेषा ॥७६॥

अर्थ—उत्सर्गरूप अर्थात् सर्वथा त्याग नव प्रकार का है। मन से, बचन से, काय से, आप न करना, दूसरे से न कराना और करते को देखकर खुश न होना ॥ अपवादरूप त्याग अर्थात् इन ऊपर कहे हुए ९ भेदों में से किसी भेद का थोडा बहुत किसी प्रकार से त्याग करना अनेक प्रकार है—

स्थावर हिंसा का त्याग

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवतिकरणीयम् ॥७७॥

अर्थ—विषयों का न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले गृहस्थी लोग अर्थात् श्रावकों को थोडे से एकेन्द्रिय जीवों के घात के सिवाय अन्य एकेन्द्रिय जीवों के मारने का त्याग भी करना चाहिये—

हिंसा का निषेध

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा ।
अवलोक्यबालिशाना मसमञ्जसमाकुलै र्न भवितव्यम् ॥७८॥

अर्थ—ऐसी अहिंसारूपी रसायण को पाकर जो कि सब से उत्कृष्ट और मोक्ष की प्राप्ति का कारण है अज्ञानी जीवों की बेतुकी दशा देख कर

व्याकुल नहीं होना चाहिये, अर्थात् हिंसकमनुष्य को सुखी और व्रतीपुरुषों को दुखी देखकर चलायमान नहीं होना चाहिये—

सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयै र्नजातुभूत्वाशरीरिणोहिंस्याः ॥७९॥

अर्थ—"भगवत का धर्म बहुत बारीक है धर्म के अर्थ हिंसा करने में दोष नहीं है" इस प्रकार धर्म में मूढहृदय होकर अर्थात् मूर्ख बनकर कदाचित भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये—

धर्मोहिदेवताभ्यःप्रभवतिताभ्यः प्रदेयमिहसर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणांनप्राप्यदेहिनोहिंस्याः ॥८०॥

अर्थ—"निश्चय कर धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है उनको यहां सब कुछही देदेना चाहिये" ऐसी उल्टी बुद्धि करके जीवहिंसा नहीं करनी चाहिये—

पूज्यनिमित्तंघाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति सम्प्रधार्यकार्यं नातिथये सत्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अर्थ—"पूज्यपुरुषों के वास्ते बकरा आदि के मारने में कोई भी दोष नहीं है" ऐसा विचार करके अतिथि के वास्ते जीवघात नहीं करना चाहिये—

बहुसत्वघातजनिता दशनाद्वरमेकसत्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अर्थ—"बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है" ऐसा समझ कर कदाचित भी बड़े जीव का घात नहीं करना चाहिये—

रक्षा भवति बहूना मेकस्यैवास्य जीव हरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम् ॥८३॥

अर्थ—"इस एक जीव के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मानकर हिंसक जीवों को भी नहीं मारना चाहिये—

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

अर्थ—बहुत जीवों के घातक यह जीव जीते रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जन करेंगे" इस प्रकार की दया करके भी हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये·

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्तित्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासना कृपाणी मादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

अर्थ—"बहुत दुःखों से पीडित जीव जल्दी ही दुःख से छूट जावेंगे" इस प्रकार के विचाररूपी तलवार को ग्रहण करके दुखी जीव को भी नहीं मारना चाहिये—

कृच्छ्रेणसुखावाप्ति र्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिनएव ।
इति तर्क मण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

अर्थ—"सुख की प्राप्ति कष्ट से ही होती है इस हेतु मारे हुवे सुखी जीव सुखी ही होवेंगे" इस प्रकार के कुतर्क की तलवार सुखी जीवों के घात के वास्ते नहीं उठानी चाहिये—

उपलब्धिसुगतिसाधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येणशिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलाषिता ॥८७॥

अर्थ—अधिक अभ्यास से अच्छी गति के साधन समाधि के सार को प्राप्त हुवे गुरु का मस्तक सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य को नहीं काटना चाहिये, भावार्थ-यह समझ कर कि गुरु जिस समय समाधि में लगा हुवा हो उस समय उसके प्राण त्याग होने से वह सीधा बैकुण्ठ को जावैगा गुरु को नहीं मारडालना चाहिये--

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनायदर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयंनैवखारपटिकानाम् ॥८८॥

अर्थ—धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास दिलाने के वास्ते बात बनानेवाले खारपटिकों की "घड के फूटतेही तुरन्त चिडिया की मुक्ति के समान मुक्ति" को नहीं मानना चाहिये (खारपटिक कोई मत था जो शरीर के छूटने कोही मोक्ष मानता था जैसे घडे में चिडिया बन्द होतो घडे के फूटतेही चिडियास्वतन्त्र हो जावैगी, इस सिद्धान्त से वह जीव को मारकर उसको मोक्ष प्राप्त कराना बताते थे)

दृष्ट्वापरम्पुरस्ता दशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसा दालभनीयोन चात्मापि ॥८९॥

अर्थ—किसी बहुत भूखे पुरुष को भोजन के वास्ते सन्मुख आता हुआ देखकर जल्दी में अपने शरीर का मांस देने से अपनी आत्मा का भी घात नहीं करना चाहिये—

कोनामविशतिमोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥९०॥

अर्थ—नयभंग के जाननेवाले गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्य को जाननेवाला अहिंसाधर्म को अंगीकार करता हुवा ऐसा कौन निर्मल-बुद्धि है जो मोह को प्राप्त हो—

असत्यवचन

यदिदंप्रमादयोगाद सदभिधानं विधीयेतकिमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्तिचत्वारः ॥ ९१ ॥

अर्थ—किसी भी प्रमाद कषाय के योग से जो वचन स्व पर को हानि-कारक अथवा अन्यथारूप बोला जाता है उसको अनृत अर्थात् असत्यवचन जानना चाहिये इसके चार भेद हैं—

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्ध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अर्थ—जिस वचन में अपने द्रव्यक्षेत्र काल भाव करिके विद्यमान भी वस्तु निषेद की जाती है (मौजूद वस्तु को नहीं है ऐसा कहा जाता है) वह प्रथम असत्य है जैसे यहां देवदत्त नहीं है (और वास्तव में वहां देवदत्त है)

असदपि हि वस्तुरूपं यत्रपरक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यतेद्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्तिघटः ॥९३॥

अर्थ—जिस वचन में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव करके अविद्यमानवस्तु भी विद्यमान प्रगट की जाती है (न मौजूद वस्तु को मौजूद कहा जाता है) वह दूसरा असत्य है जैसे यहां घड़ा है (और वास्तव में वहां घड़ा नहीं है)

वस्तु सदपिस्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्व ॥९४॥

अर्थ—जिस वचन में अपने स्वरूप में स्थित वस्तु को भी अन्यरूप से कहा जावे वह तीसरा असत्य है जैसे गाय को घोड़ा कहना—

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवतिवचनरूपंयत् ।
सामान्येनत्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयन्तु ॥९५॥

अर्थ—चौथे प्रकार का असत्य साधारण रीति से गर्हित, सावद्य और अप्रिय तीन प्रकार का माना गया है-

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपियदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

अर्थ—चुगलीरूप, हास्ययुक्त, कठोर, बेतुके, गप्पशप्परूप और भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन हैं वेसब गर्हित वचन कहे जाते हैं–

छेदनभेदनमारण कर्षण वाणिज्यचौर्य्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अर्थ—छेदने, भेदने, मारने, कर्षणकरने, व्यापार और चोरी आदि के जो वचन हैं वह सब सावद्य वचन हैं क्योंकि यह बचन जीव हिंसा आदि की प्रवृत्ति कराते हैं

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियंज्ञेयम् ॥९८॥

अर्थ—जो वचन दूसरे जीव को अप्रीति का करनेवाला, भय का करने वाला, खेद का करने वाला, वैर, शोक और कलह का करने वाला और आताप का करने वाला हो वह सब अप्रियवचन जानना चाहिये—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतु कथनम्यत् ।
अनृतवचनेऽपि यस्मान्नियतं हिंसासमवतरति ॥९९॥

अर्थ—क्योंकि इन सब बचनों का हेतु एक प्रमत्त योग अर्थात् रागभाव ही कहा गया है इस वास्ते असत्य वचन में भी सदा हिंसा ही होती है—

हेतौप्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादे रनुवदनं भवतिनासत्यम् ॥१००॥

अर्थ—समस्त असत्य वचनों का हेतु प्रमत्तयोग ही कायम होने से छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य बातों का कथन करना असत्यवचन नहीं हो जाता है भावार्थ—असत्य बचन के त्यागी महामुनि आदिक हेयोपादेय का उपदेश बारम्बार करते हैं उनके पाप की निंदा करने वाले वचन पापीजीवों को तीर के समान अप्रिय लगते हैं, सैकड़ों जीव दुःखी होते हैं परन्तु उन्हें असत्य भाषण का दोष नहीं लगता है क्योंकि उनके वचन कषाय प्रमाद को लिये हुवे नहीं हैं—

भोगोपभोगसाधन मात्रं सावद्यमक्षमामोक्तुम् ।
येतेऽपि शेषमनृतं समस्तमपिनित्यमेवमुञ्चन्तु ॥१०१॥

अर्थ—जो कोई उतना सावद्यवचन नहीं छोड़ सक्ते हैं जितने से उनके भोग और उपभोग का साधन होता है वे भी अपने भोग उपभोग के साधन करने वाले सावद्यवचन के सिवाय अन्यसमस्तप्रकार के असत्यवचनों को सदा ही त्याग करें—

चोरी

अवितीर्णस्यग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयंस्तेयं सैवचहिंसा वधस्यहेतुत्वात् ॥१०२॥

अर्थ—प्रमत्तयोग अर्थात् रागादिभाव से पदार्थ के ग्रहण करने को चोरी जानना चाहिये और वह ही चोरी वध के हेतु से हिंसा भी है—

अर्थानामयएते प्राणाएते वहिश्चराः पुंसाम् ।
हरतिसतस्यप्राणान् योयस्यजनोहरत्यर्थान् ॥१०३॥

अर्थ—जो मनुष्य जिस किसी के धन को हरता है वह उसके प्राणों को हरता है क्योंकि जितने धनादिक पदार्थ हैं वे सब ही पुरुषों के बाह्य प्राण हैं—

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात् ।
ग्रहणेप्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

अर्थ—हिंसा के और चोरी के अव्याप्ति दोष नहीं है (जो लक्षण पदार्थ के एकदेश में व्याप्ति होवे उसे अव्याप्ति कहते हैं) चोरी में वह हिंसा भलीभांति घटित होती है क्योंकि दूसरों के ग्रहण किये द्रव्य को लेना प्रमत्त योग अर्थात रागद्वेषादिकभाव से ही होता है—

नातिव्याप्तिश्चतयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपिकर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

अर्थ—वीतराग पुरुषों में प्रमत्तयोग के न होने से कर्म परमाणुओं के ग्रहण करने में उनको चोरी का दोष नहीं लगता है, इस हेतु हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है (किसी लक्षण का अन्यकिसी वस्तु में भी होना अतिव्याप्ति है)

असमर्थायेकर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपिसमस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अर्थ—जो कोई पराये जलाशयों (कूआ तालाब आदि) का जल वा मिट्टी आदि का लेना नहीं छोड़ सक्ते हैं उन्हें भी अन्यसमस्त ही बिना दी हुई वस्तु का त्याग करना चाहिये—

कुशील

यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तद्ब्रह्म ।
अवतरातितत्रहिंसा वधस्यसर्वत्रसद्भावात् ॥१०७॥

अर्थ—स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन वेदों की रागभावरूप उत्तेजना से जो मैथुन किया जाता है वह अब्रह्म है, उसमें सर्वत्र जीव घात होने से हिंसा होती है—

हिंस्यन्तेतिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवोजीवायोनौ हिंस्यन्ते मैथुनेतद्वत् ॥१०८॥

अर्थ—जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोहे के डालने से तिल भस्म हो जाते हैं उसही प्रकार मैथुन करने से योनि में बहुत जीव मरते हैं—

यदपिक्रियतेकिञ्चिन् मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि ।
तत्रापिभवतिहिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अर्थ—काम (शहवत) के अधिक भड़कने के कारण जो कुछ भी अनङ्ग क्रीड़ा (सहवास करने के योग्य अंगों से भिन्न दूसरे अंगों के द्वारा कामक्रीड़ा का करना) की जाती है उसमें भी रागादिभाव की उत्पत्ति होने से हिंसा ही होती है—

येनिजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्तिनहिमोहात् ।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अर्थ—जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहित स्त्री को नहीं छोड़ सक्ते हैं उन्हें भी अन्यसमस्तस्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिये—

परिग्रह

यामूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णोमूर्छातु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अर्थ—जो मूर्छा है उसको ही परिग्रह जानना चाहिये और मोह के उदय से ममत्वपरिणामों का उत्पन्न होना मूर्छा है—

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटाव्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थोमूर्छावान्विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥११२॥

अर्थ—परिग्रह का लक्षण मूर्छा होने से व्याप्ति ठीक बैठती है क्योंकि अन्य सब परिग्रह के न होने पर भी (सब वस्तुओं को त्याग कर नग्न दिगम्बर होने पर भी) मूर्छावान् पुरुष अर्थात जिसके हृदय में वस्तुओं का ममत्व बसा हुवा है वह निश्चय कर परिग्रही ही है—

यद्येवंभवतितदापरिग्रहो न खलुकोपिवहिरङ्गः ।
भवतिनितरां यतोऽसौधत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

अर्थ—यदि ऐसाही होता अर्थात् मूर्छा ही परिग्रह होती तो बाह्य कोई भी वस्तु परिग्रह न होती (ऐसा नहीं है) क्योंकि यह बाह्यपरिग्रह सदाही मूर्छा का निमित्त कारण है—

एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अर्थ—यदि यह कहो कि इस प्रकार बाह्यपरिग्रह की अति व्याप्ति होती है अर्थात् वीतरागी पुरुष भी कर्मपरमाणुओं को ग्रहण करते हैं इस कारण वह परमाणु बाह्यपरिग्रह मानना चाहिये तो ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि कषायरहितपुरुषों के कर्म परमाणु ग्रहण करने में मूर्छा नहीं है—

अतिसंक्षेपाद्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवतिद्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अर्थ—वह परिग्रह बहुत संक्षेप से कहने में अन्तरङ्ग और बाह्य दो प्रकार है पहला अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह प्रकार है और दूसरा बाह्यपरिग्रह दो प्रकार है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्चषड्दोषाः ।
चत्वारश्चकषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तराग्रन्थाः ॥११६॥

अर्थ-मिथ्यात्व और वेद के राग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद) इसही प्रकार हास्य आदिक छै दोष (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) इस प्रकार अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह हैं—

अथनिश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्यपरिग्रहस्यभेदौ द्वौ ।
नैषः कदापिसङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्त्ततेहिंसां ॥११७॥

अर्थ—बाह्यपरिग्रह के अचित्त (जीव रहित वस्तु रुपया पैसा महल मकान कपडा आदिक अजीव वस्तु) और सचित (जीव सहित वस्तु गाय, घोड़ा, नौकर चाकर आदिक) यह दो भेद हैं, यह सर्व ही परिग्रहहिंसा को कभी भी नहीं छोडते हैं अर्थात् इनके कारण हिंसा अवश्य होती है, इनही के कारण रागभाव होता है और रागभावों का होना ही हिंसा है।

उभयपरिग्रहवर्ज्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

अर्थ-जैनसिद्धान्त के जानने वाले आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह के ग्रहण को हिंसा बताते हैं—

हिंसापर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु ।
बहिरङ्गेषुतुनियतं प्रयातुमूर्छैवहिंसात्वम् ॥११९॥

अर्थ-अन्तरङ्ग परिग्रह तो हिंसा की पर्यायही है अर्थात् कषाय आदिक सब हिंसा के ही रूप हैं इस हेतु अन्तरङ्ग परिग्रह में हिंसा सिद्ध हीं है और बाह्यपरिग्रह में मूर्छा अर्थात् ममत्वही हिंसापने को प्राप्त होती है अर्थात् विना ममत्वपरिणाम के परिग्रह नहीं होता है जैसे केवलीभगवान के समवशरण की विभूति परिग्रह नहीं है--

एवं न विशेषः स्यादुन्दर रिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवतिविशेषस्तेषां मूर्छाविशेषेण ॥१२०॥

अर्थ-यदि ऐसा ही है तो बिल्ली और हरिण के बच्चे आदिक में कुछ भेद न होवे परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि मूर्छा के भेद से अर्थात् ममत्व के कमती बढती होने से उन में भेद है—

हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारेसैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

अर्थ हरे घास के तिनके चरने वाले हरिण के बच्चे में मूर्छा कमती होती है और वह ही मूर्छा चूहों के समूह को कुचल डालने वाले बिलाव में अधिक होती है—

निर्बाधंसंसिद्ध्येत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेदइव ॥१२२॥

अर्थ-जिस प्रकार दूध खांड में मिठास के कमती बढती होने से रुचि में भेद होता है इस ही प्रकार कारण के भेद से कार्य में भी भेद अवश्य सिद्ध होता है—

माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धेमन्दैवमन्दमाधुर्य्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यतेतीव्रा ॥१२३॥

अर्थ थोडे मिठास वाले दूध में मिठास की रुचि थोडी ही कही जाती है वह ही रुचि बहुत मिठास वाली खांड में बहुत है—

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्चचत्वारः ॥१२४॥
प्रविहाय च द्वितीयान् देशचारित्रस्यसन्मुखायातः ।
नियतंतेहि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५॥ युग्मं ॥

अर्थ—पहले ही तत्वार्थ का श्रद्धान न होने देने वाले मिथ्यत्व को तथा सम्यग्दर्शन के चुराने वाली चार कषायों अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ को और दूसरे अप्रत्याख्यानावर्णी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय को छोड कर देश चरित्र के सन्मुख आता है क्योंकि नियमरूप यही ही कषाय देश चरित्र को रोकती है—

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्द्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

अर्थ—अपनी शक्ति से मार्दव और शौच आदि भावनाओं के द्वारा बाकी सब अन्तरङ्गपरिग्रहों का त्याग करना चाहिये—

बहिरङ्गादपि सङ्गा यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तंवा ॥१२७॥

अर्थ—चूंकि बाह्यपरिग्रह से भी अनुचित असंयम होता है इस कारण उन सबको भी छोड देना चाहिये चाहे वह बाह्यपरिग्रह अचित्त हो या सचित्त हो-

योऽपिनशक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।
सोऽपितनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

अर्थ—और जो पुरुष धन धान्य, मनुष्य, गृह सम्पदादि के छोड़ने को समर्थ नहीं है उसे भी परिग्रह को कमती करना चाहिये क्योंकि त्यागरूप ही तत्व है—

रात्रिभोजनत्याग ।

रात्रौभुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवतिहिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अर्थ—चूंकि रात्रि में भोजन करने वालों की हिंसा दूर ही नहीं हो सक्ती है इस कारण हिंसा के त्यागी को रात में खाने का भी त्याग करना चाहिये—

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्ततेहिंसाम् ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथंहि हिंसानसंभवति ॥१३०॥

अर्थ—रागादि के उदय की अधिकता से त्याग का न होना हिंसा ही है तो रात दिन खाने वालों को हिंसा कैसे नहीं हो सक्ती है—

यद्येवंतर्हिदिवा कर्तव्यो भोजनस्यपरिहारः ।
भोक्तव्यंतुनिशायां नेत्थं नित्यं भवतिहिंसा ॥१३१॥

अर्थ—यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है तो दिन में भोजन करना छोड़ देना चाहिये और रात्रि को खाना चाहिये क्योंकि इस प्रकार नित्य की हिंसा नहीं होगी (इस प्रश्न का आचार्य अगले श्लोक में उत्तर देते हैं)

नैवंवासरभुक्तेः भवतिहिरागाधिकोरजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अर्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि अन्न के ग्रास के खाने की अपेक्षा मांस के ग्रास के खाने में जिस प्रकार राग अधिक होता है वैसेही दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात को भोजन करने में अधिक राग होता है—

अर्कालोकेनविना भुञ्जानः परिहेत् कथं हिंसाम् ।
अपिबोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

अर्थ—सूर्य के प्रकाश के विना अर्थात् रात्रि में भोजन करने वाले के दीपक जलाने पर भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्मजीवों की हिंसा किस प्रकार दूर की जावेगी—

किंवाबहुप्रलपितै रिति सिद्धंयो मनोवचनकायैः ।
परिहरतिरात्रिभुक्तिं सततमहिंसांस पालयति ॥१३४॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या है जो कोई मन वचन काय से रात को भोजन करने का त्याग करता है वह निरंतर अहिंसाको पालन करता है—

इत्यत्रीत्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वाहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्तिते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अर्थ—इस प्रकार इस लोक में जो अपने हित के चाहने वाले रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदा प्रयत्न करते हैं वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं—

व्रतों के शील व्रत

परिधयइवनगराणि व्रतानिकिलपालयन्तिशीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अर्थ— जैसे नगर के चारों तरफ की दीवार नगर की रक्षा करती है इसही प्रकार व्रतों की पालना तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे सात शीलों से होती है इस हेतु व्रतों के पालन करने के वास्ते शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिये—

दिग्व्रत

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्योदिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचालिता ॥१३७॥

अर्थ—पूर्व आदि सब दिशाओं में अत्यंत प्रसिद्ध ठिकानों से सब तरफ मर्यादा (हद) करके गमन करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये अर्थात् अमुक हद से बाहर नहीं जाऊंगा यह दिग्व्रत नाम का शीलव्रत है।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते य स्ततोबहिस्तस्याः ।
सकलासंयमविरहा द्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अर्थ—जो पुरुष इस प्रकार दिशा के मर्यादा किये हुवे भाग में ही अपना काम करता है उसके उस हद से बाहर समस्त ही असंयम का त्याग होने से पूर्ण अहिंसा व्रत होता है।

देशव्रत

तत्रापिच परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधायनियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अर्थ— और उस दिग्व्रत में भी ग्राम, बाजार, मकान, मुहल्ला आदिक का परिमाण करके किसी नियत समय के वास्ते उससे बाहर स्थान का त्याग करना चाहिये (यह देश व्रतनामा शील है)

इति विरतोबहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्यागी निर्मलबुद्धि उस काल के वास्ते उस स्थान में उत्पन्न होने वाली हिंसा के त्याग से अधिकतर अहिंसा को पालता है।

अनर्थदंडव्रत

पापर्द्धिजयपराजय सङ्गरपरदारगमन चौर्याद्याः ।
नकदाचनापिचिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अर्थ—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिक का कदाचित् भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये क्योंकि इन खोटे ध्यानों का फल पाप ही है यह अनर्थदंड नाम का शील व्रत है—अनर्थदंड के पांच भेद हैं १ अपध्यान २ पापोपदेश ३ प्रमादचर्या ४ हिंसादान ५ दुःश्रुति-इस श्लोक में अपध्यान का वर्णन है।

विद्यावाणिज्यमषी कृषि सेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

अर्थ—विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी, और कारीगरी जीविका करने वाले पुरुषों को पाप का उपदेश देने वाला बचन कदाचित् भी नहीं कहना चाहिये (यह पापोपदेश नाम का दूसरा अनर्थदंड है)

भूखननवृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

अर्थ—धरती खोदना, वृक्ष उखाडना, घास की जगह को रौंदना, पानी सींचना आदि और पत्र, फल, फूल तोड़ना भी विना प्रयोजन के नहीं करना चाहिये। यह प्रमादचर्या नामा तीसरा अनर्थदंड है।

असिधेनुविषहुताशन लाङ्गल करवाल कार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अर्थ—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, आदि हिंसा के औजारों को दूसरों को देना यत्न के साथ त्याग देवै (यह हिंसादान नामा चौथा अनर्थदंड है)

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोध बहुलानाम् ।
न कदाचनकुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अर्थ—राग आदि को बढ़ाने वाली और बहुत करके अज्ञानता से भरी हुई खोटी कथाओं अर्थात् कहानियों का सुनना, इकट्ठा करना और सीखना आदि कदाचित् भी न करै (यह दुःश्रुति नाम का पांचवा अनर्थ-दंड है)

जूआ

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्ममायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अर्थ—जूए को जो सर्वअनर्थों का सरदार, संतोष का नाश करने-वाला, मायाचार का घर और चोरी तथा झूठ का ठिकाना है दूरसेही त्याग कर देना चाहिए।

एवं विधिमपरमपि ज्ञात्वामुञ्चत्यनर्थदण्डं यः ।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अर्थ जो पुरुष इस प्रकार अन्य भी अनर्थ दण्डों को जान करके त्याग करता है उसको निर्दोषअहिंसाव्रत सदा विजय प्राप्त कराता है।

सामायिक

रागद्वेषत्यागा न्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

अर्थ—रागद्वेष के त्याग से समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समताभाव को अङ्गीकार करके बारम्बार आत्मतत्व के मूलकारण सामायिक को करना चाहिये [यह सामायिक नामा शीलव्रत है]

रजनीदिनयोरन्त्ये तदवश्यं भावनीयमविचालितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषायतद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अर्थ—वह सामायिक रात और दिन के अन्त में [सुबह और शाम] बिला नागा एक चित्त होकर अवश्य करनी चाहिये, फिर यदि अन्य समय में भी की जावे तो वह सामायिक दोष के वास्ते नहीं है किन्तु गुण के ही वास्ते होती है ।

सामायिक श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

अर्थ—इस सामायिक में लगे हुए श्रावकों के चारित्र मोह के उदय होते भी समस्तपाप के योगों के दूर होने से महाव्रत होता है।

प्रोषधोपवास

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

अर्थ—प्रतिदिन अङ्गीकार किये हुए सामायिक संस्कार को स्थिर करने के वास्ते दोनों पक्षों के अर्धभाग में (प्रत्येक अष्टमी चौदश को) उपवास अवश्य करना चाहिये (यह प्रोषधोपवास नामा शीलव्रत है)

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीया न्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अर्थ—समस्त आरंभ को छोड कर और शरीर आदि से ममत्व को त्याग कर उपवास के दिन के पहले दिन के मध्य में अर्थात् दो पहर से ग्रहण करै ।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

अर्थ—पश्चात् निर्जनवस्तिका (कुटी) में पहुँच कर, समस्तपाप

योग को त्याग कर, सब इन्द्रियों के विषय से विरक्त हो कर मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति सहित तिष्ठै।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्यविहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

अर्थ—करली गई है संध्या की विधि (सामायिकादि) जिस में ऐसे दिन को धर्मध्यान में लीन हुए व्यतीत करके स्वाध्याय के द्वारा निद्रा को जीतता हुआ पवित्र साथरे पर रात्रि को गमावै।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अर्थ—फिर प्रातःकाल उठ कर उस समय की क्रियाओं को करके प्राशुक द्रव्य से विधिपूर्वक भगवान् की पूजा करै।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नाद् दर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अर्थ—इसके पश्चात् पूर्वोक्तविधि से उपवास के दिन को और दूसरी रात को बिताकर तीसरे आधे दिन को भी यत्न के साथ व्यतीत करै।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

अर्थ—जो जीव इस प्रकार सकल पाप क्रियाओं से छूट कर सोलह पहर व्यतीत करता है उसको उतने समय तक अवश्य पूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥१५९॥ (युग्मम्)

अर्थ—निश्चय कर के इन देशव्रती श्रावकों के भोग उपभोग के कारण स्थावर की हिंसा होती है परन्तु उपवास के समय भोग उपभोग के न होने से लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है, उपवास धारी मनुष्य के वचन गुप्ति के होने से झूठवचन नहीं है, अदत्तादान के न होने से चोरी नहीं है, मैथुन को छोड देने से अब्रह्म नहीं है, शरीर में ममत्व न होने से परिग्रह भी नहीं है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

अर्थ—इस प्रकार वह प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष संपूर्ण हिंसा से अलग हो कर उपचार से महाव्रतीपने को प्राप्त होता है, किन्तु चारित्र-मोह के उदय होने के कारण संयम के स्थान अर्थात् छटे प्रमत्तगुणस्थान को नहीं पाता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

भोगोपभोगमूला विरता विरतस्य नान्यतोहिंसा।
अधिगम्यवस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपित्याज्यौ ॥१६१॥

अर्थ—देशव्रती श्रावक के भोग और उप भोग के निमित से ही हिंसा होती है, हिंसा का कोई और दूसरा कारण नहीं है। इस लिये वस्तुस्वरूप को और अपनी शक्ति को पहचान कर यह दोनों भोग और उपभोगभी त्यागने चाहिये (यह भोगोपभोगपरिमाण नामा शील व्रत है)

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

अर्थ—एक (अनन्तकाय) को भी घात करने की इच्छा करने वाला पुरुष अनन्तजीवों को मारता है इस हेतु अवश्य सबही अनन्तकायों का त्याग करना चाहिये। भावार्थ-एक साधारण बनस्पती में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं वह वनस्पती अनन्तकाय कहलाती है, उस एक वनस्पती के भक्षण से अनन्तजीवों की हिंसा होती है इस कारण ऐसी वनस्पती का त्याग करना चाहिये जिसमें निगोदिया जीव हों।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अर्थ—और नोनी घी (मक्खन) भी जो बहुत से जीवों की खान है त्यागने योग्य है और आहार की शुद्धि में जो जो वस्तु विरुद्ध हैं वह भी सबही त्यागने योग हैं।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमतात्याज्याः।
अत्याज्येस्वपिसीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को अपनी शक्ति को देख कर अविरुद्धभोग भी त्यागने योग्य हैं और जिन का त्याग न हो सके उनको भी एक दिन रात की मर्यादा करके त्यागै।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजांशक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवतिकर्तव्या ॥१६५॥

अर्थ—अपनी उसी समयसम्बंधी शक्ति को देख कर पहले की हुई मर्यादा में भी प्रतिदिन मर्यादा करना योग्य है। भावार्थ-जिस वस्तु को हमेशा के वास्ते या बहुत काल के वास्ते न छोड़ सके उसको एक दिन के वास्ते त्याग करना योग्य है।

इति यः परिमितभो गैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष इस प्रकार परिमाण किये हुवे भोगों से सन्तुष्ट होकर अन्यभोगों को त्यागता है उसका बहुत हिंसा के त्याग होने से उत्तम अहिंसा-व्रत होता है।

अतिथिसंविभागव्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अर्थ—दाता के गुण वाले गृहस्थी को अपने और पर के अनुग्रह के कारण दिगम्बरअतिथि के वास्ते देने योग्य वस्तु का भाग विधिपूर्वक अवश्य करना चाहिये। भावार्थ-साधु को दान देना चाहिये (यह अतिथि संविभाग शील व्रत है)

सङ्ग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामञ्च।
वाक्कायमनःशुद्धि रेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥

अर्थ—आदरपूर्वक अपने घर में साधु का प्रवेश कराना, ऊँचा स्थान देना, पैर धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन वचन काय की शुद्धि और भोजन की शुद्धि इसको विधि कहते हैं। भावार्थ--यह नौ ९ विधि दान की हैं जिनको नवधा भक्ति कहते हैं।

ऐहिकफलानपेक्षान्तिर्निष्कपटता न सूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमितिहि दातृगुणाः॥१६९॥

अर्थ—लौकिक फल प्राप्ति की ग़रज़ का होना, क्षमा, कपट का न होना, ईर्षा रहित होना, क्लेशित चित्त न होना, हर्ष का न होना और अभिमान का न होना, यह दाता के सात गुण हैं।

रागद्वेषासंयम मददुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यंतदेवदेयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

अर्थ—जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिक उत्पन्न नहीं करती है और उत्तम तप और स्वाध्याय की वृद्धि करने वाली है वह ही देने योग्य है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अर्थ—मोक्ष के कारणरूप अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपगुणों से संयुक्त पात्र अर्थात् दान के योग्य पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं। अविरतिसम्यग्दृष्टी, देशव्रती, और महाव्रती।

हिंसायाःपर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतोदाने।
तस्मादातिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अर्थ—चूंकि इस दान में हिंसा की एक पर्याय जो लोभ है उसका नाश किया जाता है इस हेतु अतिथि को दान देना हिंसा का त्यागही माना है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्यापरानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथंनहिलोभवान् भवति ॥१७३॥

अर्थ—वह पुरुष लोभी कैसे नहीं है जो घर पर आये हुए ऐसे अतिथि को दान नहीं देता है जो गुणी है और जो भ्रमर की समान वृत्ति से किसी को पीडा नहीं देता है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अर्थ—जो अपने वास्ते बनाया हुवा भोजन भाव सहित अप्रेम और विषाद रहित होकर मुनि को दिया जाता है वह लोभ को शिथिल करने वाला दान अहिंसा ही होता है।

सल्लेखना

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समंनेतुं।
सततामति भावनीया पश्चिमसल्लेखनाभक्त्या ॥१७५॥

अर्थ—यह एकही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ लेचलने को समर्थ है इस प्रकार भक्ति करके मरणांतसल्लेखना अर्थात् मरणसमाधि निरन्तर भावनी चाहिये।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदंशीलम् ॥१७६॥

अर्थ—मैं मरण समय में अवश्य ही विधि के साथ सल्लेखना करूँगा इस प्रकार की भावनारूप परिणति करके मरण से पहले ही इस शील (सल्लेखना व्रत) को पालना चाहिये।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

अर्थ—अवश्य होनहार मरण के होते हुए कषाय को कमजोर करने वाली सल्लेखना में लगे हुवे पुरुष के रागादि भावों के न होने के कारण आत्मघात नहीं है-अर्थात् सल्लेखना करने में आत्मघात का दोष नहीं है।

योहिकषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविशशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान्तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥

अर्थ—जो पुरुष कषाय के वश होकर स्वांस के रोकने से जल, अग्नि, जहर या शास्त्रआदिक से प्राणों को छुड़ाता है उसको आत्मघात सचमुच होता है।

नीयन्तेऽत्रकषाया हिंसाया हेतवोयतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपिततः प्राहुरहिंसां प्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अर्थ—चूंकि इस सल्लेखना में हिंसा के कारणों अर्थात् कषायों की क्षीणता होती है इस हेतु (आचार्य) सल्लेखना को भी अहिंसा की ही सिद्धि के अर्थ कहते हैं।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

अर्थ—जो इस प्रकार पंच अणुव्रतों की रक्षा के अर्थ समस्तशीलों को निरन्तर पालना है उसको मोक्षपद की लक्ष्मी अतिशय उत्कंठित स्वयंवर की कन्या के समान आपही वर लेती है।

अति चार

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषुशीलेषुपञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदित शुद्धिप्रति बन्धिनोहेयाः ॥१८१॥

अर्थ—सम्यक्त में, व्रतों में और शीलों में पांच पांच अतीचार इस प्रकार कुल सत्तर अतीचार जो यथार्थशुद्धिता के रोकने वाले हैं त्यागने योग्य हैं।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

शङ्कातथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवाऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अर्थ— शङ्का, वांछा, ग्लानि, मिथ्या दृष्टियों की स्तुति और मन से उनकी प्रशंसा यह सम्यक दृष्टि के ५ अतीचार हैं—

अहिंसा व्रत के ५ अतीचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्चरोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अर्थ— छेदना, ताडना, बांधना, अधिक बोझ लादना, और अन्न पानी का न देना यह पांच अहिंसा व्रत के अतीचार हैं—

सत्यव्रत के अतीचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोभ्याख्यान कूटलेख कृती ।
न्यासापहार वचनं साकार मन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अचौर्यव्रत के ५ अतीचार

अर्थ— झूठा उपदेश देना, एकान्त की गुप्त बात को प्रगट करना, झूठ लिखना, धरोहर के हरने का वचन कहना, शरीर की चेष्टा से जान कर दूसरे के अभिप्राय को प्रगट कर देना यह सत्य व्रत के अतीचार हैं—

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृता दानम् ।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमान करणे च ॥१८५॥

अर्थ— चोखी वस्तु में उसही रूप की खोटी वस्तु मिलाकर बेचना, चोरी में सहायता देना, चोरी की वस्तु को लेना, राज के नियम के विरुद्ध कार्य करना, और नापने तोलने के औज़ार कमती बढ़ती रखना, यह अचार्य व्रत के अतीचार हैं—

अब्रह्मके अतीचार

स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमन चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

अर्थ— काम सेवन की बहुत लालसा रखना, योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंग से काम क्रीड़ा करना, अन्य का विवाह करना, विना विवाही वा विवाही हुई व्यभिचारणी स्त्रीयों के यहां गमन, यह पांच अब्रह्म अनुव्रत के अती चार हैं।

अपरिग्रह के अतीचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्यभेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

अर्थ—मकान धरती, सोना चान्दी, धनधान्य, दास दासी, दो प्रकार के वस्त्र, इनके परिमाण का उल्लङ्घन करना यह पांच अपरिग्रह व्रत के अतीचार हैं ।

दिग्व्रत के अतीचार

ऊर्द्धमधस्तात्तिर्य्यक्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अर्थ—ऊपर, नीचे, और समान भूमि के किए हुए परिमाण को उलंघना, क्षेत्र की वृद्धि करना, और याद न रखना, यह पांच अतीचार प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रत के कहे गये हैं ।

देशव्रत के अतीचार

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपाविनिपातौ ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

अर्थ—परिमाणित क्षेत्र से किसी को बाहर भेजना किसी वस्तु का मंगाना, शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना, पुद्गल पदार्थ का फेंकना, यह पांच दूसरे शील अर्थात् देश व्रत के अतीचार हैं ।

अनर्थ दंड के अतीचार

कन्दर्प्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम् ।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

अर्थ—हंसी ठठोल, भंड रूप कायचेष्टा, भोग के पदार्थों का अनर्थ संग्रह करना, बकवाद करना, बिना विचारे कार्य करना, यह तीसरे शील अनर्थ दंड के पांच अतीचार हैं ।

सामायिक के अतीचार

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

अर्थ—वचन, मन, और काय की खोटी प्रवृत्ति, अनादर, और पाठ भूल जाना यह चौथे शील सामायिक के पांच अतीचार हैं ।

प्रोषधोपवास के अतीचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।

स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अर्थ—बिना शोधे और बिना झाड़े वस्तु को लेना वा सांथरा करना वा मल मूत्र त्यागना, प्रोषध विधि का भूल जाना और अनादर यह उपवास के पांच अतीचार हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतीचार

आहारोहिसचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः ।

दुष्पक्वोऽभिपवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अर्थ—सचित आहार, सचित से मिला हुवा आहार, सचित से सम्बंधित आहार, कमती पका हुआ आहार और पुष्टि कारक आहार यह पांच अतीचार छटे शील भोगोपभोग परिमाण व्रत के हैं।

अतिथिदान व्रत के पांच अतीचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।

कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अर्थ—दूसरे को कह जाना कि तू दान दे देना, सचित वस्तु में आहार का रखना, सचित से आहार का ढकना, आहार देने का समय टाल देना, देने वालों से इर्षा तथा उनकी प्रशंसा को न सह सकना, यह अतिथि दान के पांच अतीचार हैं।

सल्लेखना के ५ अतीचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।

सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखना काले ॥१९५॥

अर्थ—जीने की इच्छा, मरणे की इच्छा, मित्रों में अनुराग, सुख का चिन्तवन, और आगामी के वास्ते भोगों की वांछा, यह पांच सल्लेखना समय में अतीचार होते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य ।

सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्याचिरात् ॥१९६॥

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थ इन अतीचारों को और अन्य दोषों को भी विचार के साथ त्याग कर निर्मल सम्यक्त्व, व्रत और शील व्रतों के द्वारा शीघ्र ही पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता है।

इति देश चरित्र कथन

सकल चारित्र

तप

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितं ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

अर्थ—जैन सिद्धान्त में चारित्र के ही अंतर्वती होने से तप को भी मोक्ष का अङ्ग कहा है इसलिये अपने बल को नहीं छिपाने वाले और सावधान चित्त वाले पुरुषों को वह भी सेवन करना योग्य है।

अनशनमवमोदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशोवृत्तेः सङ्ख्याचनिषेव्यमितितपो बाह्यम् ॥१९८॥

अर्थ—अनशन अर्थात् न खाना, अवमोदर्य अर्थात् कमती खाना विविक्त शय्यासन अर्थात ऐसे स्थान में सोना बैठना जहां बिषयी पुरुषों का आना जाना न हो, रस परित्याग अर्थात् दूध घृतादि रसों का त्याग, काय क्लेश अर्थात काया को क्लेश देना, वृत्ति परिसंख्या अर्थात अमुक आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति की मर्यादा करना, इस प्रकार बाह्य तप सेवन करना चाहिये—भावार्थ बाह्य तप के यह छै भेद हैं।

विनयो वैय्यावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैवचोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथध्यानं भवति निषेव्यंतपोऽन्तरङ्गमिति ॥१९९॥

अर्थ-विनय करना, वैय्यावृत्ति अर्थात पूज्य पुरुषों की टहल करना, प्रायश्चित अर्थात दोष होने पर दंड लेना, उत्सर्ग अर्थात परिग्रह में ममत्व का छोड़ना, स्वाध्याय, और ध्यान यह अन्तरङ्ग तप सेवन करने योग्य हैं—भावार्थ—यह छै प्रकार के अंतरंग तप हैं।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणांयदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्यनिजां पदवींशक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अर्थ—जिनेश्वर के सिद्धान्त में मुनियों का जो आचरण कहा है वह अपनी पदवी और शक्ति को विचार कर गृहस्थियों को भी सेवन करना चाहिये

षटआवश्यक क्रिया

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं वपुषोव्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥२०१॥

अर्थ—समता अर्थात सम्यक् भाव रखना, स्तवन अर्थात पंच परमेष्ठी

का गुणानुवाद करना, बन्दना अर्थात नमस्कार करना, प्रतिक्रमण अर्थात प्रमाद से किये हुए दोषों का दूर करना, प्रत्याख्यान अर्थात आगामी कर्मों के आस्रव को रोकना, और कायोत्सर्ग अर्थात काया को निश्चल होकर सामायिक करना, यह छै आवश्यक क्रिया करनी योग्य हैं।

गुप्ति

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनांत्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अर्थ—शरीर, बचन और मन को भले प्रकार बश करना, इन तीन गुप्तियों को जानना चाहिये।

समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपोव्युत्सर्गः सम्यगितिसमितिः ॥२०३॥

अर्थ—विधि के साथ जाना आना, विधि के साथ बोलना, योग्य आहार, यत्न पूर्वक उठाना धरना, और विधि के साथ मल मूत्र आदि डालना यह पांच समिति हैं (इर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग यह पांच समिति हैं)

दशलक्षण धर्म

धर्मःसेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्मत्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अर्थ—क्षमा अर्थात् क्रोध का न होना, मार्दव अर्थात् मान का न होना, आर्जव अर्थात् माया का न होना, शौच अर्थात् लोभ का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि और बाह्य शरीर आदिक को पवित्र रखना, सत्य अर्थात् सच बोलना, आकिंचन्य अर्थात् परिग्रह का त्याग, तप, त्याग अर्थात् दान देना, संयम अर्थात् इन्द्रियों का बश करना, और त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना ब्रह्मचर्य अर्थात मैथुन त्याग, इस प्रकार धर्म सेवन करने योग्य हैं यह दश धर्म कहाते हैं।

बारह भावना

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौच मास्रवोजन्म ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अर्थ—अध्रुव अर्थात कोई वस्तु सदा रहने वाला नहीं है, अशरण

अर्थात संसार में जीव को कोई शरण नहीं है, एकत्व अर्थात जीव अकेला है, अन्यत्व अर्थात जीव शरीर आदिक से भिन्न है, आस्रव अर्थात कर्मों की उत्पत्ति किस विधि होती है, संसार अर्थात जीव अनेक पर्याय में भ्रमता रहता है, लोक अर्थात लोक के आकार विस्तार आदिक का चिंतवन, धर्म अर्थात धर्म ही से संसारीक सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती है, बोध दुर्लभ अर्थात ज्ञान का मिलना बहुत कठिन है, संवर अर्थात कर्मों की उत्पत्ति किसी विधि रुक सक्ती है, निर्जरा अर्थात कर्म किस विधि दूर होते हैं, यह बारह भावना निरंतर चिंतवन करनी चाहियें।

२२ परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वंयाचना रतिरलाभः ।
दंशोमसकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥
स्पर्शश्चतृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथाप्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या वधोनिपद्यास्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥ विशेषकम्–

अर्थ—जिसके चित्त में क्लेश नहीं है और जो क्लेश के निमित्त रूप संसार से भय भीत हैं ऐसे साधु को क्षुधा अर्थात भूख, तृषा अर्थात प्यास, शीत अर्थात जाड़ा, उष्ण अर्थात गर्मी, नग्न अर्थात नंगा रहना, याचना अर्थात मांगना, अरति अर्थात रागद्वेष का न होना, अलाभ अर्थात किसी वस्तु का प्राप्त न होना, मसक दंश अर्थात मच्छरों का काटना, आक्रोश अर्थात खोटे बचन, रोग अर्थात बीमारी, अंगमल अर्थात शरीर का मैल, तृण स्पर्श अर्थात काटों का पैर में चुभना, अज्ञान अर्थात तपश्चरण करने पर भी पूर्ण ज्ञान का न होना, अदर्शन अर्थात बहुत तपश्चरण करने पर भी ऋद्धि सिद्धि के प्राप्त न होने से संयम के फल में शंका करना, प्रज्ञा अर्थात ज्ञान का मान करना, सत्कार पुरस्कार अर्थात आदर सत्कार चाहना और तिरस्कार में रंज करना, शय्या अर्थात भूमि पर शयन करना, चर्या अर्थात बिना सवारी के चलना, बध अर्थात बध बन्धनादि दुःख उठाना, निषद्या अर्थात भयंकर जंगल में रह कर भय मानना, स्त्री अर्थात स्त्री की सुंदरताई को देखकर आकर्षित होना, यह बाइस परीषह भी जीतने योग्य हैं।

गृहस्थों को उपदेश

इतिरत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अर्थ—अविनाशी मुक्ति के अभिलाषी गृहस्थों को इस प्रकार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय एक देश भी निरंतर पालने योग्य है ।

बद्धोद्यमेननित्यंलब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्यमुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अर्थ —रत्नत्रय के लाभ के समय को प्राप्त करके और मुनियों के चरण के सहारे निरंतर उद्यमवान गृहस्थी को यह विकल रत्नत्रय शीघ्र परिपूर्ण करने चाहियें ।

असमग्रंभावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अर्थ—विकल रत्न त्रय पालने वाले का जो कर्म बंध है वह राग भाव से होने पर भी मोक्ष का ही उपाय है, बंधन में पड़ने का उपाय नहीं है— भावार्थ-जिससे कमती रत्नत्रय पलता है वह भी मोक्ष का ही उपाय करता है संसार में रुलने का उपाय नहीं करता है, क्योंकि शुभ भाव के कारण वह पुन्य प्रकृत्ति ही का बंध करता है जो परम्परा मोक्ष का कारण है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्यबन्धननास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानंतेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१३
येनांशेन चरित्रंतेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१४॥

अर्थ—इस आत्मा के जिस अंश से सम्यक् दर्शन है उस अंश से बन्धन नहीं है तथा जितने अंश से इसके राग है उस अंश से बन्धन होता है, जिस अंश से इसके ज्ञान है उस अंश से बन्धन नहीं है, और जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बन्धन होता है, जितने अंश से इसके चारित्र है उस अंश से बन्धन नहीं है तथा जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है ।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धोभवतितु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपंच ॥२१५॥

अर्थ—योग अर्थात मन वचन काय की क्रिया से प्रदेश बन्ध होता है, स्थिति बंध कषाय से होता है, सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र न योग रूप है और न कषाय रूप है भावार्थ—रत्नत्रय से न स्थिति बंध हो सक्ता है और न प्रदेश बंध।

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मम परिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनिचारित्रंकुतएतेभ्यो भवतिबन्धः ॥२१६॥

अर्थ—अपनी आत्मा का निश्चय होना सम्यक दर्शन है, आत्मा का विशेष ज्ञान सम्यक ज्ञान है और आत्मा में स्थिरता सम्यक चारित्र है इन तीनों से कैसे बंध हो सक्ता है अर्थात् नहीं हो सक्ता है।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्म्मणोबन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चरित्र से तीर्थंकर प्रकृति और आहार प्रकृति का जो बन्ध शास्त्र में कहा गया है वह भी नय के जानने वालों के दोष के वास्ते नहीं है।

सातिसम्यक्त्वचरित्रे तीर्थङ्कराहारबन्धकौभवतः ।
योगकषायौनासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुवे तीर्थंकर और आहार प्रकृति के बंध के करने वाले योग और कषाय होते हैं और न होते हुवे नहीं होते हैं परन्तु वह सम्यक्त्व और चरित्र इस बंध में उदासीन अर्थात् अलग ही रहते हैं वे योग और कषाय के उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं-दृष्टान्त-श्रीसिद्ध भगवान का गुणानुवाद करने से पुन्य बंध होता है परन्तु श्री भगवान पुन्य बंध के करने वा कराने वाले नहीं हैं वह उदासीन ही हैं।

ननुकथमेवंसिद्ध्यतिदेवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धोरत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सब मनुष्यों में जो यह बात भली भान्ति प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय के धारी मुनियों को देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियों का बन्ध होता है यह बात कैसे सिद्ध होगी-आगे इसका उत्तर देते हैं।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवतिनान्यस्य ।
आस्रवतियत्तुपुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥११०॥

अर्थ—इस लोक में धर्म मोक्ष का ही कारण होता है अन्य गति का नहीं और जो पुन्य कर्म पैदा होते हैं वह शुभ उपयोग का ही अपराध है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्ध कार्य्ययोरपिहि ॥
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥१११॥

अर्थ—एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी अर्थात् एक दूसरे से विरुद्ध दो कार्यों का मेल होने से एक भी दूसरे के समान कहलाया जाने लगता है, जैसे घी जलाता है, अर्थात घी का स्वभाव जलाने का नहीं है घी का स्वभाव तो गर्मी के कमती करने का ही है परन्तु यदि घी और अग्नि मिल जावें अर्थात् घी गर्म हो जावे और उस गर्म घी से किसी का शरीर जल जावे तो यह ही कहते हैं कि घी ने जलाया यद्यपि जलाया अग्नि ही ने जो घी के साथ शामिल थी।

सम्यक्त्व चरित्र बोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

अर्थ—इस प्रकार यह निश्चय और व्यवहार रूप सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र लक्षण युक्त मोक्ष का मार्ग पुरुष को परम पद को प्राप्त कराता है॥

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

अर्थ—परम पुरुष अर्थात् जिसने परम पद प्राप्त कर लिया है वह सदा निर्लेप अर्थात् कर्म रज के लेप से रहित अपने स्वरूप में अवस्थित निरुपघात अर्थात् जो किसी से घात नहीं हो सक्ता आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल परम पद अर्थात् मोक्ष स्थान में प्रकाशमान होता है।

कृतकृत्यः सरमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा ।
परमानन्द निमग्नोज्ञानमयो नन्दतिसदैव ॥२२४॥

अर्थ—वह कृतकृत्य अर्थात् जिसको कुछ करना नहीं रहता है, सब पदार्थों का जानने वाला परम आनन्द में निमग्न और ज्ञानमय परमात्मा परमपद में अर्थात् मोक्ष में सदा ही आनन्द रूप रहता है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेनजयति जैनीनीतिर्मन्थान नेत्र मिवगोपी ॥२२५॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध के विलोने वाली ग्वालिनी दूध बिलोने की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे से ढीला करती है, दोनों की क्रिया से मक्खन बनाने की सिद्धि करती है-इस ही प्रकार श्री जिनेंद्र की नीति वस्तु के तत्व को एक से अर्थात् सम्यक दर्शन से खींचती है और दूसरे से अर्थात सम्यक ज्ञान से ग्रहण करती है और अन्त कैसे अर्थात सम्यक चारित्र से जय को प्राप्त होती है ।

अथवा इसका यह भी अर्थ है कि जिस प्रकार ग्वालनि दही बिलोते समय एक हाथ से मथानी की रस्सी को खींचती है और दूसरे हाथ से ढीली करती है इसही प्रकार जो वस्तु के स्वरूप को एक हाथ अर्थात द्रव्यार्थिक नय से खींचती है और दूसरे हाथ अर्थात पर्यायार्थिक नय से शिथिल करती है वह जैनियों की न्याय पद्धति जयवन्तीर है भावार्थ जिस प्रकार ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिये दही मे मथानी (रई) चलाती है और वह उसकी रस्सी को जिस समय एक हाथ से अपनी तरफ़ खींचती है उस समय दूसरे हाथ को ढीला कर देती है और फिर जब दूसरे हाथ से अपनी तरफ़ खींचती है तब पहले को ढीला कर देती है परन्तु एक को खींचते समय दूसरे को सर्वथा छोड़ नहीं देती है इसही प्रकार जैन नीति जब द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का ग्रहण करती है तब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु में उदासीन भाव धारण करती है और जब पर्यायार्थिक नय से ग्रहण करती है तब द्रव्यार्थिक की अपेक्षा उदासीनता धारण करता है परन्तु दोनों को पकड़े रखती है ।

वर्णैःकृतानि चित्रैः पदानितुपदैः कृतानिवाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अर्थ—नाना प्रकार के अक्षरों से पद बने और पदों से वाक्य बने और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बना है हमने कुछ भी नहीं किया है— भावार्थ—इन वाक्यों से ग्रन्थकर्त्ता श्रीमान अमृत चंद्राचार्य ने ग्रन्थ रचने का अभिमान छोड़ कर अपनी लघुता प्रगट की है ।

इति

सर्वप्रकार के छपे हुए श्रीजैन ग्रन्थों के
मिलने का पता—
बाबू सूरजभानु वकील
देवबन्द जिला सहारनपुर।

श्री

परमात्मप्रकाश

प्राकृत ग्रन्थ

हिन्दी भाषा अर्थसहित ।

प्रकाशक—

बाबू सूर्य्यभानु वकील

देवबन्द, जिला सहारनपुर.

मूल्य छै आना

सन् १९०९

शिवलाल गणेशीलाल ने

अपने "लक्ष्मीनारायण" यन्त्रालय

मुरादाबाद में छापा.

प्रस्तावना ।

श्रीपरमात्मप्रकाश अध्यात्मकथनी का ग्रन्थ है-निश्चयनयकी अपेक्षा से ही इस ग्रन्थ के आशयको समझने की ज़रूरत है-निश्चय व्यवहार दोनोंही प्रकार की कथनी धर्मात्मा पुरुषों को जानने की आवश्यक्ता है इसही विचार से हमने यह ग्रन्थ छपाया है-लेखकों की असावधानी से श्रीजैनमंदिरों में ग्रन्थ बहुत ही अशुद्ध मिलते हैं इसकारण शुद्ध करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है हमको एक प्राचीन शुद्धलिपि प्राकृत ग्रन्थ की मिलगई जिसके आधारपर हमको इस ग्रन्थ के छापने का साहस हुवा यदि वह प्राचीन पोथी हमको न मिलती तो हम जैनमंदिरों से बीस प्रति इकट्ठी करने परभी शुद्ध नहीं करसक्ते थे-अब भी कहीं कहीं अशुद्धि अवश्य रहगई होंगी जिसकी सूचना विद्वानों के द्वारा मिलनेपर आगामी शुद्धि करादीजावैगी ।

भाषाअनुवाद हमने एक भाषाटीका के आधार पर किया है-यदि कहीं भूल रहगई हो तो अवश्य हमको सूचना मिलनी चाहिये-अनुवाद बहुत संकोच रूप है जिसमें शब्दार्थ और भावार्थ दोनों आगया है आशा है कि हमारी इस अनुवाद की प्रणाली को सब पसन्द करैंगे ।

देवबन्द
जिला सहारनपुर
१२।२।०९

सब भाइयों का दास
सूरजभानु वकील

॥ श्रीवीतरागायनमः ॥

श्रीयोगेंद्रदेव विरचित।

परमात्मप्रकाश

प्राकृत दोहा।

जे जाया झाणग्गिणए, कम्म कलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

जो ध्यानरूपी अग्नि से कर्मकलंक को जलाकर नित्य. निरंजन (कर्म मलसे रहित) ज्ञानस्वरूप हुवेहैं ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार होवे ॥

ते वंदउ सिरि सिद्धगण, होसहि जेवि अणंत।
सिवमई णिरुवम णाणमई, परम समाहि भजंत ॥ २ ॥

जो अनन्तजीव आगामी काल में रागादि विकल्प रहित परम समाधिको पाकर शिवमई, निरूपम और ज्ञानमई सिद्ध होवेंगे उन को नमस्कार करता हूं ॥

तेहउ वंदउ सिद्धगण, अत्थहिं जे विह वंति।
परम समाहि महिग्गयण, कम्मंधणइ हुणंति ॥ ३ ॥

कर्मरूप ईंधन को जलाकर जो श्रीसिद्धभगवान् इस समय विदेहक्षेत्र में विराजमान् हैं उनको मैं भक्ति सहित नमस्कारकरताहूं॥

तेपण वंदउ सिद्धगण, जे णिव्वाणि वसंति।
णाणे तिहु यणि गरुयापि, भवसायर न पडंति ॥ ४ ॥

उन सिद्धों को भी नमस्कार करताहूं जो निर्वाण भूमिमें अर्थात मोक्षस्थान में बसते हैं, तीर्थंकर अवस्था में जीवों को ज्ञान देनेके कारण हमारे तीनों भवके गुरु हैं परन्तु वे संसारमें नहीं पड़तेहैं ॥

तेपुणु वंदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंति।
लोया लोउ विसय लुइहु, अछहिं विमलु णियंति ॥ ५ ॥

उन सिद्धों को नमस्कार करताहूं जो अपने आत्मस्वरूप में ही बसते हैं और लोक अलोक के समस्त पदार्थों को निर्मल प्रत्यक्ष ज्ञान से देखते हैं ॥

केवल दंसण णाण मय, केवल सुक्ख सुहाव ।
जिणवर बंदउं भत्तियए, जेहिं पयासिय भाव ॥ ६ ॥

श्रीजिनेंद्र देव को भक्तिभाव से नमस्कार करताहूं, केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीरज से मंडित हैं और जिन्होंने जीव अजीव आदिक पदार्थों के स्वरूप को प्रकाश कियाहै॥

जे परमप्प णियंति मुणि, परम समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणेण, तिएणवि तेवि णवेवि ॥ ७ ॥

जिन मुनि महाराजोंने परमानन्द के देनेवाली परम समाधि को लगाकर परम पद प्राप्त किया है उन तीनों को मेरा नमस्कार हो—अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु को ॥

भावें पणविवि पंच गुरु, सिरि जोइंदु जि णाव ।
भट्ट पहायरि विएणविउ, विमलुकरे विणुभाव ॥ ८ ॥

अपने मनको निर्मल करके और पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके श्रीजोगेंद्राचार्य से प्रभाकर भट्ट विनती करताहै ॥

गउ संसार वसंतिहं, सामिय कालु अनंतु ।
परमइ किंपिण पत्त सुहु, दुक्खुजिपत्तु महंतु ॥ ९ ॥

हेस्वामी! इस संसार में भ्रमतेहुवे मुझको अनन्तकाल वीते परन्तु मैंने सुख कुछभी न पाया महान् दुःखही उठाया ॥

चउगइ दुक्खहिं तत्त यह, जो परमप्पउ कोइ ।
चउगइ दुक्ख विनास यरु, कहहु पसायं सोइ ॥ १० ॥

जो चारगतिकेदुःखोंमें तप्तायमान होरहाहै और चारगतिकेदुःखों को विनाश कर परमपद प्राप्त करनाहै हे स्वामी उसका वर्णन करो

पुणुपुणु पणविवि पंचगुरू, भावें चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर निसुणि तुहुं, अप्पातिविहु कहेवि ॥ ११ ॥

(आचार्य कहतेहैं) हे प्रभाकर! तू निश्चयके साथ सुन मैं भक्ति का भाव मनमें रखकर पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके तीनप्रकार की आत्माका वर्णन करता हूं ॥

अप्पा तिविहु मुणेव लहु, मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि संणाणे णाणमउ, जो परमप्प सहाउ ॥ १२ ॥

आत्माको तीन प्रकार जानकर प्रथम बहिरात्मभावको छोड़

और अंतरात्मा होकर केवल ज्ञानपूर्ण परमात्मा का ध्यान कर ॥

मूढ़ वियक्खणु बंभुपरु, अप्पा तिविहु हवेइ ।
देहु जिअप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढ हवेइ ॥ १३॥

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन प्रकारकी आत्मा है जो अपने शरीर को ही आपा मानता है वह मूर्ख अर्थात् बहिरात्मा है ॥

देहहं भिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ ।
परम समाहि परिट्ठियउ, पंडिय सो जिहवेइ ॥ १४ ॥

जो आत्मा को देहसे भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमसमाधि में स्थित जानता है वह अन्तर आत्मा है ॥

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मावि मुक्के जेण ।
मिल्लिवि सयलुवि दव्वु तुहुं, सो परु मुणहि मणेण॥ १५॥

जो अपने आप को प्राप्तहुवाहै ज्ञानमई है कर्मोंसे रहितहै उसको तू अपने मनको तीनप्रकार की शल्यसे शुद्धकरके परमात्माजान॥

तिहुयण वंदिउ सिद्धिगउ, हरिहर झायहिं जोजि ।
लक्खु अलक्खे धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ १६ ॥

तीनलोक जिसकी वंदना करताहै हरिहर आदिक जिसका ध्यान करते हैं वह सिद्ध भगवान् परमात्माहै ॥

णिच्च णिरंजण णाण मउ, परमाणंद सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥

नित्यहै, निरंजन है अर्थात् रागादिक मलसे रहितहै, ज्ञानस्वरूप है, परमानन्द स्वरूपहै जो ऐसाहै वहही शांतिहै शिवहै ऐसा जान कर तू अपने स्वरूप को अनुभवकर ॥

जो णियभाउ ण परिहरइ, जो परभाउ ण लेइ ।
जाइण सयलुवि णिच्चुपर, सो सिव संत हवेइ ॥ १८ ॥

जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ताहै और परवस्तुके भावको नहीं ग्रहण करताहै और निजको और परको अर्थात् तीन लोकके त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानताहै वहही शांति शिव है ॥

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्द ण फास ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण, विणाउ णिरंजण तासु ॥ १९ ॥
जासु ण कोहु ण मोहमउ, जासु ण माया माण ।

जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सोजि णिरंजण जाण॥ २० ॥
अत्थि ण पुराण ण पाउ जसु, अत्थि ण हरसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कुवि दोसु जसु, सोजि णिरंजण भाउ ॥ ११ ॥

जिसमें वरण, गंध, रस, शब्द, स्पर्शन नहींहै अर्थात देहधारी नहींहै जिसका जन्म नहीं, मरण नहीं वही निरंजनहै ॥

जिसको क्रोध नहीं मोहनहीं मद नहीं माया नहीं और मान नहीं है जिसमें ध्यान और ध्यानस्थान भी नहीं है उसही को तू निरंजन जान ॥

जिसके पुण्य पाप नहींहै हर्ष [illegible]षाद नहीं है जिसमें किसी प्रकार का भी दोष नहींहै ऐसे जीव को निरंजन अनुभव कर ॥

जासु ण धारणु धेउ णवि, जासु ण तंनु ण मंतु ।
जासु ण मंडल मंडलु मुद्द णावि, सो मुणिदेउ अणंतु ॥ २२ ॥

धारण, ध्येय, जंत्र, मंत्र, मंडल और मुद्रादिक जिस में नहीं हैं वहही देव अनन्तहै ॥

वेयहि सत्थहि इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल झाइहिं जो विसउ, सो परमप्प अणाइ ॥ ११ ॥

वह परमात्मा वेद शास्त्र और इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है.वह निर्मल ध्यानसे ही जाना जासक्ता है ॥

केवल दंसण णाणमणउ, केवल सुक्ख सहाउ ।
केवल वीरिउ सो मुणहिं, जोजि परावरु भाउ ॥ २४ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीरज रूप ही को तू परमात्मा जान ॥

एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं, जोपर णिक्कल देव ।
सो तहिं णिवसइ परमपइ, जो तिल्लोयहिं झेउ ॥२५॥

जो इस प्रकार के लक्षणों वालाहै और तीनलोक जिसकी बंदना करताहै जो सर्वोत्कृष्ट है,शरीररहितहै,वहपरमात्मा लोकके अन्त पर तिष्टै है ॥

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ वंभुपरु, देहहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

जैसा निर्मल और ज्ञानमई परमात्मा सिद्ध अवस्था मेंहै वह

ही परमब्रह्म संसार अवस्था में शरीर में रहता है—अर्थात् यह देहधारी संसारी जीवही सिद्ध पदको प्राप्त होता है॥

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु, कम्मइं पुव्व कियाइं।
सो परु जाणहि जोइया, देहि वसंतु ण काइं ॥ २७ ॥

जिस परमात्मा के ध्यानसे पूर्व उपार्जित कर्म नाश होते हैं वह परम उत्कृष्ट जानने योग्य तेरी देहही में बसताहै अन्यकहींनहींहै

जित्थु ण इंदिय सुह दुहइं, जित्थु ण मण वावारु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, अण्णु परे अवहारु ॥ २८ ॥

जिसको इन्द्रियों का सुख दुःख नहीं है और जिसमें मनका व्यापार अर्थात् संकल्प विकल्प नहींहै उसही को तू आत्मा जान अन्य जो कुछ है वह पर है उसको तू छोड़दे॥

देहा देहहं जो वसइ, भेया भेय णएण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, किं अण्णं बहुएण ॥ २९ ॥

देह के साथ एकमेक होकर जो देह में बसताहै और नय कथन से भेदाभेद रूप है अर्थात् देहसे जुदा है, हे जीव तू उसको आत्मा जान अन्य जो अनेक पदार्थहैं उनमे क्या प्रयोजनहै॥

जीवाजीव म एक्कु करि, लक्खण भेए भेउ।
जो परु सो परु भाणि मुणि, अप्पा अप्पु अभेउ ॥ ३० ॥

जीव और अजीव को तू एक मतकर यह दोनों अपने अपने लक्षण से जुदे जुदे हैं जो परहैं उनको पर जान और आत्माको आत्मा जान॥

अमणु अणिंदिउ णाणमउ, मुत्ति रहिउ चिम्मत्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥

मन रहित है इन्द्रियरहित है ज्ञानमई है मूर्तिरहित है चेतन मात्र है इन्द्रियों से नहीं जाना जासक्ता है निश्चय से आत्मा के यह लक्षण हैं॥

भवतण भोय विरत्त मण, जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लड़ी, संसारिणि तुट्टेइ ॥ ३२ ॥

संसार शरीर भोगमें जो मन लगा हुवा था उस मन को जो आत्मीक ध्यान में लगाता है उसकी संसार के बढ़ाने वाली बेल टूट जातीहै अर्थात् संसार परिभ्रमण बंद होजाता है॥

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु ।
केवल णाणा फुरंत तणु, सो परमप्पु भणंतु ॥ ३३ ॥

संसारी जीवके शरीर रूपी चैत्यालय में जो बसता है वहही देवहै अनादि अनन्त है उसहीको केवल ज्ञानकी शक्तिहै उसहीको परमात्मा कहतेहैं ॥

देहि वसंतुवि णवि छिवई, णियमे देहुवि जोजि ।
देहैं छिप्पइ जोजि णावि, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ ३४ ॥

जो देहमें रहते हुवाभी देह को नहीं छूताहै अर्थात् देह रूप नहीं होजाताहै और देहभी उस रूप नहीं होजातीहै वहही परमात्माहै ॥

जो समभाव परिट्ठियहं, जो इहिं कोवि फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु, सो परमप्पु हवेइ ॥ ३५ ॥

समता भाव अवस्थामें अर्थात सुखदुःख जीवन मरण शत्रु मित्र आदिक को बराबर समझ कर निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर जिसको परम आनन्द प्राप्त होताहै वहही परमात्माहै ॥

कम्मणि वद्धुवि जोइया, देह वसंतुवि जोजि ।
होइ णसयलु कयावि फुडु, मुणि परमप्पउ सोजि॥३६॥

यद्यपि कर्मोंसे बंधाहुवा शरीरमें बसताहै परन्तु कभीभी शरीर रूप नहीं हो जाताहै वहही परमात्माहै उसको तू जान ॥

जो परमत्थें निकलुवि, कम्मवि भिण्णउ जोजि ।
मूढासयलु भणंति फुडु, मुणि परमप्पउ सोजि ॥३७॥

जो निश्चय नयसे अर्थात् असली स्वभाव की अपेक्षा शरीर रहित और कर्म रहितहै अर्थात् शरीर में रहना और कर्म बंधन में पड़ना जिसका असली स्वभाव नहींहै मूढ़मिथ्या दृष्टिलोग जिसको शरीररूप जानतेहैं अर्थात् देहधारी होना उसका असली स्वभाव समझतेहैं वही परमात्मा है ॥

गयणि अणंतु जि एक्कु उडु, जेहउ भुवणु विहाइ ।
मुक्कहं जसु पए विंविय, सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥

जिसके अनन्तानन्तज्ञान में तीनलोक ऐसा है जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र अर्थात् एक तारा वही ही परमात्मा है ॥

जोइय विंदहिं णाणमउ, जो झाइज्झइ झेउ ।

मोक्खं कारगु अगावरउ, सो परमप्पउ देव ॥ ३९ ॥

श्रीमुनिमोक्ष प्राप्त होने के हेतु जिस ज्ञानमई आत्मा का ध्यान करते हैं अर्थात् अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं वहही आत्मा परमात्मा है और देवहै ॥

जो जिउ हेउल्लहेवि विहि, जगु वहुविहउ जगोइ ।
लिंगत्तय परिमंडियउ, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४० ॥

जो ज्ञानावरणादिक कर्मोंका निमित्त पाकर अर्थात् कर्मों के वश होकर त्रस स्थावर स्त्री पुरुष आदिक अनेक रूप संसार को उपजावैहै अर्थात् संसार में अनेक पर्य्याय धारण करता है उसही को तू परमात्मा जान ॥

जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग अब्भंतर जोजि ।
जगवि वसंतुवि जगु जिगावि, मुणि परमप्पउ सोजि ॥ ४१ ॥

जिसके केवल ज्ञान में सारा जगत् बसताहै अर्थात् सारा जगत् जिसको प्रतिभासता है और वह जगत्का जानने वाला जगत् में बसैहै परन्तु वह जानने वाला जगत् रूप नहीं होजाता है वह ही परमात्मा है। भावार्थ-जैसे किसी वस्तु को देखकर कहदेते हैं कि वह वस्तु हमारी आंख में है और यह भी कहते हैं कि हमारी आंख उस वस्तुमें है परन्तु आंख अलगहै और देखने योग्य वस्तु अलगहै इसही प्रकार संसारके पदार्थों को देखने वाला जीवहै ॥

देह वसंतुवि हरि हरवि, जे अज्झवि ण मुणंति ।
परम समाहि भवेण विणु, सो परमप्पु भणंति ॥ ४२ ॥

शरीर के अन्दर जो आत्मा बसता है उसको परम समाधि के भावसे रहित हरिहर आदिक नहीं पहचानसक्ते हैं-वह ही परमात्मा है ॥

भावाभावहि संजवउ, भावाभावहिं जोजि ।
देहिजि दिट्ठउ जिणवरहिं, मुणि परमप्पउसोजि ॥ ४३ ॥

जो निजभाव से संयुक्त और परभाव से रहित है उसको परभाव से रहित और निजभाव से संयुक्त होकर श्रीजिनेंद्र देवने देहमें देखाहै उसको तू परमात्मा जान ॥

देह वसंते जेण पर, इंदिय गाउ वसेइ ।

उव्वसु होइ गएण फुडं, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥

जिसके देहमें बसने से इन्द्रियों वाला ग्राम बसता है और जिसके निकलजानेसे उजड़जाता है उसको तू परमात्मा जान। भावार्थ-जब तक जीव देहमें रहता है तबही तक आंख नाक आदिक इन्द्रियां अपना २ काम करती हैं और जब जीव निकलजाता है तब कोई भी इन्द्रिय नहीं रहती है ॥

जो णिय करणहिं पंचहिं वि, पंचवि विसय मुणेइ।
मुणिउं ण पंचहि पंचहिंवि, सो परमप्पु हवेइ ॥ ४५ ॥

जो पांचों इन्द्रियों के विषय को जानता है और इन्द्रियां इंद्रियों के विषय को नहीं जानती हैं उसही को तू परमात्मा जान। भावार्थ-पांचों इन्द्रियां आंख नाक कान, जिह्वा और त्वचा यह सब जड़ हैं इनमें जानने की शक्ति नहीं है संसारी जीव इन इन्द्रियों के द्वारा इस प्रकार जानता है जैसाकि जिसकी आंख कमज़ोर होगई है वह ऐनक (चशमे) के द्वारा देखता है परन्तु ऐनकमें देखनेकी शक्ति नहीं है वह देखने जानने वाला जीव है वहही परमात्मा है॥

जसु परमत्थें बंधु णवि, जोइय णवि संसारु।
सो परमप्पउ झाणितुंहुं, मुणि मेल्लवि ववहारु ॥ ४६ ॥

जिसका असली स्वभाव कर्मोके बंधसे और संसारसे अर्थात् अनेकरूप घूमनेसे रहित है। भावार्थ-कर्मबंध और संसारमें घूमना जिसका असली स्वभाव नहीं है वह परमात्मा है उसका तू ध्यानकर और व्यवहार को त्यागने योग्य समझ ॥

णेया भावें वल्लि जिवि, थक्कइ णाण वलेवि।
मुक्कहं जसु पए विंबयउ, परम सहाउ भणेवि॥ ४७ ॥

जैसे किसी मकानमें कोई बेल बोईजावै तो वह उगकर और बढ़कर मकानके अन्दर फैलजावैगी परन्तु यदि मकान बड़ा होता तो और भी लंबी फैलती इसही प्रकार केवल ज्ञान सर्व पदार्थोंको जानता है यदि इससे अधिक पदार्थ होते तो उनको भी जानता-मोक्ष पानेपर जिसमें ऐसा ज्ञान है वहही परमात्मा है ॥

कम्मइं जासुजणंत णवि, णउ णउ कज्ज सयावि।
कंपि ण जणियउ हरिउणवि, सोपरमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥

कर्म सुख दुःखरूप अपने २ कारज को उत्पन्न करते हैं परन्तु जीव के स्वभाव को नाश नहीं करसक्ते हैं और जीवमें कोई नवीन स्वभाव उत्पन्न नहीं करसक्ते हैं वह जीव परमात्मा है उस को तू अनुभव कर ॥

कम्मणि बंधावि होइ णवि, जो फुडुकम्म कयावि ।
कम्मवि जोण कयावि फुडु, सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मोंसे बंधाहुवा भी जो कर्मरूप नहीं होताहै और कर्मभी जिस रूप नहीं होजाते हैं वही परमात्मा है उसको तू अनुभवकर। भावार्थ–कर्म जड़हैं जीव चैतन्यहै–जड़ बदलकर चेतन नहीं होता और चेतन बदलकर जड़ नहीं होसक्ता है–कर्म जीवके स्वरूप से भिन्न ही हैं ॥

किवि भणंति जिउ सव्वगउ, जिउ जडु केवि भणंति ।
केवि भणंति जिउ देहसमु, सुण्णवि केवि भणंति ॥ ५० ॥

कोई जीवको सर्वव्यापी कहते हैं कोई जीवको जड़ बताते हैं कोई जीव को देह परिमाण कहते हैं और कोई जीवको शून्य कहते हैं ॥

अप्पा जोइय सव्वगउ, अप्पा जडुवि वियाणि ।
अप्पा देह समाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा सर्वव्यापी भी है जड़ भी है देह परिमाणभी है और शून्यभी है ॥

अप्पा कम्मवि विज्जियउ, केवल णाणे जेण ।
णेयालोउ मुणेइ जिय, सव्वगु वुच्चइ तेण ॥ ५२ ॥

जीवात्मा कर्मों से रहितहोकर केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक अर्थात् सर्व को जानता है इस हेतु सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापी कहा है ॥

जोणिय वोहि परिट्ठियहं, जीवहं तुट्टइ णाणु ।
इंदिय जणियउ जोइया, तेंजिउ जडुवि वियाणु ॥ ५३ ॥

जब जीवको अतिन्द्रिय ज्ञान होता है तब इन्द्रियज्ञान कुछ नहीं रहता है इस कारण उस समय इन्द्रियज्ञान से रहित होताहै इसही हेतु जड़ कहा है। भावार्थ। इन्द्रियां जड़हैं व्यवहार में इन्द्रियोंके ही द्वारा ज्ञान होता है परन्तु आत्मीक परमशक्तिके प्रकट होनेपर

इन्द्रियों से भिन्न अतिन्द्रियज्ञान प्राप्त होने की अवस्थामें इन्द्रियां जड़ रूप रहजाती हैं ॥

कारण विरहिउ सुद्ध जिउ, वड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरम सरीर पमाणु जिउ, जिणवर बोल्लहि तेण ॥ १४ ॥

कर्मरूप कारणके अभाव से सिद्धजीव घटता बढ़ता नहींहै जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीरके परिमाण रहता है ऐसा श्री-जिनेंद्र देवने कहा है ॥

अठवि कम्मइं बहुविहइं, णव णव दोसावि जेण ।
सुद्धहं एक्कुवि अत्थिणवि, सुण्णुवि वुच्चइ तेण ॥ १५ ॥

सिद्धजीव में आठ कर्मोंसे वा इनके भेदाभेद में से कोईभीकर्म नहीं है और १८ दोषोंमें से कोई भी दोष नहीं है इस कारण जीवको शून्य भी कहा है ॥

अप्पा जणियउ केण णवि, अप्पें जणिउ ण कोइ ।
दव्व सहावें णिच्चु मुणि, पज्जउ विणसइ होइ ॥ १६ ॥

आत्मा को न किसीने उपजाया है और न आत्माने किसी द्रव्य को उपजाया है—यह आत्मा द्रव्य सुभाव कर नित्य है परन्तु पर्याय की अपेक्षा उपजता भी है और विनाशभी होता है अर्थात् आत्म द्रव्य तो अनादि नित्य है न पैदा होता है और न विनाश होता है परन्तु पर्याय अर्थात् अवस्था सदा बदलती रहतीहै अर्थात् पर्याय उत्पन्न भी होती है और विनाशभी होती है ॥

तं परियाणहिं दव्वु तुहुं, जंगुण पज्जय जुत्तु ।
सहभुय जाणहिं ताहि गुण, कमभुय पज्जउवुत्तु ॥ १७ ॥

द्रव्य उसको जानो जिसमें गुण और पर्यायहों—जो सहभावी हो अर्थात् द्रव्य के साथ सदा रहे अर्थात् द्रव्य का सुभावहो उस को गुण कहते हैं और जो क्रमवर्ती हो अर्थात् कभी कोई दशाहो कभी कोई उसको पर्याय कहते हैं ॥

अप्पा बुज्झहिं दव्व तुहुं, गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउगइ भाव तणु, कम्म विणिम्मिउ जाणु ॥ १८ ॥

आत्मा को द्रव्यजान, दर्शन औरज्ञान उसका गुणजान और चतुरगति परिभ्रमण रूपपरिणमन को कर्मकृत विभावपर्याय जान॥

जीवहिं कम्मु अणाइ जिय, जणियउ कम्मण तेण ।

कम्मे जीउवि जणिउ णवि, दोहिंवि आइण जेण ॥ ५९ ॥

जीव और कर्म दोनों अनादिहैं न तो जीवने कर्मोंको पैदा किया है और न कर्मों ने जीवको पैदा कियाहै दोनों वस्तु अनादिही से चली आतीहैं आदि कोई नहींहै ॥

इहु ववहारिं जीव झउ, हे उलहेविणु कम्म ।
बहुविह भावइं परिणवइ, तेणजिधम्म अहम्म ॥ ६० ॥

यह व्यवहारी जीव अपने किये कर्मों के निमित्तसे अनेकभाव रूप परिणमताहै अर्थात् पुण्यरूप और पाप रूप होताहै ॥

तेपुण जीवहि जोइया, अट्ठवि कम्म भणंति ।
जेहिंजि झंपिय जीवणवि, अप्प सहाउ लहंति॥ ६१ ॥

वेकर्म आठ प्रकारकेहैं जिन से ढका जाकर जीव अपने आत्मीक स्वभाव को नहीं पाताहै ॥

विसय कसायहिं रंजियहं, जे अणु आलग्गंति ।
जीव पएसहिं मोहियहं, ते जिण कम्म भणंति ॥ ६२ ॥

विषय कषाय और मोहके कारण जो पुद्गल परमाणु जीवके प्रदेशों से लगतेहैं श्रीजिनेंद्र भागवान्ने उनहीको कर्म कहाहै॥

पंचवि इंदिय अण्णु मणु, अण्णुवि सयल विभाव ।
जीवहिं कम्मइं जणिय जिय, अण्णुवि चउगइ भाव ॥ ६३ ॥

पांच इन्द्रिय, मन, समस्त बिभाव परिणाम और चारगति सम्बंधी दुःख यह सब जीवको कर्मों ने उपजायेहैं ॥

दुक्खवि सुक्खवि बहुविहउ, जीवहिं कम्म जणेइ ।
अप्पा देखइ मुणइ पर, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६४ ॥

जीवोंको सर्व प्रकारके सुखदुःख कर्मोंनेही उपजायेहैं--परन्तु निश्चयनयसे अर्थात् असली स्वभाव से तो जीवात्मा देखने और जानने वालाहीहै ॥

बंधुवि मोक्खवि सयलु जिय, जीवह कम्म जणेइ ।
अप्पा किंपिवि कुणइ णवि, णिच्छउ एउ भणेइ ॥ ६५ ॥

हे जीव बंध और मोक्षको कर्मों नेही उत्पन्न कियाहै निश्चय नयसे जीव बंध और मोक्षका पैदा करनेवाला नहीं है। भावार्थ-यदि कर्म न होते तो बंधऔर मोक्ष यह दो नामही नहोते कर्मोंसे

ही बंध होताहै और कर्मों हीके दूर होनेसे मोक्ष अर्थात् बंधन से छूटना होताहै जीवका असली स्वभाव न बंधन में पड़नाहै और न छूटनाहै बंधना और छूटना यह दोनों बात कर्मों ही के कारण पैदा होती हैं ॥

अप्पा पंगुहु अणुहवइ, अप्पुणु जाइ णएइ ।
भुवणत्तयहं विमज्झि जिय, विहि आणइ विहि णेइ ॥ ६६ ॥

पांगुले मनुष्य की समान जीवात्मा अपने आप न कहीं आता है और न कहीं जाता है-कर्म ही इसजीवको तीनलोक में लिये फिरते हैं ॥

अप्पा अप्पुजि परुजिपरु, अप्पा परुजि ण होइ ।
परुजि कयावि ण अप्पुणावि, णियमें पभणहिंजोइ ॥ ६७ ॥

आत्मा आत्माही है और पर पदार्थ परही हैं-नतो आत्मा अन्यकोईपदार्थ बनसक्ती है और न अन्यकोईपदार्थ आत्मा बनसक्ता है ऐसा जोगीश्वर कहते हैं ॥

णवि उपजइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया, जिणवरु एउभणेइ ॥ ६८ ॥

निश्चय नयसे अर्थात् असली स्वभाव से जीवात्मा न पैदाहोता है और न मरता है न बंधरूप है और न मुक्तिरूप है श्रीजिनेंद्र ऐसा कहते हैं ॥

अत्थिणउप्जउ जर मरण, रोयवि लिंगवि वण्ण ।
णियमें अप्पु वियाणि तुहुं, जीवह एक्कुवि सण्ण ॥ ६९ ॥
देहहि उप्जउ जर मरण, देहहि वण्ण विचित्त ।
देहहिं रोय वियाण तुहुं, देहहिं लिंग विचित्त ॥ ७० ॥

निश्चय नयसे पैदाहोना, जरा अर्थात् बुढ़ापा, मरना, रोग, लिंग अर्थात स्त्रीरूप वा पुरुषरूपहोना, और वर्ण आदिक जीवमें नहीं है यह सब बातें देहही में हैं देहही उत्पन्न होताहै देहही बूढा होता है देहहीका मरण होताहै देहहीमें विचित्ररंगहैं देहही में रोगहै देहही में स्त्री पुरुष आदिक लिंग हैं ॥

देहहि पिक्खवि जर मरण, मा भउ जीवकरेहि ।
जोअजरामरु बंभुपरु, सो अप्पाणु मुणेहि ॥ ७१ ॥
छिज्जउ भिज्जउ जाउखउ, जोइय एहु सरीर ।

अप्पा भावहि निम्मलउ, जं पावहि भवतीर ॥ ७२ ॥

हे जीव तू देहमें बुढ़ापा और मरना देखकर भय मतकर अजर अमर जो परब्रह्म है उसही को तू अपनी आत्माजान-चाहे शरीर का छेदहो भेदहो वा क्षयहो अर्थात् शरीर चाहे कटे टूटे वा नाश होजावे तू उसकी तरफ कुछ ध्यान मत दे तू तो अपनी शुद्धआ· त्मा का अनुभवकर जिससे तू संसार समुद्र से,पार होजावे ॥

कम्मह केरउ भावडउ, अण्णु अचेयणु दव्व।
जीव सहावहिं भिण्णुजिय, णियमें बुज्झहि सव्व ॥ ७३ ॥

अशुद्ध चेतनारूप कर्मों से उत्पन्न हुवे राग द्वेष आदिक भाव और शरीर आदिक अचेतन द्रव्य यह सब शुद्ध आत्मा से भिन्नहैं यह बात सब जानते हैं ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ,अण्णु परायउ भाउ।
ते छंडेविणु जीव तुहुं, भावहिं अप्प सहाउ ॥ ७४ ॥

ज्ञानमई जो आत्मा है उससे जो भिन्नभाव हैं उन सबको छोड़ कर तू अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव कर ॥

अट्ठहिं कम्महिं बाहिरउ,सयलहिं दोसहंचत्तु ।
दंसण णाण चरित्तमउ, अप्पा भावि णिरुत्त ॥ ७५ ॥

आठ कर्म और १८ दोषोंसे रहित यह जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपहै तू ऐसा अनुभव कर ॥

अप्पइ अप्पु मुणउ जिउ,सम्मा दिट्ठि हवेइ।
सम्मादिट्ठिउ जीवडउ, लहु कम्मइ मुच्चेइ ॥ ७६ ॥

जो जीव आत्मा को आत्मा मानता है वह सम्यक्दृष्टि है सम्यक्दृष्टि ही कर्म्मों के बन्धन से छूटता है ॥

पज्जय रत्तउ जीवडउ, मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहुविह कम्मडा, जिणि संसारु भमेइ ॥ ७७ ॥

जो जीवपर्याय में रागी होकर पर्वर्त्ता है वह मिथ्यादृष्टि है वह ही नानाप्रकारके कर्मों का बंध करके संसार में रुलता फिरता है॥

कम्मइ दिढ घण चिक्कणइ, गुरुयं मेरु समाइ ।
णाण वियक्खणु जीवडउ, उप्पहिं पाडहिंताइ ॥ ७८ ॥

कर्म बहुत ज़ोरावर और चिकने हैं मेरुकी समान बड़े हैं कर्म

ही ज्ञानवान् जीवात्मा को कुमार्ग में डालते हैं ॥

जिउ मित्थते परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्मवि णिमिय भावडा, ते अप्पाणु भणेइ ॥ ७९ ॥

मिथ्यात्वरूप परिणमताहुवा जीव तत्वों को अन्यथारूप जानता है और कर्मों के द्वारा उत्पन्नहुवे भावको ही आपा मानताहै॥

हउं गोरउ हउं सांवलउ, हउंजि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु अंगउ थूल हउं, एहउ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥
हुंउं वरु बंभणु वइसु हउं, हउं खत्तिउ हउं सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थिहउं, मुण्णइ मूढ विसेसु ॥ ८१ ॥
तरुणउ बूढउ रूवडउ, सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८२ ॥

मैं गोराहूं मैं सांवलाहूं वा नाना प्रकारके वर्णवालाहूं मैं मोटाहूं मैं पतलाहूं इत्यादिक जिनके परिणामहैं उनको मिथ्यादृष्टि जानना॥

मैं ब्राह्मण हूं मैं वैश्यहूं मैं क्षत्रीहूं अथवा शूद्र आदिकहूं मैं पुरुष हूं वास्त्रीहूं वा नपुंसक हूं यह परिणाम मिथ्यादृष्टि के होतेहैं ॥

मैं जवानहूं मैं बूढाहूं मैं रूपवानहूं मैं सूर्माहूं मैं पण्डितहूं मैं उत्तमहूं मैं दिगम्बरहूं बौधगुरुहूं वा श्वेताम्बर साधूहूं जिनके ऐसे परिणामहैं वह मिथ्यादृष्टिजानने ॥

जणणी जणणुवि कंत घरु, पुत्तुवि मित्तुवि दव्व ।
माया जालुवि अप्पणउ, मूढउ मण्णइ सव्व ॥ ८३ ॥

माता पिता पति स्त्री पुत्र मित्र धनदौलत यह सब माया जालहैं इन सबको मिथ्यादृष्टि जिव अपने मानताहै ॥

दुक्खहि कारणु जे बिसय, ते सुह हेउ रमेइ ॥
मिथ्यादिट्ठी जीवडउ, एत्थु न काइं करेइ ॥ ८४ ॥

इन्द्रियों के विषय जो दुःखके कारणहैं मिथ्यादृष्टि उनही को सुखका कारण जानकर उनमें रमताहै तो वह अन्य कौनसा अकारज न करैगा ॥

कालु लहेविणु जोइया, जिम जिम मोह गलेइ ।
तिम तिम दंसण लहइ जिउ, णियमे अप्पुभणेइ ॥ ८५ ॥

काल लब्धिकोपाकर ज्यों ज्यों साधुके मोहका नाशहोता है त्यों

त्यों इस जीवको शुद्धआत्मरूप सम्यक् दर्शन की प्राप्तिहोतीहै और निश्चयरूप आत्मा का वर्णन करने लगताहै ॥

अप्पा गोरउ किण्हुणवि, अप्पा रत्तुणहोइ ।
अप्पा सुहुमुवि थूलणवि, णाणिउ णाणं जोइ ॥ ८६ ॥

आत्मा न गोरा है न कालाहै न सूक्ष्महै न स्थूलहै आत्मा ज्ञान-स्वरूप है यहबात ज्ञानीही जानताहै ॥

अप्पा बंभणु वइसु णवि,णवि खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थिणवि, णाणिउ मुणइ असेसु ॥ ८७ ॥

आत्मा न ब्राह्मण है न वैश्यहै न क्षत्रीहै न शूद्रहै न पुरुषहै न स्त्री है न नपुंसक है आत्मा ज्ञानस्वरूपहीहै और ज्ञान से सब कुछ जानताहै ॥

अप्पा वंदउ खवणु णवि, अप्पा गुरउ णहोइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु णवि,णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८८ ॥

आत्मा यति गुरु सन्यासी उदासी दंडीआदिक भेषधारी भी नहीं है आत्मा ज्ञानस्वरूपहीहै ज्ञानीही आत्मा को पहचानताहै॥

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि, णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि, णवि उत्तम णवि णिच्चु ॥ ८९ ॥

आत्मा न गुरुहै न शिष्य है न राजा है न रंकहै न शूरवीर है न कायर है न उच्च है न नीच है आत्मा ज्ञानस्वरूप है उस को ज्ञानी ही जानता है ॥

अप्पा माणुस देउ णवि, अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहवि णवि, णाणिउ जाणइजोइ॥ ९० ॥

आत्मा न मनुष्य है न देव है न तिर्यंच है न नारकी है आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसको ज्ञानी ही जानता है ॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि, णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउबूढउ बालु णवि, अण्णुवि कम्म विसेसु ॥९१॥

आत्मा न पण्डितहै न मूर्ख है न विभूतिवान है न दरिद्री है न बूढा है न बालक है न जवान है यह सर्व प्रकारकी अवस्था कर्मों ही से उत्पन्न होती हैं ॥

पुएणवि पाउवि कालु णहु, धम्माहम्म विकाउ।
एक्कुवि अप्पा होइ णवि, मिल्लिवि चेयण भाउ॥ ९१॥

आत्मा न पुण्य पदार्थ है न पाप पदार्थ है आत्माकाल द्रव्यभी नहीं है आकाश भी नहीं है धर्म वा अधर्म द्रव्य भी नहीं है शरीर आदिक पुद्गल द्रव्यभी नहीं है आत्मा चैतन्यस्वरूप है और अपने चेतनास्वभाव को छोड़कर अन्य नहीं होताहै॥

अप्पा संजम सीलतउ, अप्पा दंसण णाण।
अप्पा सासय सुक्ख पउ, जाणंतउ अप्पाण॥ ९३॥

आत्मा संयम, शील, तप, दर्शन, ज्ञानरूप है और अविनाशी मोक्षस्वरूप है आत्माही आत्माको जानता है॥

अएणुजि दंसण अत्थिणवि, अएणुजि अत्थि ण णाण।
अएणुजि चरणु ण अत्थिजिय, मिल्लवि अप्पा जाण॥ ९४॥

हे जीव! आत्मा से भिन्न अन्य कोई दर्शन, ज्ञान और चरित्र नहीं है रत्नत्रय के समूहको ही आत्मा जान॥

अएणुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेव।
अएणुजि देव म चिंत तुहुं अप्पा विमल मुएवि॥ ९५॥

हे जीव शुद्ध आत्मा से भिन्न अन्य कोई तीर्थ मत मान कोई गुरु मत सेव और कोई देव मत जान तू निर्मल आत्मा को ही अनुभव कर॥

अप्पा दंसणु केवलुवि, अणण सव्व ववहारु।
एक्कुजि जोइय झाइयइ, जोतियलोकहिं सारु॥ ९६॥

आत्मा एकमात्र (खालिस) सम्यग्दर्शनस्वरूप है तीन लोक में सारभूत पदार्थ जो आत्मा है वहही ध्यावने योग्य है॥ अन्य सब व्यवहार है अर्थात् आत्मध्यानके सिवाय धर्म के अन्यसब साधन व्यवहार रूपहीहैं॥

अप्पा झायहि णिम्मलउ, किं बहुएं अएणेण।
जो झायंतहिं परमपउ, लब्भइ एक्कु खणेण॥ ९७॥

तू अपनी निर्मल आत्माका ध्यानकर जिसके ध्यानमें एक अन्तर मुहूर्त स्थिर होनेसे मुक्ति प्राप्त होजातीहै अन्य बहुत प्रकार के साधनों से क्याकाम॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णिय में वसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइ तवयरण, मुक्खुजि करहिं कितासु । ९८ ॥

जिसके मनमें निर्मल अपना आत्मा नहीं वसताहै उसको शास्त्र पुराण और तपश्चरण मोक्ष नहीं देसक्ते हैं ॥

जोइय अप्पे जाणिएण, जग जाणिय हवेइ ।
अप्पहिं केरइ भावडइ, बिंबिउ जेण वसेइ ॥ ९९ ॥

हे योगी अर्थात् हे साधु जो आत्मा को जानता है वह सब कुछ जानता है क्योंकि आत्मा के ज्ञान में समस्त जगत् झलकरहा है॥

अप्प सहावि परिट्ठियहिं, एहउ होइ विसेस ।
दीसइ अप्प सहावि लहु, लोया लोय असेस ॥ १०० ॥

जो जीव आत्मस्वभाव में तिष्ठता है अर्थात् लीनहै उस को शीघ्रही आत्मा दिखाई देजाता है अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त होजाता है और लोकालोक दिखाई देने लगता है ॥

अप्प पयासइ अप्पु परु, जिम अंबर रवि राउ ।
जोइय एत्थुम भंति करि, एहउ वत्थु सहाउ ॥ १०१ ॥

जैसे आकाश में सूरज आपको और पर पदार्थों को प्रकाश करता है इसही प्रकार आत्माभी अपने आपको और लोकालोक को देखताहै इसमें संशय मतकर यह वस्तुस्वभाव है ॥

तारायणु जलि बिंबियउ, णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ, लोयालोउवि तेम ॥ १०२ ॥

जैसे निर्मल जलमें तारे प्रतिबिंबित होतेहैं ऐसेही आत्मा के निर्मल स्वभाव में लोकालोक प्रतिबिंबित होते हैं ॥

अप्पुवि परुवि वियाणियइं, जं अप्पें मुणिएण ।
सो णिय अप्पा जाणितुहुं, जोइय णाण बलेण॥ १०३ ॥

जिस आत्मा के जानने से अपने आप को और अन्य सर्व पदार्थों को जान सकते हैं उस ही शुद्ध आत्मा को तू अपने ज्ञान के बल से जान ॥

णाणु पयासहि परम मुहुं, किं अण्णे बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ, सामिय एक्क खणेण॥ १०४ ॥

(प्रश्न) हे स्वामी मुझको वह ज्ञान बताओ जिस ज्ञानसे एक क्षणमें शुद्ध आत्माको जान जावें और जिस ज्ञानके सिवाय और कोई वस्तु कार्यकारी नहीं है ॥

अप्पा णाण मुणेहि तुहुं, जो जाणइ अप्पाण ।
जीव पएसहिं तेत्तडउ, णाणेगयणपमाण ॥१०५॥

(उत्तर) आत्मा को तू ज्ञानमईमान वह आत्मा आपही अपने आपको जानता है निश्चय नयसे अर्थात् असलियत में उस आत्मा के प्रदेश लोक के बराबर हैं और व्यवहार में शरीर के बराबर हैं और ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकके बराबर हैं ॥

अप्पहिं जेवि विभिण्ण वढ़, तेजिहर्वि ण णाण ।
ते तुहुं तिण्णवि परिहरिवि, णियमें अप्पुवियाण ॥ १०६ ॥

आत्मासे भिन्न जो पदार्थ हैं वह ज्ञान नही हैं अर्थात् उनमें ज्ञान नहीं है इस कारण तू सर्व पदार्थों को छोड़कर निश्चयके साथ आत्मा ही को जान ॥

अप्पा णाणहिं गम्मु पर, णाण वियाणइ जेण ।
तिण्णवि मिल्लिवि जाणि तुहुं, अप्पा णाणे तेण ॥ १०७ ॥

आत्माज्ञान में आने योग्य है ज्ञानसेही आत्माजानी जातीहै इस कारण तू और सब बात छोड़कर आत्माको ज्ञानके द्वाराजान ॥

णाणिय णाणिउं णाणएण, णाणिउ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणें णाणमउ किं, परबंभु लहेहि ॥ १०८ ॥

ज्ञानीजिव जितने काल तक ज्ञानमई आत्माको नहीं जानता है उतने कालतक अज्ञानीहुवा परब्रह्मको नहीं पाता है अर्थात् जब तक रागद्वेष में फंसारहता है तब तक परमब्रह्म अर्थात् परमात्मा को नहीं पाता है ॥

जो इज्जइ तिम बंभुपरु, जाणिज्जइ तम सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेणलहु, गम्मिज्जइ परलोइ ॥ १०९ ॥

आत्मा के जानने से परलोक सम्बन्धी परमात्मा जानाजाताहै वहही परमब्रह्म है आत्माही के देखने और जाननेसे वह देखाजाना जाताहै—भावार्थ आत्माही परमब्रह्म परमात्मा है ॥

मुणिवर विंदहिंहरिहरहिं, जो मण णिवसइ देव ।
परहंजि परतरु णाणमउ, सो वुचइ परलोउ ॥ ११० ॥

मुनीश्वर और हरिहरादिकके मनमें जो देव बसताहै वह उत्कृष्टहै ज्ञानमई है उसही को परलोक कहतेहैं ॥

सो पर वुचइ लोउपर, जसु मइ तित्थव सेइ ।
जहिं मइ तहिं गइ जीवहवि, णियमेंजेण हवेइ ॥ १११ ॥

जिसके मनमें वह बसताहै जिसको परलोक कहते हैं अर्थात् शुद्ध आत्मा, भावार्थ-परमात्मा का जिसको ध्यान है वह अवश्य परमात्म पदको प्राप्त होगा—क्यूंकि जैसी मति वैसीही गति॥

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं, मरणावि जेण लहेहि ।
तें परबंभु मुएवि मइ, मा पर दव्वि करेहि ॥ ११२ ॥

जैसे तेरी बुद्धि है मरकर तैसी ही गतिको तू प्राप्त होगा इस कारण परमब्रह्म से बुद्धि को हटाकर अन्य किसी द्रव्य में अपनी बुद्धि को मत लगा—अर्थात् अन्य सर्व पदार्थों से रागद्वेष को छोड़ कर शुद्ध आत्मा का ध्यानकर ॥

जोणिय दव्वहिं भिण्णु जडु, तं परदव्व वियाणि ।
पोग्गल धम्मअहम्म णहु, कालवि पंचमु जाणि ॥ ११३ ॥

जो आत्मा से पर पदार्थ हैं अचेतन हैं उनही को तू परद्रव्य जान, वह पांच हैं पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल ॥

जइणावि सद्धावि कुवि करइ, परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि कणी जिम कट्टगिरि, डहइ असेसुविपाउ॥ ११४ ॥

जो कोई सम्यक् दृष्टि एक क्षण अर्थात् बहुत थोड़े काल भी आत्मा में अनुराग करता है लीन होता है वह बहुत कर्मों का नाश करता है जैसे अग्नि का एक कण ईंधन के बहुत बड़े समूह को शीघ्रही भस्म करदेता है ॥

मेल्लिवि सयल अवक्खडी,जिय णिचिंतिउ होइ ।
चित्तु णिवेसिवि परमपइ, देउ णिरंजण जोइ ॥ ११५ ॥

हे जीव तू समस्त बखेड़ा अर्थात् चिंता को त्यागकर निश्चिंत हो जा और मन को परमात्मस्वरूप में लगाकर निरंजन देव अर्थात् शुद्ध निर्मल आत्मा को देख ॥

जं सिव दंसणा परम सुहु, पावहिं झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणिवि अत्थिणावि, मेल्लिवि देउ अणंतु॥ ११६ ॥

अनन्त देवोंको छोड़कर ध्यान के द्वारा शिव अर्थात् परम आत्मा को देखने से जो परम आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द तीन लोक में अन्य कहीं भी नहीं है ॥

जं मुणि लहइ अणंतु सुहु, णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदुवि णवि लहइ, देविहिं कोडि रमंतु ॥ ११७ ॥

अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यानसे जो आनन्द साधु को मिलता है वह आनन्द इन्द्रको भी प्राप्त नहींहै जो करोड़ों देवांगनाओं से रमता है ॥

अप्पा दंसणा जिणवराहिं, जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ, जा णंतउ सिउसंत ॥ ११८ ॥

अपनी निज आत्मा के देखने से जो अनंत सुख श्री जिनेंद्र को होताहै वही सुख वीतरागी पुरुष शिवसंत अर्थात अपनी शुद्धआत्माके अनुभव से पाताहै ॥

जो इय णियमणि णिम्मलइ, परदीसइ सिवसंत ।
अंबर णिम्मल घण रहिए, भाणुजि जेम फुरंत ॥ ११९ ॥

शुद्ध निर्मल मनमेंही शिव संत अर्थात् शुद्ध आत्मा नज़रआताहै जैसे बादलों से रहित साफ़ आकाश में ही सूरज का प्रकाश प्रकट होताहै ॥

राएं रंगिए हियवडइ, देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलइ विंबु जिम, एहउजाणि णिभंतु ॥ ११० ॥

जिसका मन राग अर्थात् मोह में रंगा हुवाहै उसको संतदेव अर्थात् परमात्मा नजर नहीं आताहै जैसे मैले दर्पण में प्रतिविम्बनहीं पड़ताहै—हे शिष्य तू ऐसा जान इसमें संदेह नहीं है ॥

जसु हरिणत्थी हियवडइ, तसुणवि वंभुवियारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ, वेखंडा परियारि ॥ १२१ ॥

जिसके मनमें स्त्री बसती है उसके मनमें ब्रह्मअर्थात् शुद्धपरमात्मा नहीं बसताहै क्यूंकि एकमयानमें दो तलवार नहीं समासक्तीहैं

णिय मणि णिम्मलि णाणियंह, णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवर लीणु जिम, महु एहउ पडिहाइ ॥ १२२ ॥

ज्ञानी जीवके निर्मल मनमें अनादि अनन्त देव निवास करना

है जैसे हंस पक्षी सरोवर में निवास करता है हे शिष्य इसके यहही बात सूझती है ॥

देउ ण देवलि णवि सिलइ, णवि लिप्पइ णवि चित्त ।
अखउ णिरंजण णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्त ॥ १२३ ॥

देव अर्थात् परमात्मा जो अविनाशी है कर्मों से रहित है और ज्ञानमई है वह देवालय अर्थात् मन्दिर में नहीं है पाषाणकी प्रतिमा में नहीं है पुस्तक में नहीं है और चित्राम में नहीं है वह समभाव रूप मन में बसता है ॥

मणु मिलियउ परमेसरहिं, परमेसरुवि मणस्स ।
बीहिमि समरस हूयाहिं, पुज्ज चडावउं कस्स ॥ १२४ ॥

मन परमेश्वर से मिलगया और परमेश्वर मनसे मिलगया अर्थात् दोनों एक होगये अब पूजा किसकी करिये ॥

जेण णिरंजण मणु धरिउ, विसय कसायहिं जंतु ।
मोक्खहिं कारणु एत्तडउ, अण्ण ण तंतु ण मंतु ॥ १२५ ॥

जिसने मन को विषय कषाय से रोककर परम निरंजन अर्थात् शुद्ध आत्मा में लगाया है वह ही मोक्षके मार्गपर है क्यूंकि मंत्र तंत्र आदिक अन्य कोई भी उपाय मोक्षमार्ग नहीं है ॥

सिरिगुरु अक्खहि मोक्ख महुं, मोक्खहि कारण तत्थ ।
मोक्खहिं केरउ अण्णु फल, जिम जाणउं परमत्थ ॥ १२६ ॥

हे गुरु मुझको मोक्ष मोक्ष का मार्ग और मोक्षका फल बताओ जिससे मैं परमार्थको जानूं ॥

जोइया मोक्खुवि मोक्ख फल, पुच्छहु मोक्खहिं हेउ ।
सो जिणभासिउ णिसुणि तुहुं, जेण वियाणहिं भेउ ॥ १२७ ॥

हे शिष्य तू मोक्ष, मोक्ष का फल, और मोक्षका कारण पूछता है सो हम जिन वाणी के अनुसार कहते हैं तू निश्चल होकर सुन ॥

धम्महिं अत्थहिं कामहिं, एयहं सयलहं मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय, अण्णे जेण ण सोक्खु ॥ १२८ ॥

धर्म, अर्थ और काम इनतीनोंसे ज्ञान के पक्षसे मोक्ष उत्तमहै क्यूंकि इन तीनोंमें ज्ञानका आनन्द नहींहै, भावार्थ-धर्म अर्थ काम और मोक्ष यह चार पुरुषार्थ जगत्में प्रसिद्धहैं परन्तु ज्ञान का परम

आनन्द मोक्षहीमें है इस हेतु इन सब में मोक्षही सबसे उत्तम ॥

जइ जिय उत्तमु होइ णवि, एयहं सयलहं सोइ ।
तो किं तिण्णवि परि हरिवि, जि वजाहिं परलोइ ॥ १२९ ॥

यदि मोक्ष उत्तम नहोता तो धर्म अर्थ और कामको छोड़कर श्रीतीर्थंकर भगवान् परलोक में क्यूं ठहरते ॥

उत्तमु सोक्खु ण देइ जइ, उत्तमु मोक्ख ण होइ ।
ता किं इच्छहिं बंधणहिं, बद्धा पसुयावि सोइ ॥ १३० ॥

यदि मोक्ष में उत्तम सुख नहोता तो मोक्ष उत्तम क्यूं कहाजाता जो मोक्ष अर्थात् छूटना उत्तम नहोता तो पशुजो बंधन में बंधे रहते हैं वह क्यूं छूटना चाहते ॥

अणुणजि जगहाजि अहियरु, गुणगुणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउवि किं धरइ, णियसिर उप्परि सोइ ॥ १३१ ॥

जो मोक्ष में जगत् से अति विशेष गुण नहोते तो तीन लोक मोक्षको अपने सिरपर क्यूं धरता अर्थात् लोक शिखरपर मोक्ष स्थान इसही हेतु है कि उसमें तीनलोकसे अधिकगुण हैं ॥

उत्तमु सोक्खु ण दइ जइ, उत्तमु मोक्खु ण होइ ।
ता किं सयलुवि कालु जिय, सिद्धवि सेवहिं सोइ ॥ १३२ ॥

यदि मोक्षमें अति उत्तम सुख नहोता तो सिद्ध भगवान् सदा काल मोक्ष में क्यूं रहते ॥

हरिहर बंभवि जिणवरावि, मुनिवरबिंदावि भव्व ।
परमणिरंजणि मणु धरिवि, मोक्खु जि झायहिं सव्व ॥ १३३ ॥

हरिहर, ब्रह्मा, जिनेश्वर और सर्व मुनि और भव्य पुरुषों ने परम निरंजन परमात्माको मन में धारण करके मोक्षकाही साधन किया है ॥

तिहुवणि जीवहिं अत्थि णवि, सोक्खहिं कारण कोइ ।
मुक्खु मुएवि ण एक्कु पर, तेणवि चिंतहिं सोइ ॥ १३४ ॥

सब जीव मोक्ष को इस कारण चाहते हैं कि तीनलोक में सिवाय मोक्ष के और कोई सुखका कारण ही नहीं है ॥

जीवहिं सो पर मोक्खु मुणि, जो परमप्पय लाहु ।
कम्म कलंक विमुक्काहं, णाणिय बोल्लहिं साहु ॥ १३५ ॥

कर्म कलंक से रहित होकर परमात्मा स्वरूपकी प्राप्ति को ही ज्ञानी लोग मोक्ष कहतेहैं ऐसा तू जान ॥

दंसण णाण अनन्त सुहु, समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो परमासउ मोक्ख फलु, विज्जउ अत्थिण तासु ॥ १३६ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य आदिक परम गुण मोक्षके फलहैं और यह फल कभी अलग नहीं होतेहैं अर्थात् नित्य रहतेहैं और इनके सिवाय और कोई फलनहींहै ॥

जीवहिं मोक्खहिं हेउ वरु, दंसण णाण चरित्तु ।
ते पुण तिण्णावि अप्पु मुणि, णिच्छइ एहउ वुत्तु ॥ १३७ ॥

व्यवहार में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र यहतीन मोक्षके कारणहैं और निश्चय में शुद्ध आत्माही मोक्षका कारणहै ॥

पिच्छइ जाणइ अणुचरइ, अप्पें अप्पउ जोजि ।
दंसण णाण चरित्त जिउ, मोक्खहिं कारण सोजि ॥ १३८ ॥

जीव आपही अपनी आत्मा को देखताहै जानताहै और अनुभवन करताहै इस हेतु एक आत्माही जो दर्शन ज्ञान और चारित्र रूपहै मोक्षका कारणहै ॥

जं बोलइ ववहारु णउ, दंसण णाण चरित्तु ।
तं परिमाणहिं जीव तुहुं, जें पर होहि पवित्त ॥ १३९ ॥

व्यवहार नयका यह कथनहै कि सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनतीनों को तू अच्छी तरह जान जिससे तू पवित्र होजावै ॥

दव्वइँ जाणइँ जहँ ठियइँ, तहिँ जगि मण्णइ जोजि ।
अप्पहिं केरउ भावडउ, अविचलु दंसणु सोजि ॥ १४० ॥

जिस प्रकार जगत् में द्रव्यस्थिते हैं उनको उसही प्रकार यथावत् जान कर अपनी शुद्ध आत्मा में निश्चल स्थिति होना सम्यक् दर्शनहै ॥

दव्वइँ जाणइ ताइ छह, तिहुयणु भरियउ जेहिँ ।
आइ विणासवि विज्जियहिँ, णाणिहिं पभणिय एहिँ ॥ १४१ ॥

द्रव्य जो तीन लोक में भरे हुवेहैं वह छै ६ हैं उनका आदि और

अन्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाश नहींहै-ज्ञानी पुरुषोंने ऐसा कहाहै

जीव सचेयण दव्वु मुणि, पंच अचेयण अण्ण।
पोग्गलु धम्माहम्मु णहु, कालिं सहिया भिण्ण॥ १४२॥

एक जीव द्रव्य चेतनहै और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य अचेतनहैं यह सब द्रव्य भिन्न भिन्नहैं॥

मुत्तिविहीणउ णाणमउ, परमाणंद सहाउ।
णियमे जोइय अप्पु मुणि, णिच्चु णिरंजण भाउ॥ १४३॥

अमूर्तीकहै ज्ञानमईहै परमानन्द सरूपहै आत्मा अर्थात् जीव को तू ऐसा जान वह अविनाशी और निरंजनहै॥

पुग्गल छव्विहु मुत्तुवढ, इयर अमुत्त वियाणि।
धम्माधम्मुवि गइ ठिएहिं, कारणु पभणहिं णाणि॥ १४४॥

पुद्गल छै प्रकारकाहै और मूर्तीकहै-पुद्गल के सिवाय अन्य पांच द्रव्य अमूर्तीकहैं अर्थात् एक पुद्गल ही मूर्तीकहै-औरधर्म द्रव्य चलने को सहकारीहै और अधर्म द्रव्य ठहरने को सहकारी है-ऐसा सर्वज्ञ देवने कहाहै॥

दव्वइं सयलइं वरि ठियइं, णियमें जासु वसंति।
तं णह दव्व वियाणि तुहुं, जिणवर एउ भणंति॥ १४५॥

जिसके पेट में सब द्रव्य बसतेहैं अर्थात् सर्व पदार्थों को अवकाश अर्थात् ठिकाना देताहै उसको तू आकाश जान श्रीजिनेंद्रदेवने ऐसा कहाहै॥

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुं, वट्टण लक्खण एउ।
रयणहिं रासि विभिण्ण जिम, तसु अणुयहिं तिहिं भेउ॥ १४६॥

तू काल द्रव्य उसको जान जिसका वर्तना लक्षणहै अर्थात्सर्व पदार्थों के परिणमनको जो सहकारी कारणहै काल के अणु भिन्न २ हैं जैसे रत्नों के ढेर में रत्न भिन्न२ रहते हैं आपसमें जुड़ते नहींहैं॥

जीउवि पुग्गलु कालु जिय, एमिल्लेविणु दव्व।
इयर अखंड वियाणि तुहुं, अप्प पएसहिं सव्व॥ १४७॥

जीव पुद्गल और काल इन तीनों के सिवाय जो द्रव्यहैं अर्थात् धर्म अधर्म और आकाश यह तीनों एक एक और अखंडित द्रव्यहैं

भावार्थ-जीव भी बहुत हैं और ईंट पत्थर लोहा लकड़ी आदिक पुद्गल भी बहुत हैं और कालके भी अणु बहुत हैं परन्तु आकाश एकही है और उसके टुकड़े भी नहीं होसक्ते हैं ऐसेही धर्मद्रव्य भी एकही है और अधर्मद्रव्यभी एकही है और इनके टुकड़े भी नहीं होसक्ते हैं ॥

दव्व चयारिवि इयर जिय, गमणागमण विहीण ।
जीउवि पुग्गलु परिहारिवि, प भणिहिं णाणि पवीण ॥ १४८ ॥

जीव और पुद्गल के सिवाय जो चार द्रव्यहैं अर्थात् धर्म अधर्म आकाश और काल इनचारोंमें हिलना चिलना अर्थात् क्रिया नहीं है ज्ञानवान् पुरुषोंने ऐसा कहाहै ॥

धम्माहम्मुवि एकु जियउ, एजि असंख पएस ।
गयणु अणंत पएसु मुणि, बहुविहि पुग्गल देस ॥ १४९ ॥

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य यह दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं और एक एक जीव असंख्यात प्रदेशी है आकाश अनन्त प्रदेशी है पुद्गल बहुत भांतिहै और कालका एक एक अणु एकप्रदेशी है ॥

लोयायासु धरेवि जिय, कहियइं दव्वइं जाइं ।
एकहिं मिलयइं एत्थ जगि, सगुणहि णिवसहिं ताइं॥ १५० ॥

पांचों द्रव्य लोकाकाश के अन्दर हैं और आकाश द्रव्यलोक के अन्दरभी है और लोकके बाहरभी है-अर्थात् छहों द्रव्य एक ही स्थान में रहते हैं परन्तु कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यसे मिल कर दूसरे द्रव्यरूप नहीं होजाताहै सब द्रव्य अपने २ ही गुणों में ठहरे रहते हैं ॥

एयइं दव्वइं देहियहिं, णिय णिय कज्जु जणंति ।
चउगइ दुक्ख सहंति जिय, तें संसारु भमंति ॥ १५१ ॥

जीव से पृथक् जो पांच द्रव्य हैं वह अपने २ गुणके अनुसार अपना अपना कारज करते हैं इनहींके उपकार को मानकर जीव चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को भोगता हुवा भ्रमतारहताहै ॥

दुक्खहि कारण मुणि वि जिय, दव्वहिं एउ सहाउ ।
होइवि मोक्खहिं मग्गिलहु, गमिज्जइ परलोउ ॥ १५२ ॥

हे जीव तू इन पांचोंही द्रव्यों को दुःखका कारण जान और

इनको छोड़कर मोक्षमार्ग को ग्रहणकर जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो॥

णियमें कहिया एह मइं, ववहारे ण विदिट्ठि।
एवहि णाणु चरित्तु सुणि, जें पावहि परमेट्ठि॥ १५३॥

व्यवहार नयसे मैंने सम्यक् दृष्टिका स्वरूप कहाहै इसही प्रकार सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का स्वरूप सुन जिस से तू परमेष्ठी को पावै॥

जंजह थक्कहु दव्व जिय, तं तहिं जाणइ जोजि।
अप्पहिं करउ भावडउ, णाणु मुणिज्जहु सोजि॥ १५४॥

जो द्रव्यों को जैसे वहहैं तैसाही जानताहै और आत्माको पहचानता है वह सम्यक् ज्ञानीहै॥

जाणिवि माणिणवि अप्पु परु, जो परभाउ चएइ।
सो णिय सुद्धउ भावडउ, णाणिहिं चरणु हवेइ॥ १५५॥

जो आपको और परको जानकर और मानकर परभाव से बचताहै वहही अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर होताहै जानों कि उसको सम्यक् चारित्र है॥

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खणु एउ।
अप्पा मिल्लिवि गुण णिलउ, अण्णु ण झियवइ देउ॥ १५६॥

जो रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की सेवा करताहै उसके लक्षण तू इस प्रकार जान कि अनेकगुण मंडित जो एक शुद्ध आत्माहै उसके सिवाय अन्य किसी पदार्थ का वह ध्यान नहीं करताहै॥

जो रयणत्तउ णिम्मलउ, णाणिय अप्पु भणंति।
ते आराहय सिव पयहिं, णिय अप्पा झायंति॥ १५७॥

जो कोई आत्मा को अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्मल ज्ञानमई कहताहै वह पुरुष शिवपद अर्थात् मोक्षका आराधक होकर अपनी शुद्ध आत्माही को ध्यावै है॥

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ, अणुदिणु जे झायंति।
ते परणिय मं परम मुणि, लहु णिव्वाणु लहंति॥ १५८॥

जो अपनी गुणमई और निर्मल आत्मा को अनुभव करके ध्यान करतेहैं वे महामुनि अवश्य थोड़े ही काल में मोक्षपद को प्राप्त होतेहैं॥

सयलहिं अत्थिहि जं गहणु, जीवहिं अग्गिमु होइ ।
वत्थुवि सेसुवि वज्जियउ, तं णिय दंसण जोइ ॥ १५९ ॥

विशेष अर्थात् भेदाभेद रूप जानने को छोड़कर जो सर्व वस्तुका सत्तामात्र जानना जीवको सबसे प्रथम होताहै वह दर्शनहै॥

दंसण पुव्व हवेइ फुडु, जं जीवहिं विण्णाण ।
वत्थु विसेसु मुणंतु जिय, तं मुणि अविचलु णाण ॥ १६० ॥

दर्शन पहले होताहै और ज्ञान पीछे होताहै जिससे वस्तु विशेषरूप अर्थात् भेदाभेद रूप जानी जातीहै वह ज्ञानहै॥

दुक्खवि सुक्ख सहंतु जिय, णाणी झाण तल्लीणु ।
कम्महिं णिज्जर हेउ तउ, वुच्चइ संग विहीणु ॥ १६१ ॥

परिग्रहरहित ज्ञानी ध्यानमें तल्लीन होकर सुख और दुःख दोनों को समभाव कर सहताहै अर्थात् सुख में हर्ष और दुःखमें रंज नहीं मानताहै दोनों को बराबर समझताहै इससे उसके कर्मों की निर्जरा होतीहै॥

बिण्णवि जेण सहंति मुणि, मणि समभाउ करेइ ।
पुण्णहं पावहं तेण जिय, संवर हेउ हवेइ ॥ १६२ ॥

जो मुनि सुख और दुःख दोनों को मन में समभाव करके सहताहै उसको पुण्य और पाप दोनों का संवर होताहै अर्थात् न पुण्य का बंध होताहै और न पापका, भावार्थ-कर्मों का आस्रव उसको नहीं होताहै॥

अत्थइ जित्तिउ कालु मुणि, अप्प सरूवणि लीणु ।
संवर णिज्जर जाणि तुहुं, सयल वियप्प विहीणु ॥ १६३ ॥

समस्त विकल्प से रहित होकर जितने कालतक मुनि अपने स्वरूप में तल्लीन रहताहै उतने कालतक उसके संवर और निर्जरा रहतीहै अर्थात् नवीन कर्मोंकी उत्पत्ति नहीं होती और पूर्वकर्मों का नाश होता रहताहै॥

कम्मु पुरक्किउ सोखवइ, अहिणव पेसु णदेइ ।
संगु मुएविणु जोसयलु, उवसम भाउ करेइ ॥ १६४ ॥

जो मुनि समस्त परिग्रह को त्यागकर समभाव धारण करता है वह पूर्वकृत कर्मों का नाश करताहै और नवीन कर्मों का पैदा होना बन्द करताहै॥

दंसणु णाणु चरित्तु तसु, जो समभाउ करेइ ।
इयरहिं इक्कुवि अत्थि णवि, जिणवर एम भणेइ ॥ १६५ ॥

जो समभाव करताहै उसके दर्शन ज्ञान और चरित्र तीनों हैं और जो इससे अर्थात् समभाव से रहित है उसके इन तीनोंमें से एक भी नहीं होताहै श्रीजिनेंद्र देवने ऐसा कहाहै ॥

जावइ णाणिउ उवसमई, तावइ संजदु होइ ।
होइ कसायहिं वसि गयउ, जीव असंजदु होइ ॥ १६६ ॥

जबतक ज्ञानी पुरुष समभावी रहता है तबतक वह संयमी है और जब कषाय के वश होताहै तब असंयमी होताहै ॥

जेण कसाय हवंति मणि, सो जिय मेल्लहि मोह ।
मोह कसाय विवज्जियउ, पर पावहि समबोह ॥ १६७ ॥

जिससे मनमें कषाय उत्पन्न होतीहै वह त्यागने योग्य मोहहै मोह और कषायके त्याग से समभाव प्राप्त होताहै ॥

तत्तातत्तु मुणेवि मुणि, जे थक्का समभाव ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि, जहँरइ अप्प सहावि ॥ १६८ ॥

जो मुणि तत्व अतत्व को जानकर और समभाव धारण करके अपनी शुद्ध आत्मामें लीनहैं इस जगत् में वहही सुखी हैं ॥

बिण्णिवि दोस हवंति तसु, जो समभाउ करेइ ।
बंध जु निहणइ अप्पणउ, अणु जगु गहिलु करेइ ॥ १६९ ॥

(निंदा स्तुति) जो समभाव करताहै वह दो दोषोंका भागी होता है एक तो यह कि वह अपने बंधका अर्थात् कर्मबन्धन का नाश करताहै और संसार की रीति से विपरीत प्रवर्तने के कारण जगत्के जन उसको बावलासमझतेहैं-अर्थात् जगत्के लोग उसकी बाबत उल्टी समझ धारण करतेहैं, भावार्थ-जगत्के लोग बावले होजातेहैं ॥

अण्णु जि दोसु हवेइ तसु, जो समभाव करेइ ।
सत्तुवि मिल्लवि अप्पणऊ, परिहणि लीन हवेइ ॥ १७० ॥

(निंदा स्तुति) जो समभाव करताहै उसको और भी दो दोष होते हैं वह मिले हुवे अपने शत्रुको छोड़ताहै और लीन होकर पराधीन होताहै भावार्थ-कर्मशत्रु को त्यागता है और अपनी

आत्मा में लीनहोताहै अर्थात् अपनी आत्माके आधीनहोजाताहै॥

अगगु जि दोस हवेइ तसु, जो समभाउ करेइ।
वियलु हवेइ पुण इक्कलउ, उप्परि जगह चढेइ ॥ १७१ ॥

(निंदा स्तुति) जो समभाव करता है उसको अन्यभी दो दोष होते हैं वह विकल अर्थात् शरीर से रहित होकर अकेला जगत् के ऊपर चढ़ता है अर्थात् मोक्षको जाता है ॥

जा णिसि सयलहिं देहियहिं, जोग्गि उतहि जगोइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ १७२ ॥

रात्रि में जगत्के सर्व जीव सोजाते हैं परन्तु जोगी अर्थात् मुनि महाराज जागते रहते हैं अर्थात् धर्म ध्यान में सावधान रहते हैं और जब सारा जगत् जाग उठताहै अर्थात् जगत् के लोग अपने कार्य व्यवहार में लगते हैं उसको जोगी लोग कहतेहैं कि अंधकार हो रहाहै और जगत् के जीव सो रहे हैं—क्यूंकि जगत् के जीवों का संसार व्यवहार में लगना उनकी अज्ञानता के ही कारण होना है, भावार्थ–मुनि महाराजकी यह भी निंदा स्तुति कीगई है कि वह उल्टी चाल चलते हैं रातको तो जागते हैं और दिन को रात बताते हैं ॥

णाणि मुएप्पिणु भावसम, कित्थु वि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्प सहाउ ॥ १७३ ॥

ज्ञानी पुरुष सम भाव को छोड़कर किसी वस्तु में राग नहीं करता है जिस ज्ञानमई को वह प्राप्त होना चाहताहै वह आत्माकाही स्वभाव है ॥

भणई भणावइ णवि थुणइ, णिंदइ णाणि ण कोइ।
सिद्धिहिं कारण भाव सम, जाणंतउ परसोइ ॥ १७४ ॥

ज्ञानी पुरुष न किसी वस्तु की वार्ता करता है न वार्ता कराताहै न किसीकी स्तुति करता है और न निंदा करता है वह जानता है कि सिद्ध अर्थात् मोक्षका कारण समभावहीहै।

गंथहिं उप्परि परम मुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
गंथहिं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्प सहाउ ॥ १७५ ॥

परम मुनि परिग्रह से न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं वह

जानते हैं कि आत्मा का स्वभाव परिग्रह से भिन्न है ॥

विसयहिं उप्परि परम मुणि देसुवि करइ ण राउ ।
विसयहिं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्प सहाउ ॥ १७६ ॥

परम मुनि विषयों के ऊपर राग द्वेष नहीं करते हैं-वह जानते हैं कि आत्मा का स्वभाव विषयों से भिन्न है ।

देहहिं उप्परि परम मुणि, देसुवि करइ ण राउ ।
देहहिं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्प सहाउ ॥ १७७ ॥

परम मुनि देहसे भी राग द्वेष नहीं करते हैं वह जानतेहैं कि आत्मा का स्वभाव देहसे भिन्न है ॥

वित्ति णिवित्तिहि परम मुणि,देसुवि करइ ण राउ ।
वंधहि हेउ वियाणियउ, एयहिं जेण सहाउ ॥ १७८ ॥

व्रत अव्रत में भी परममुनि राग द्वेष नहीं करतेहैं वह इनको वंधका हेतु समझतेहैं यहही इनका स्वभावहै अर्थात् व्रतसे पुण्य और अव्रतसे पाप होना है ॥

वंधहि मोक्खहि हेउ णिउ, जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहें करइ जिय, पुण्णवि पाउवि दोइ ॥ १७९ ॥

जो कोई बंध और मोक्ष का हेतु नहीं जानता है वह मिथ्यात्व के उदयसे पुण्य और पापको दो भेदरूपजानता है अर्थात् पुण्यको अच्छा समझता है और पापको बुरा-भावार्थ ज्ञानी पुरुष पुण्य और पापदोनों को त्यागता है ॥

दंसण णाण चरित्तमउ, जो णवि अप्प मुणेइ ।
सिद्धिहिं कारण भणिवि जिय, सो पर ताइं करेइ ॥ १८० ॥

मोक्षके जोकारण कहे गये हैं अर्थात दर्शन ज्ञान और चारित्र को जो कोई आत्मा का स्वरूप नहीं जानताहै वह इसमेंभेदकरताहै॥

जो णवि मण्णइ जीउसम, पुण्णवि पाउवि दोइ ।
सो चिर दुक्ख सहंतु जिय,मोहें हिंडइं लोइ ॥ १८१ ॥

जो कोई पुण्य और पापदोनों को बराबर नहीं मानताहै अर्थात दोनों कोही मोक्षके विपरीत बंध नहीं समझता है वरण पुण्य को अच्छा जानताहै वह मोहके वशहोकर संसारमें रुलताहै और चिरकालतक दुःख भोगता है ॥

वर जिय पावइं सुंदरइं, णाणिय ताइं भणंति ।

जीवहिं दुक्खइं जणिवि लहु, सिवगइ जाइ कुणंति ॥ १८२ ॥

ज्ञानी लोग ऐसा कहते हैं कि वह पापभी श्रेष्ठ और सुंदरहै जिसके कारण जीव दुःखको जानकर मोक्ष मार्ग में लगजावे ॥

मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ, णाणिय ताइ भणंति।

जीवहिं रज्जइ देवि लहु, दुक्खइ जाइं जणंति ॥ १८३ ॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा कहतेहैं कि वह पुण्यभी भला नहींहै जो जीव को राजा आदिक की विभूति देकर अर्थात् विषय कषाय में लगाकर दुःख उत्पन्न करताहै ॥

वर णिय दंसण अहि मुहउ, मरणुवि जीव लहीस।

मा णिय दंसण विम्मुहउ, पुण्णवि जीव करीस ॥ १८४ ॥

निःसंदेह मुझको सम्यक् दर्शन श्रेष्ठ है चाहे उसके होने से मरणही प्राप्त होताहो निःसंदेह मुझको दर्शनकी विमुखता अर्थात् मिथ्यात्व पसन्द नहीं है चाहे उस मिथ्यात्व के होते हुवे पुण्यही प्राप्त होताहो ॥

जे णिय दंसण अहि मुहा, सुक्ख अणंतु लहंति।

ते विण पुण्णु करंताहि, दुक्खु अणंतु सहंति ॥ १८५ ॥

जो जीव सम्यक् दर्शन के सन्मुखहैं वह निःसंदेह अनन्त सुख पाते हैं अर्थात् मोक्ष में जाते हैं और जो इसके विनाहैं अर्थात् मिथ्या दृष्टिहैं वह पुण्य करते हुवे भी अनन्त दुःख भोगतेहैं भावार्थ अनन्त दुःख रूप संसार में रुलते हैं ॥

देवहिं सच्छहिं मुणि वरहिं, भत्तिए पुण्ण हवेइ।

कम्मक्खउ पुणुहोइ णवि, अज्जउ संति भणेइ ॥ १८६ ॥

देव शास्त्र और मुनि की भक्तिसे पुण्य होता है परन्तु कर्मोंका क्षय अर्थात् मोक्ष नहीं होता है संत लोग ऐसा कहते हैं ॥

देवहिं सच्छहिं मुणि वरहिं, जोविद्देसु करेइ।

णिय मं पाउ हवेइ तसु, जि संसार भमेइ ॥ १८७ ॥

जो कोई देव गुरु शास्त्र से द्वेष करताहै उसको अवश्य पाप होताहै जिससे वह संसार में रुलताहै अर्थात् इनकी भक्ति करने से पुण्य और इनकी निंदा करने से पाप होताहै पाप और पुण्य दोनोंहीसे संसार परिभ्रमण है ॥

पावें णारउ तिरिउ जिउ, पुरणें अमरु वियाणु ।
मिस्सें माणुस गइ लहइ, दोहिवि खइ णिव्वाणु ॥ १८८ ॥

पाप से जीव नरक और तिर्यंच गतिको पाता है और पुण्य से देव गति मिलती है और पाप पुण्य दोनों मिलकर मिश्रसे मनुष्य गति पाताहै और पाप पुण्य दोनोंके क्षय होनेसे मोक्षकोप्राप्तहोताहै।

वंदणु णिंदणु पडिकवणु पुरणाहि कारण जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ, एकुवि णाणि ण तेण ॥ १८९ ॥
वंदणु णिंदणु पडिकवणु, णाणिहि एउण वत्तु ।
एकुवि मेल्लिवि णाणमउ, सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ १९० ॥
वंदउ णिंदउ पडिकवउ, भाउ असुद्धउ जासु ।
परतसु संजम अत्थिणवि, जं मण सुद्धि ण तासु ॥ १९१ ॥

वंदनाअर्थात् देवगुरु शास्त्रकी पूजनिंदा अर्थात् अपनी निंदाकरना पश्चाताप करना और प्रतिक्रमण यह तीनों क्रिया जो पुण्य के उपजाने वाली हैं इनमें से एक को भी ज्ञानी पुरुष अर्थात् मोक्षकी सिद्धिकरने वाला नहीं करता है न कराता है और न इनकी अनुमोदना करताहै--एक ज्ञानमई और शुद्ध आत्मा के ध्यान को छोड़ कर पवित्र भाव का धारक ज्ञानवान् वंदना आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं करता है-वंदना आलोचना और प्रतिक्रमण वहही करताहै जिसकाभाव अशुद्धहै और जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम नहींहै-भावार्थ मोक्षकी सिद्धि करने वालातो शुद्ध आत्मध्यान में लगताहै और पुण्य क्रियाओंको अर्थात् शुभोपयोग को भी त्यागताहै--क्यूंकि शुभोपयोग से शुद्ध और पवित्र भाव नहीं होतेहैं- पुण्य बंधही होता है और मोक्ष होता है शुद्धभावसे इसकारण पुण्य बंधके कार्य भी वह नहीं करताहै-वंदना आदिक शुद्धभाव नहींहै इसहेतु अशुद्धहीहैं और जब भाव शुद्ध नहीं तब संयमनहीं अर्थात् मोक्षकी सिद्धि करनेवालेका संयम शुद्धात्मस्वरूप में लीन होनाही है ॥

सुद्धहि संजम सील तउ, सुद्धहि दंसण णाण ।
सुद्धहि कम्मक्खउ हवइ, सुद्धउ तेण पहाण ॥ १९२ ॥

उसकाही अर्थात् शुद्धोपयोगी काही संयम शुद्ध है उसही का शील शुद्धहै उसही का दर्शन ज्ञान शुद्धहै उसहीका कर्मोंका

क्षय करना शुद्ध है उसहीका प्रधानपना अर्थात् परमात्मा होना शुद्ध है ॥

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ, धम्म भणेविणु लेहु ।
चउगइ दुक्खहिं जो धरइ, जीउ पडंतहु एहु ॥ १६३ ॥

चतुरगति रूप दुःखसागर में पड़े हुवे जीवका जो उद्धार करता है वह अपना विशुद्धभाव है जिसको धर्म कहते हैं इस कारण शुद्ध भाव ग्रहण करना चाहिये ॥

सिद्धिहिं केरा पंथडा, भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहिं मुणि चलइ, सो किम होइ विमुक्कु ॥ १९४ ॥

मुक्ति प्राप्तिका मार्ग एक विशुद्धभाव ही है और कोई मार्ग नहीं है जो मुनि शुद्ध भावों से गिरता है उस को मुक्ति कैसे हो सक्ती है ॥

जहिं भावहिं तहिं जाहि जिय, जंभावइ करि तं जि ।
के मइ मोक्ख ण अत्थि पर, चित्तहिं सुद्धि ण जं जि ॥ १९५ ॥

जहां चाहे जावे जो चाहे किया करे परन्तु जिसका मन शुद्ध नहीं है उसको मोक्ष नहीं प्राप्त हो सक्ता है ॥

सुहपरिणामें धम्मु पर, असुहें होइ अहम्मु ।
दोहिवि एहिवि वज्जियउ, सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥ १९६ ॥

शुभ परिणामों से धर्म अर्थात् पुण्य होता है और अशुभ परिणामों से अधर्म अर्थात पाप होता है और इन दोनों से रहित हो कर शुद्ध परिणामों से कर्म्म बंध ही नहीं होता है भावार्थ न पुण्य होता है और न पाप ॥

दाणें लब्भइ भोउ पर, इंदत्तणु जिणवेण ।
जम्मण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण ॥ १९७ ॥

दान करने से भोगों की प्राप्ति होती है इन्द्रयों को जीतने अर्थात् तप करने से स्वर्ग का इन्द्र होता है और ज्ञान से जन्म मरण से रहित अवस्था अर्थात् परमपदको प्राप्त होता है ॥

देउ णिरंजणु एउ भणइं, णाणें मोक्खु णभंति ।
णाण विहूणउ जीवड़ा, चिरु संसार भमंति ॥ १९८ ॥

श्री वीतराग देवने ऐसा कहा है कि ज्ञान से ही मोक्ष होती है

जो जीव ज्ञान विहीन है वह चिरकाल तक संसार में रुलता है ॥

णाण विहीणह मोक्खपउ, जीव म कासु विजोइ ।
वहुयइ सलिलु विरोलियइ, करु चोप्पडउ ण होइ ॥ १९९ ॥

ज्ञान विहीन होकर जीव किसी प्रकार भी मोक्ष पद प्राप्त नहीं कर सक्ता है जैसे कि कितना ही पानी बिलोया जावे परन्तु हाथ चीकना नहीं होगा ॥

जं णिय वोहहिं वाहिरउ, णाणुजि कज्जु ण तेण, ।
दुक्खहिं कारण जेण तउ, जीवहिं होइ खणेण ॥ १०० ॥

निज शुद्ध आत्मा के बोध से रहित जो ज्ञान है वह कुछ कार्य कारी नहीं है वह दुःख काही कारण है ॥

तं णिय णाणुजि होइ णवि, जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयर किरणहिं पुरउ जिय, किं विलसइ तमराउ ॥ २०१ ॥

वह ज्ञान नहीं है जिस से राग द्वेष उत्पन्न हो ज्ञान के सूर्य की किरणों के प्रकाश होने पर यह जीव राग रूप अंधकर को किस प्रकार भोग सक्ता है अर्थात् जैसे सूर्य के उदय में अंधेरा नहीं रहता इसही प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर राग द्वेष नहीं रहता है ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणियहिं, अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।
जेण ण विसयहिं मणु रमइं, जाणं तहिं परमत्थु ॥ २०२ ॥

ज्ञानी पुरुषको आत्म स्वरूप के सिवाय अन्य कोई वस्तु सुंदर नहीं है जिन का मन विषयों में नहीं रमता है वह ही परमार्थ को जानते हैं ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, चित्ति ण लागइ अण्णु ।
मरगउ जेण वियाणियउ, तहिं कच्चि कउ गण्णु ॥ २०३ ॥

ज्ञानी का चित्त आत्मा के सिवाय और किसी वस्तु में नहीं लगता है जिसने मरकट मणि को जानलिया है वह कांच को क्या गिनता है ॥

भुंजंतहिं णिय कम्मु फलु, जो तहिं राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु फुणु, संचिउ जेण विलाइ ॥ २०४ ॥

कर्मों के फल के भोगने में जिस का राग दूर नहीं हुआ है अर्थात्

जो सुख दुःख मानता है वह फिर नवीन कर्म बांधता है कर्मों का उदय आना और फलदेना तो संचित कर्मों का नाशहोनाहै परन्तु जो सुख दुःख मानताहै वह आगामी को फिर कर्म बांधलेताहै ॥

भुंजंतुवि णिय कम्म फलु, मोहैं जोजि करेइ।
भाउ असुंदरु सुंदरुवि, सो परु कम्मु जणेइ ॥ २०५ ॥

कर्मों के फल भोगने में जो जीव मोहके कारण शुभ अशुभ भाव करता है वह नवीन कर्मों को उत्पन्न करता है ॥

जो अणुमित्तुवि राउ मणि, जाम ण मेल्लइ एत्थु।
सोवि ण मुंचइ ताम जिय, जाणंतुवि परमत्थु ॥ २०६ ॥

जिसके मन में रंच मात्रभी राग रहगया है वह यदि परमार्थ को जानताभी है तो भी वह कर्मों के बंधन से नहीं छूटताहै ॥

बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ, पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुच्चइ जाम णवि, एहु परमत्थुण वेइ ॥ २०७ ॥

जो पुरुष शास्त्रको समझताहै और तपश्चरण करताहै परन्तु परमार्थ को नहीं जानताहै वह कर्मों का नाश नहीं करसक्ता है और परमार्थअर्थात् मोक्षको नहीं पासक्ताहै ॥

सत्थु पढंतुवि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतुवि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु॥ २०८ ॥

शास्त्र को पढकर भी जो कोई विकल्प को दूर नहीं करताहै वह मूर्खहै और वह निर्मल शुद्ध परमात्मा को जो सांसारिक जीवों के देहमें बसताहै नहीं जानताहै ॥

बोहि णिमित्तें सत्थुकिल, लोए पढिज्जइ एत्थु।
तेणवि बोहुण जासु वरु, सो किं मूढ ण तत्थु ॥ २०९ ॥

लोकमें सर्व शास्त्र बोध होनेके निमित्तही पढेजातेहैं–शास्त्रोंके पढने से भी जिसको श्रेष्ठ बोध नहीं हुवा अर्थात् परमार्थ का नहीं जाना वह किस हेतु से मूर्ख नहीं है अर्थात् अवश्य वह अत्यन्त मूर्ख है ॥

अक्खरडा जोयंतु ठिउ, अप्पि ण दिण्णउ चित्तु।
कणवि रहियउ पयालु जिम, पर संगहिउ बहुत्तु ॥ २१० ॥

जो कोई अक्षरों कोही ढूंढताहै और आत्मा में चित्त नहीं देता

है वह ऐसाहै जैसा कोई मनुष्य बहुत सी पराल अर्थात् भूसी को जिसमें अनाज बिलकुलनहो इकट्ठी करताहो ॥

तित्थें तित्थ भमंताहिं, मूढ़हिं मोक्खु ण होइ ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ॥ २११ ॥

तीर्थ स्थानों में भ्रमणे से मूढ मति को मोक्ष नहीं होसक्ती है इसही प्रकार ज्ञान रहित जीव मुनि नहीं होसक्ता है ॥

णाणिहिं मूढहिं मुणिवरहिं, अंतरु होइ महंतु।
देहुजि मिल्लइ णाणियउ, जीवहिं भिण्णु मुणंतु। २१२ ॥

ज्ञानी और मूर्ख मुनि में बड़ा भारी अंतर है ज्ञानी तो जीव को शरीर से भिन्नजान कर देहको भी छोड़ना चाहताहै ॥

लेणहिं इच्छइ मूढ पर, भुवणवि एहु असेसु ।
बहु विहि धम्म मिसेण जिय, दोहवि एहु विसेसु॥ २१३ ॥

और जो मूर्ख है वह अनेक प्रकार धर्म के मिस अर्थात् बहाने से सारे जगत् को ग्रहण करना चाहताहै दोनों में अर्थात् ज्ञानी और मूर्ख साधुमें यह भेद है ॥

चेल्ला चेल्ली पोत्थियहिं, तूसइ मूढ णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहिं हेउ मुणंतु ॥ २१४ ॥

चेला चेली और शास्त्र में मूर्ख साधु निःसंदेह हर्ष मानताहै परन्तु ज्ञानी पुरुष इसको बंधका कारण जानकर लज्जा करताहै ॥

चट्टइ पट्टइ कुंडियइं, चिल्ला चिल्लियएहिं ।
मोह जणेवणु मुणिवरहं, उप्पहि पाडिय तेहिं ॥ २१५ ॥

चट्टी पट्टी औ कुंडा अर्थात् कलम दावात कागज तखती आदिक और चेला चेली यह सब मुनि को मोह पैदा करके नीचे गिराते हैं

केणवि अप्पउ वंचियउ, सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयलवि संग ण परिहरिय, जिणवर लिंग धरेण ॥ २१६ ॥

जिसने सिरके बालों का लोंच करके दिगम्बर रूप धारण किया है परन्तु सर्व परिग्रह को नहीं छोड़ा है अर्थात् रागद्वेष जिस में विद्यमान है उसने अपने आप को ठगा है ॥

जे जिण लिंगु धरेवि मुणि, इट्ठ परिग्गह लिंति ।
छद्दि करेविणु तेजि जिय, सा पुणु छद्दि गिलंति ॥ २१७ ॥

जो मुनि दिगम्बर लिंग धारण कर के फिर इष्ट वस्तु को अर्थात् जो वस्तु अच्छी मालूम हो उस का ग्रहण करताहै वह वमन अर्थात् कै की हुई वस्तु को फिर खाता है ॥

लाहइं किचिहि काराणिण, जे सिव संगु चयंति।
खीला लग्गिवि तेजि मुणि, देउलु देउ डहंति ॥ ११८ ॥

लोभ वा यशकीर्ति के वास्ते जो मुनि शिवसंग को छोड़ता है अर्थात् शुद्ध आत्म ध्यान से डिगता है वह एक कील के वास्ते देव मंदिर को जलाता है वा ढाता है ॥

अप्पउ मरणइ जो जि मुणि, गरुयइं गंथहिं तित्थु।
सो परमत्थें जिणुभणइं, णउ बुज्झइ परमत्थु ॥ २१९ ॥

जो मुनि परिग्रह से ही अपने को बड़ा मानता है वह परमार्थ को नहीं पहचानता है परमार्थ कथन में श्रीजिनेंद्रदेव ने ऐसा कहा है ॥

बुज्झनहं परमन्थु जिय, गुरु लहु अत्थि ण कोइ।
जीवा सयलावि वंभुपरु, जेण वियाणइं सोइ ॥ २२० ॥

जो परमार्थ को पहचानते हैं वह ऐसा कहते हैं कि जीव में छोटा बड़ा कोई नहीं है सबही जीव परमब्रह्म हैं ॥

जो भत्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्खण एउ।
अत्थउ कहिं मि कुडिल्लियइं, सो तसु करइ ण भेउ॥ २२१ ॥

जो मुनि रत्नत्रय की भक्ति करता है उसका यह लक्षण अर्थात् पहचान है कि वह सब जीवों को समान मानता है जवि किसी ही प्रकार का शरीरधारी हो वह उस में किसी प्रकार का भेद नहीं करता है-अर्थात् यह नहीं कहताहै कि यह तिर्यंच है यह मनुष्य है यह गधा है यह घोड़ा है ॥

जीवहं तिहुयणि संठियहं, मूढा भेउ करंति।
केवल णाणइं णाणि फुडु, सयलु वि एकु मुणंति॥ २२२ ॥

तीनों लोक में वास करने वाले जीवों में मूर्ख लोग भेदकरते हैं अर्थात् उनको नारकी, देव, मनुष्य आदिक समझतेहैं परन्तु ज्ञानी पुरुष सर्व जीवों को ज्ञानमयी अर्थात् एकही प्रकारके समझतेहैं

जीवा सयलवि णाणमय, जम्मण मरण विमुक्क ।
जीव पएसहिं सयल सम, सयलवि सगुणहिं एक्क ॥ २११ ॥

सबही जीव ज्ञानमयी हैं और जन्म मरण से रहित हैं अर्थात् किसी जीवका आदिअन्त नहीं है सब जीव सदासे हैं और सदा रहैंगे और जीवके प्रदेश की अपेक्षा भी सब जीव समान हैं और शुद्धगुण अर्थात् अनन्त दर्शन अनन्तज्ञान अनन्त सुख आदिक गुणों की अपेक्षा भी सब जीव एकही हैं ॥

जीवहं लक्खणु जिणवरहिं, भासिउ दंसण णाण ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ, जइ मण जाउ विहाणु ॥ १२४ ॥

श्रीजिनेंद्रदेवने जीवका लक्षण दर्शन और ज्ञान वर्णन किया है जिसके मनमें प्रभात हुई है अर्थात् ज्ञानका प्रकाश हुवाहै वह जीवों में भेद नहीं करता है अर्थात् सब को दर्शन और ज्ञानकी शक्ति वाला मानता है ॥

बम्ह हु भुवणि वसंताइं, जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्प पयासयर, जोइय विमुलु मुणंति ॥ ११५ ॥

तीन लोक में बसतेहुवे परब्रह्म स्वरूप आत्माओं में जो कोई भेद नहीं करते हैं वह परमात्मा का प्रकाश करने वाले योगी सर्व जीवों को निर्मल और शुद्ध मानते हैं ॥

राय दोसवे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति ।
ते समभाव परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥ २२१ ॥

जो मुनि राग द्वेष आदिक विपरीत भावों को दूर करके सर्व जीवोंको समान जानतेहैं वह समभाव में स्थिर होकर शीघ्र निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥

जीवहं दंसणु णाणु जिय, लक्खणु जाणइ जोजि ।
देह विभेएं भेउ तहँ, णाणिकि मण्णइं सोजि ॥ २२७ ॥

जो कोई दर्शन और ज्ञान को जीवका लक्षण जानताहै वह शरीर के भेदसे जीवोंमें कैसे भेदकर सक्ता है अर्थात् भेद नहीं करता है ॥

देहावे भेयइं जो कुणइं, जीवहिं भेव विचित्र ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहं, दंसण णाणु चरितु ॥ २२८ ॥

जो कोई शरीर के भेदसे जीवों में भेद करते हैं वह दर्शन ज्ञान और चारित्र को जो आत्मा के लक्षणहैं नहीं जानतेहैं ॥

अंगइं सुहुमइं बादरइं, विहिवसि हुंति जि बाल ।
जिय पुणु सयलवि तित्तडा, सव्वत्थवि सय काल ॥ १२९ ॥

शरीर का छोटा बड़ा और बालक और वृद्ध आदिक होना यह सब कर्मों के वशसे है परन्तु निश्चयरूप अर्थात् असलियत में सर्व जीव सर्वथा सर्वकाल में एक समानहीहैं ॥

सत्तुवि मित्तुवि अप्पु परु, जीव असेसुवि एइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ १३० ॥

शत्रु मित्र आपा पर और अन्य सब जीवों को जो एक समान मानताहै वहही आत्मा को जानताहै ॥

जो णवि मण्णइ जीव जिय, सयलवि एक्क सहाव ।
तासु ण थक्कइ भाउ सम, भवसायर जो णाव ॥ १३१ ॥

जो सब जीवों को एक स्वभावरूप नहीं मानताहै उसको सम भाव नहीं होताहै समभाव भवसागर से तिरनेके वास्ते नाव के समान है ॥

जीवहं भेउ जि कम्म किउ, कम्मुवि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ ॥ १३२ ॥

जीवों में जो भेद है वह कर्मों का किया हुवा है परन्तु कर्म जीव नहीं होजाते हैं अर्थात् जीवसे भिन्न हैं क्यूंकि काल लब्धि पाकर कर्म जीवसे अलग होजातेहैं ॥

एकु जिकरि मणविण्ण करि, मं करि वण्ण विसेसु ।
एक्कें देवें जि वसइ, तिहुयणु एहु असेसु ॥ १३३ ॥

तू सब जीवों को एक समान ही मान यह मनुष्य है यह तिर्यंच है इत्यादि भेद मतकर एकही देव अर्थात् एक शुद्धआत्मा जिस प्रकारकी है तीन लोकके जीवों को तू वैसाही जान ॥

परु जाणंतुवि परम मुणि, पर संसग्गु चयंति ।
पर संसग्गइं पर पयहं, लक्खहं जेण चलंति ॥ १३४ ॥

परममुनि परवस्तु को जान कर परवस्तु का संसर्ग छोड़ते हैं-और जो परवस्तु से संसर्ग करते हैं वह निशाना चूक जाते हैं

अर्थात् शुद्धआत्मध्यान से गिरजाते हैं ॥

जो समभावहं बाहिरउ, ते सहु मं कर संग ।
चिंता सायरि पडहि पर, अण्णुवि डुज्झइ अंग ॥ २१५ ॥

जो कोई समभाव से रहित है उसके साथ संग अर्थात् मेल मत कर क्यूंकि उनका संग करने से तू चिंता के समुद्र में पड़जावैगा और व्याकुलता प्राप्त होकर तेरा शरीरभी जलैगा ॥

भल्ला हवि ण संति गुण, जहुं संसग्गु खलेण ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेण ॥ २१६ ॥

दुष्ट की संगति से उत्तम गुणभी नाश होजाते हैं जैसे अग्नि भी लोहे की संगति से घण से पीटी जाती है ॥

जोइय मोहु परिच्चयहिं, मोहु ण भल्ला होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ २१७ ॥

यह मोह त्यागने ही योग्य है मोह किसी प्रकार भी भला नहीं है सर्व ही संसार मोहमें आसक्त हुवा दुःख उठारहा है ॥

जे सरसें संतुट्ठ मण, विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण घार मुणि, णावि परमत्थु मुणंति ॥ २१८ ॥

जो स्वादिष्ट भोजन में संतुष्ट हैं और अस्वादु भोजन में द्वेष करते हैं अर्थात् पसन्द नहीं करते ऐसे मुनिको तू भोजन गृद्धि समझ वह परमार्थ को नहीं जानते हैं ॥

रूवि पयंगा सद्दि मय, गयफासें णासंति ।
अलिउल गंधें मच्छ रसि, तिम अणुराउ करंति ॥ २१९ ॥

रूप में आसक्त हुवा पतंग और शब्द अर्थात् करण इंद्रिय में आसक्त हुवा हिरण और स्पर्श इंद्रिय में आसक्त हुवा हाथी और गंध में आसक्त हुवा भौंरा और रस में आसक्त हुवा मच्छ नाश को प्राप्त होता है ॥

जो इय लोहु परिच्चयहि, लोहु ण भल्ला होइ ।
लोहा सत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ २४० ॥

तू इस लोभ का त्याग कर लोभ भला नहीं है-लोभ में ही आसक्त हुवा सारा जगत् दुःख उठा रहा है ॥

तालि अहिरणि वरि घण वडणु, संडस्सय लुंचोडु ।
लोहहं लग्गिवि हुयवहहं, पिक्खु पडंतउ तोडु ॥ १४१ ॥

लोहे के साथ लगनेसे अर्थात् लोहे का लोभ करके अग्निकी यह अवस्था होतीहै कि नीचे अहरण है ऊपर से घण पड़ता है बीचमें से संडासी ने पकड़ रक्खा है और टूट टूट कर चिंगारी अलग पड़रही हैं ॥

जोइय णेहु परिच्चयहि, णेहु ण भल्ला होइ ।
णेहा सत्तउ सयलु जगु, दुक्ख सहंतउ जोइ ॥ १४२ ॥

तू इस स्नेह (प्यार मुहब्बत) का त्यागकर स्नेह भला नहीं होता है सारा जगत् नेह ही में आसक्तहुवा दुःख उठारहा है ॥

जल सिंचणु पयणिद्दलणु, पुण पुण पीलण दुक्ख ।
णेहहं लग्गिवि तिलणियरु, जंति सहंतउ पिक्खु ॥ १४३ ॥

तिलको तेल के साथ नेहलगानेसे इतने दुःख उठाने पड़ते हैं कि वह पानी में भिगोया जाताहै पैरों से दल मलाजाताहै अर्थात इस प्रकार उसका छिलका उतारा जाताहै फिर कोल्हू में डालकर बार बार पीला जाताहै ॥

तेचिय धण्णा तेचिय सउरिसा, तेजियंतु जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया, तरंति जे चेव लीलाए ॥ १४४ ॥

वह जीव धन्य हैं वह जीव सत्पुरुष हैं वहही इस जीवलोक में जीते हैं जो योवनरूपी द्रह में पडकर लीला करते हुवे निकलते हैं अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्रकाशते हैं ॥

मोक्खुजी साहिउ जिणवरहिं, छंडिवि वहु विह रज्जु ।
भिक्ख भरोडा जीव तुहुं, करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ १४५ ॥

श्रीजिनेंद्र भगवान्ने मोक्षका साधन करने के वास्ते बहुत प्रकार का राजपाट छोड़ा तू भिक्षा से पेट भरने वाला अर्थात् कंगाल होकरभी अपना कार्य अर्थात् मोक्ष का साधन क्यूं नहीं करता है ॥

पावहि दुक्खु महंत तुहुं, जिय संसार भमंतु ।
अहवि कम्मइं णिद्दलिवि, वच्चहि मोक्खु महंतु ॥ १४६ ॥

तूने संसार में भ्रमण करके महान् दुःख उठाये हैं अब तू आठकर्मों का नाश करके परमपद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर ॥

जिय अणु मित्तुवि दुक्खडा, सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउगइ दुक्खइं कारणइ, कम्मइ कुणहिं कि तोइ ॥ २४७ ॥

जो तू थोड़ासा दुःख भी नहीं सह सक्ता है तो तू कर्मों को क्यूं करता है जो चारों गति के दुःखों के कारण हैं ॥

धंधइ पडियउ सयलु जगु, कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खहिं करणु एक्कु खणु, णवि चिंतइ अप्पाणु ॥ २४८ ॥

मूर्ख जीव सारे जगत् के धंधों में पड़कर कर्म उपार्जन करता है परन्तु अपनी आतमा का ध्यान एक क्षणमात्र के वास्तेभी नहीं करता है जो मोक्षका कारण है ॥

जो णिहिं लक्खइ परिभमइ, अप्पा दुक्ख सहंतु ।
पुत्त कलत्तइ मोहियउ, जावण णाणु फुरंतु ॥ २४९ ॥

जो अपनी आतमा को नहीं पहचानता है वह दुःख उठाता हुवा भ्रमता रहता है-जिसका ज्ञान प्रकाश नहीं हुवा है वह पुत्र और कलत्र में मोहित रहता है अर्थात् आतमा को नहीं पहचान सक्ता है ॥

जीव म जाणहिं अप्पणउ, घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ, आगमि जो इहि दिट्ठु ॥ २५० ॥

हे जीव तू घर परिवार शरीर और मित्रको अपना मत जान यह सब कर्मों के उपजाये हुवे हैं शास्त्र के जाननेवालों ने इसही प्रकार देखा है ॥

मोक्खु ण पावहिं जीव तुहुं, घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जितउ, पावहि मोक्खु महंतु ॥ २५१ ॥

हे जीव घर परिवार की चिंता में तुझको मोक्ष प्राप्त नहीं होसक्ता है इस कारण तू तपकी चिंताकर जिससे महान् मोक्षकी प्राप्ति हो

मारिवि जीवहं लक्खडा, जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त कलत्तहं कारणिण, तं तुहुं एक्कु सहीस ॥ ॥ २५२ ॥

पुत्र कलत्र के वास्ते जो तू लाखों जीवों को मारता है और पाप कमाता है उसका फल तुझको अकेलाही भोगना पड़ैगा ॥

मारिवि चूरिवि जीवड़ा, जं तुहु, दुक्ख करीसि ।
तं तहं पासी अणंत गुणु, अवसइं जीव लहीसि ॥ २५३ ॥

हे जीव जीवों को मारकर और चूरकर जो तू दुःख देताहै उससे अनन्त गुणा दुःख तुझको अवश्य सहना पड़ैगा ॥

जीव वहं तहं णरयगइ, अभय पदाणें सग्गु ।
वे पह जवला दरिसिया, जहिं भावइ तहिं लग्गु॥ २५४ ॥

जीव की हिंसा करने से नरकगति होतीहै और अभयदान देनेसे अर्थात् अहिंसा व्रत धारण करने से स्वर्ग होताहै-दोनों पंथ प्रकट रूप दीखतेहैं जो अच्छा लगै उसही में लग ॥

मूढा सयलुवि कारिमउ, भुल्लउ मा तुस कंडि ।
सिवपय णिम्मलि करहि रइ, घरु परियलु लहु छंडि॥ २५५ ॥

हे मूर्ख तू सब कामों में भूलाहुवा है तुस अर्थात् छिलका इकट्ठा मतकर तू निर्मल शिवपद में अनुरागकर और घर परिवारको छोड़दे

जाइये सयलुवि कारिमउ, णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीवें जंतें कुडिण गयइ, उपाडिच्छंदा जोइ ॥ २५६ ॥

संसार के सब कामों में अविनाशी अर्थात् सदारहने वाला कोई कार्य्य नहीं है दृष्टान्त रूप देखो कि मरणेपर यह शरीर भी जीव के साथ नहीं जाता है ॥

देउलु देउवि सत्थ गुरु, तित्थुवि वेउवि कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउं, इंधणु होसइ सव्व ॥ २५७ ॥

मंदिर, प्रतिमा, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य और जो कुछ फल फूल इस संसार में दीखता है वह सब ईंधन होजायगा अर्थात् नाशको प्राप्तहोजायगा भावार्थ नित्य कोई वस्तु नहींरहैगी ॥

इक्कु जि मिल्लिवि बंभुपरु, भुवणुवि एहु असेसु ।
पुहमिहि णिम्मिउ भंगुरउ, एहउ बुज्झवि सेसु ॥ २५८ ॥

एक परब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा के सिवाय जगत में अन्य जो जो दशा देखने में आतीहै वह सब विनाशीक है तू इस प्रकार समझ ॥

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि, ते अथवणि ण दिट्ठ ।
तिं कारणि वढ धम्मु करि, धणि जोव्वणि का तिट्ठ ॥ २५९ ॥

सूर्य्य के उदय समय जो प्रकाश होताहै वह अन्त में अर्थात् संध्या समय नहीं रहता है इस कारण तू उत्तम धर्म का सेवन कर धन यौवन में क्या रक्खा है ॥

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ, रुक्खं चम्म मएण ।
खज्जवि जरउद्देहियए, णरइ पडिव्वउ तेण ॥ २६० ॥

जो कोई धर्म संचय नहीं करता है और तप नहीं करता है उसके शरीर का चमड़ा वृक्षकी समान है अथवा वह चमड़े का वृक्ष है वह अभक्ष भक्षण करके निशंक प्रवरतता है और नरक में पड़ता है ॥

अरि जिय जिणपए भत्ति करि, सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तें वप्पेणवि कज्जणवि, जो पाडइ संसारि ॥ २६१ ॥

अरे जीव तू जिनेंद्र के चरणोंकी भक्ति कर और मित्र कलत्र आदिक को छोड़दे इन मित्र आदिक से कुछभी प्राप्ति नहीं है वह संसार में ही डुबोने वाले हैं ॥

विसयहं कारणि सव्वु जणु, जिम अनुराउ करेइ ।
तिम जिण भासिए धम्म जइ, णउ संसारि पडेइ ॥ २६२ ॥

संसार के सर्व जीव विषयों के कारणों में जैसा अनुराग करते हैं यादि ऐसा अनुराग श्रीजिनेंद्र भाषित धर्म में करें तो संसार में न पड़ें ॥

जेण ण चिण्णउ तवयरणु, णिम्मलु चित्त करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुस जम्मु लहेवि ॥ २६३ ॥

जिसने निर्मलचित्त होकर तपश्चरण नहीं किया उसने मनुष्य जन्म पाकर अपने आपको ठगा है ॥

ए पंचिंदिय करहड़ा, जिय मोकला मचारि ।
चरिवि असेसुवि विषय वणु, पुणु पाडहिं संसारि ॥ २६४ ॥

हेजीव तू इन पंच इन्द्रिय रूप ऊटों को स्वच्छन्द मतचरा अर्थात् इन्द्रियोंको स्वछन्द होकर विषय भोग मत भोगने दे वह इन्द्रियां विषयों को भोगकर तुझको संसार में गिरादेंगी ॥

जोइय विसमी जोयगइ, मणु संठवण ण जाइ ।
इंदिय विसय जि सुक्खड़ा, वल्लि वल्लि तित्थु जि जाइ ॥ २६५ ॥

हे जोगी जोगकी गति बहुत कठिन है मन स्थिर नहीं होताहै-मन इन्द्रियों के विषय सुक्खों पर बल बल जाता है अर्थात् मोहित होता है ॥

विसय सुहइ वेदिवहडा, पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव मवावि तुहुं, अप्पुणु खंधि कुहाडि ॥ २६६ ॥

विषय सुख भोगने से फिर दुःखके परिवार को पालनाहै अर्थात् विषय सुख भोगने का फल बारबार दुःख उठानाहै हे मूर्ख जीव तू अपने कंधेपर आप कुहाड़ा मतमार ॥

संता विसय जु परिहरइ, बलि किज्जउं हउं तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ, सीसु खुडिल्लउ जासु ॥ २६७ ॥

जो संत पुरुष विषयों को छोडतेहैं मैं उनपर किसप्रकार बलबल जाऊं अर्थात् वह धन्य हैं-जिसके शिरपर बालनहीं होतेहैं वह तो आपसे आपही मुंडा हुवा है इसही प्रकार चौथे काल में श्री अरिहंत देवोंके उपदेशसे विषय कषायों को छोड़कर जो मुनि होतेहैं उनका तो सहज ही मुनि होनाहै परन्तु जो इस पंचम कालमें विषयों को त्यागते हैं उनका आश्चर्य है वह धन्यहैं ॥

पंचहं णायकु वासि करहु, जेण हुंति वसि अण्ण ।
मूलवि णट्ठइं तरुवरहं, अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥ २६८ ॥

पांच इन्द्रियों का जो नायकहै अर्थात् मन उसको तू वशकर जिसके वश होने से सब इन्द्रियां वश में होजाती हैं जैसे कि वृक्ष की जड़ काटनेसे सारा वृक्ष सूख जाताहै ॥

विसयासत्तउ जीव तुहुं, कित्तिउ कालु गमीस ।
सिवसंगमु करि णिच्चलउ, अवसइं मोक्खुनहीस ॥ २६९ ॥

हे जीव विषय भोगों में आसक्त हुवे तुझ को बहुत काल व्यतीत होगये हैं अबतू निश्चल होकर शिव संगमकर अर्थात् शुद्ध आत्मा का ध्यान कर जिससे तुझको अवश्य मोक्ष की प्राप्तिहो ॥

इहु शिवसंगमु परिहरिवि, गुरुवड कहिवि मजाहि ।
जे सिवसंगमि लीणणवि, दुक्खु सहंता वाहि ॥ २७० ॥

शिव संगम अर्थात् शुद्ध आत्मध्यान को छोड़कर हे शिष्य

तू और कहीं मतजा अर्थात् अन्यकिसी बात में चित्त मत लगा क्योंकि जो आत्मध्यान में लीन नहीं होतेहैं वह दुःखही सहते हैं ॥

कालु मणाइ अणाइ जिउ, भवसायरुवि अणंतु ।
जीवें विरिणएण पत्ताइं, जिणुसामिउं सम्मत्तु ॥ २७१ ॥

काल भी अनादि से है और जीव भी अनादि से है और संसारसागर अनन्त है परन्तु श्रीजिनेंद्र देव और सम्यक्त्व का पता जीवके बिना और कहीं न लगा अर्थात् सारे जगत् को ढूंढ मारो परमात्मा और सम्यक्त्व यह दोबातें जीवकेही लक्षण में मिलैंगी अन्य कहीं भी नहीं मिलैंगी इसकारण आत्मध्यानही में लगना चाहिये ॥

घर बासउ मा जाणि जिय, दुक्किय वासउ एहु ।
पासु कयंतें मंडियउ, अविचलु णीसंदेहु ॥ २७२ ॥

हे जीव घरकाबास अर्थात् स्त्री पुत्र आदिक में रहकर घर बसाना जोहै इस को तू इस के सिवाय और कुछ मत जान कि यह निःसंदेह एक अचल फांसी तेरे टांगने को गाड़ी गई है इस वास्ते घर बास छोड़ना योग्य है ॥

देहुवि जेत्थु ण अप्पणउ, तहिं अप्पणउ किं अएणु ।
परकारणि म णगरुव तुहुं, सिव संगमु अवगएणु ॥ २७३ ॥

जब देही अर्थात् शरीर भी अपना नहीं है तब अन्य कौन पदार्थ अपना हो सक्ताहै अर्थात् कोई पदार्थ अपना नहीं है इस कारण हे उत्कृष्टजीव तू परके कारण शिव संगम अर्थात् शुद्ध आत्मध्यान का निरादर मतकर अर्थात् आत्मध्यानको मतछोड़ ॥

करि सिव संगमु एकुपर, जहिं पा विज्जइ सोक्खु ।
जो इय अएणु म चिंति तुहुं, जेण ण लब्भइ मोक्खु ॥ २७४ ॥

तू एक ही से शिव संगम कर अर्थात् एक शुद्ध आत्मा का ही ध्यान रख जिसमें तुझको सुखकी प्राप्तिहो अन्य किसी वस्तु की चिंता मतकर क्योंकि अन्य पदार्थकी चिंता करने से तुझको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ॥

वलि किउ माणुस जम्मडा, देक्खंत तहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तोच्छारु ॥ २७५ ॥

मनुष्य शरीर के बलहारी, जो देखने में अति सुंदरहै परन्तु यदि इसका ढकाढोल खोलदिया जावै तौ अति घिणावना है और यदि इसको आग लगजावै तो राख होजातीहै ॥

उच्चलि चोप्पडि चेट्ठकारि, देहि सु मिट्ठा हार।
देहह सयल णिरत्थ गय, जह दुज्जणि उवयार ॥ २७६ ॥

देहको धोना अर्थात् कुरला करना हाथ धोना और चोपड़ना अर्थात् तेल फुलेल लगाना और कुंकुमआदिक लगाना मीठा भोजन देना यह सब निरर्थक है जैसा कि दुर्जन का उपकार करना व्यर्थ होताहै ॥

जेहउ जज्झरु णरयघरु, तेहउ जोइय काउ।
णरय णिरंतरु पूरियउ, किम किज्जइ अणुराउ ॥ २७७ ॥

जैसे झाजरा अर्थात् छिद्र सहित विष्टा का पात्रहै, जिसमें से विष्टा गिरता रहै एसाही यह शरीर है जिसमें से मलमूत्र आदिक निकलता रहताहै—ऐसे शरीर के साथ कैसे अनुरागकियाजावै ॥

दुक्खइं पावइं असुचियहं, तिहुयणि सयलइं लेवि।
एयहि देहु विणिम्मियउ, विहिण वइरु मुणेवि ॥ २७८ ॥

विधना अर्थात् कर्मोने जीव के साथ बैर करके समस्त दुःख तथा समस्त पाप और समस्त अशुचि पदार्थ इकठे करके यह शरीर बनाया है ॥

जो इय देहु घिणावणउ, लज्जहि किएण रमंतु।
णाणिय धम्म हरइ करहि, अप्पा विमलु करंतु ॥ २७९ ॥

हे ज्ञानी ऐसी घिणावणी देहके साथ प्रीति करने में लज्जाकर तू इसमें क्यूं रमताहै इसको छोड़ और अपनी आत्माको निर्मल करने के अर्थ धर्मकर ॥

जो इय देहु परिच्चयहि, देहु ण भल्ला होइ।
देह विभिण्णउ णाणमउ, सो तुहुं अप्पा जोइ ॥ २८० ॥

यह जो देह है इस का तू त्याग कर, देह भली नहीं है देह से भिन्न जो ज्ञानमयी आत्मा है उसही की तू खोज कर ॥

दुक्खहं कारणु मुणिवि मणि, देहुवि एहु चयंति।

जित्थु ण पावहिं परम सुहु, तित्थु कि संतवसंति ॥ १८१ ॥

सत्पुरुष देह को दुःख का कारण जानकर देहकी ममत्व को छोड़ते हैं जिसमें परमसुख की प्राप्ति न हो उसमें सत्पुरुष कैसे रमैं अर्थात् नहीं रमते हैं ॥

अप्पा यत्तउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंततयहं, हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ १८२ ॥

तू अपने आत्मीक सुख में संतोषकर पर पदार्थ से जो सुख उत्पन्न होता है उस से तृष्णा दूर नहीं होती है ॥

अप्पहं णाणु परिचइवि, अरणु ण अत्थि सहाउ ।
एहु जाणेविणु जोइयहो, परह म बंधहु राउ ॥ १८३ ॥

आत्मा ज्ञान स्वभाव है सिवाय इसके उसका और कोई स्वभाव नहींहै ऐसा जानकर हे योगी अन्य किसी पदार्थ से तू रागमतकर॥

विसय कसायहिं मण सालिलु, णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु, वढ पच्चक्खु वि तासु ॥ १८४ ॥

जिसका मन विषय कषाय में नहीं डोलता है अर्थात् संकल्प विकल्प से रहित है उसको सम्यक्तरूप नेत्रों से अपना शुद्धआत्मा प्रत्यक्ष नजर आता है ॥

अप्पा परहं ण मेलविउ, मणु मारिवि सहसात्ति ।
सो वढ जोएं किं करइ, जासु ण एही सत्ति ॥१८५॥

अपनी आत्मा को परपदार्थ में न लगाना और समाधि रूप हथियार से मनको मारना यह काम जिससे नहीं होसक्ते हैं वह योगी बनकर क्या करेगा अर्थात् उसका योग वृथाहै ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, अरणुजि झायहिं झाणु ।
वढ अरणाण वियंभि यहं, कउ तहं केवल णाणु ॥ १८६ ॥

अपनी ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर जो अज्ञानी पर पदार्थ का अवलम्बन करके ध्यान करता है अर्थात् पर पदार्थ में ध्यान लगाताहै उसको केवल ज्ञान कैसे प्राप्त होगा भावार्थ जो अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं करता उसको केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सक्ता है ॥

सुरणउ पउ झायंताहं, वालिवालि जोइयडाहं ।

समरस भाउ परेण सह, पुएगु ण पाउवि जाहिं॥ ॥ १८७ ॥

जो योगी पुण्य पापसे रहित है और शुद्ध आत्माका ध्यान शुभ अशुभ विचार से रहित होकर करते हैं वह धन्य हैं मैं उनपर बलिहारा जाऊं ॥

उव्वासि वसिया जो करइ, वसिया करइ जो सुएगु ।
बलि किज्जउ तसु जोइयहं, जासु ण पाउ ण पुएग ॥ १८८ ॥

जो उजड़े हुवे को बसाता है और बसे हुवे को उजाड़ताहै अर्थात् अपनी आत्मामें शुद्ध स्वभाव को प्राप्तकरता है और राग-द्वेषादिक भावों को दूरकरता है और जिसके पाप है न पुण्य है ऐसे योगीपर मैं कैसे बलिहार जाऊं अर्थात् वह योगी धन्यहैं ।

तुट्टइ मोहु तडत्ति जहिं, मणु अत्थवणु होजाइ ।
सो सामिय उवएसु कहि, अरणें देवें काइं ॥ १८९ ॥

हे स्वामी ऐसा उपदेश कह जिनसे तुरंत मोह टूटजावै और मन स्थिर होजावै अन्य किसी देव आदिक से क्या प्रयोजन है अर्थात् हमारा प्रयोजन जो मुक्ति प्राप्त करने का है वह किसी देव आदिक से पूरा नहीं होसक्ता है मुक्ति तो मोह के दूरहोने और मन के स्थिरहोने से ही प्राप्तहोसक्ती है इसकारण उस ही का उपदेश कर।

णासवि णिग्गउ सासडा, अंबरि जित्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं, मणु अत्थवण होजाइ ॥ १९० ॥

जहां अर्थात् जिस ध्यान में नाक से निकलनेवाला सांस तालूरंध्र (दशवां द्वार) से निकलने लगता है उस ध्यान में मोह तुरंत ही दूर होजाता है और मन स्थिर होजाता है-(ध्यान का विषय अन्य ग्रन्थों से पढ़ना चाहिये तब यह कथन समझ में आवैगा)

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ, तुट्टइ सासुणि सासु ।
केवलणाणुवि परिणवइ , अंबरि जाहं णिवासु ॥ १९१ ॥

जिसका निज शुद्ध आत्मा में निवास है अर्थात् जो कोई अपनी आत्मा के ही ध्यान में मग्न है उसका मोह नाश होजाता है,मन मरजाता है अर्थात् स्थिर होजाताहै और नाक से सांस लेना भी टूट जाता है अर्थात् सांस तालूरंध्र से निकलता है उस ही को केवल ज्ञानहोता है-और मुक्ति प्राप्तहोती है॥

जो आयासहिं मणु धरइ, लोयालोय पमाणु ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु, पावइ परहं पवाणु ॥ २९१ ॥

जो कोई आत्मा को आकाश के समान लोक और अलोक के बराबर अपने मनमें धारण करता है उसका मोह तुरंत टूटजाता है और परमपद प्राप्तहोता है-भावार्थ जिस प्रकार आकाश स्वच्छ है पर द्रव्य से भिन्नहैं और लोकालोक में व्याप्तहै इसही प्रकार आत्मा भी स्वच्छ और निर्मल है और सर्वज्ञ होने के कारण उसका ज्ञान लोकालोक में फैलता है इस हेतु जो कोई आकाश के समान अपनी जीवात्मा का विचार करताहै वह मोहका नाश करताहै ॥

देहि वसंतुवि णवि मुणिउ, अप्पा देउ अणंतु ।
अंवरि समरासि मणु धरिवि, सामिय णट्ठु णिभंतु ॥ २९३ ॥

हे स्वामी मैंने वृथा काल गंवाया और अपनी देहमें बसती हुई अनन्तशक्तिवान् आत्मा को न जाना और आकाश के समान समता भाव मनमें धारण न किया ॥

सयलवि संग ण मेल्लिया, णवि किउ उवसम भाउ ।
सिवपय मग्गुवि मुणिउ णवि, जहिं जोएइं अणुराउ ॥ २९४ ॥
घोरुण चिण्णउ तवयरणु, जंणिय वोहहंसारु ।
पुण्णावि पाउवि दट्ठु णवि, किम छिज्जइ संसारु ॥ २९५ ॥

सर्वप्रकारके परिग्रह को दूरनहीं किया और न उपसमभाव धारण किया और मोक्षऔर मोक्ष के मार्ग को जिससे योगी जन अनुराग करते हैं नहीं जाना और वह तपश्चरण नहीं किया दुर्द्धरपरीसह काजीतना जिसका चिह्न है और जो सारभूत है अर्थात् मोक्ष प्राप्तिका असली कारण है-और पुण्य और पाप को नष्ट नहीं किया तब यह संसार परिभ्रमण कैसे दूरहो ॥

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु ।
पंच ण वंदिय परमगुरु, किम होसइ सिवलाहु ॥ २९६ ॥

मुनिको दान नहीं दिया और श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा नहीं की और पंचपरमेष्ठी की वंदना नहीं की तब मोक्ष सुखका लाभ कैसे होगा ॥

अद्धुम्मीलिय लोयणइं, जोउ किज्झं पियएहिं ।

एमइ लब्भइ परमगइ, णिच्चिंताहि ठियएहिं ॥ १९७ ॥

आधी आंख खुले रखने से वा आंख बिल्कुल बंदकरलेने से परम पदकी प्राप्ति नहीं होती है वह तो चिन्ता के दूर होने से ही प्राप्तहोता है-भावार्थ ध्यान करने के समय आधी आंख उघाड़कर वा सांरी आंख मूंदकर बैठजाने से क्याहोता है-जबतक चिन्ता दूर नहीं हुई है ॥

जोइय मेल्लहि चिंत जइ, तो तुट्टइ संसारु ।
चिंता सत्तउ जिणवरुवि, लहइ ण हंसाचारु ॥ १९८ ॥

यदि तू चिन्ता को छोड़देगा तो तेरा संसारपरिभ्रमण दूर होजायगा श्रीजिनेंद्रभगवान् कोभी संसार अवस्था में जबतक चिंताका सद्भाव रहा तबतक आत्मस्वरूप को प्राप्त न होसके ॥

जोइय दुम्मइ कवण तुहुं, भव कारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहि जो रहिउ, सो जाणिवि मणु मारि ॥ १९९ ॥

हे जीव तुझ में कैसी मूर्खताई है कि संसार में परिभ्रमण करने का कारण जो व्यवहार है उसमें तू लगता है तू सर्वप्रकार के प्रपंच से रहित अर्थात शुद्ध ब्रह्मको जान और अपने मन को मार अर्थात् स्थिर कर ॥

सव्वहिं रायहिं छह रसहिं, पंचहि रूवहिं जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाइ तुहुं, अप्पा देउ अणंतु ॥ ३०० ॥

सर्वप्रकार के राग, षटरस, पंच प्रकार के रूप को चित्त में से दूर करके तू अपनी आत्मारूपी अनन्त देव का ध्यान कर ॥

जेण सरूवें झाइयइ, अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूवें परिणवइ, जहं फलिहउ मणि मंतु ॥ ३०१ ॥

यह अनन्त आत्मा जिस स्वरूप का ध्यान करती है तिसही रूप परिणव जाती है अर्थात उसही रूप होजाती है जैसे फटिक मणि के साथ जिस रंग की डांक लगा दीजावे वैसाही रंग मणि का होजाता है ॥

एहु जो अप्पा सो परमप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा ।
जावहि जाणइ अप्पें अप्पा, तावइं सो जी देउ परमप्पा ॥ ३०२ ॥

यह जो आत्मा है यह ही परमात्मा है कर्मों के वशसे परा-

बीन होरहा है और जब अपनी आत्मा को जान लेता है तब ही वह परम देव होजाता है ॥

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउ देउ अणंतु ।
जो हउ सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिभंतु॥ १०३ ॥

जो परमात्मा ज्ञानमयी है वह ही अनन्त देव है उसही परमात्मा को तू निःसंदेह अनुभवन कर॥

णिम्मल फलिहहं जेम जिय, भिण्णउ परकिय भाउ ।
अप्प सहावहं तेम मुणि, सयलुवि कम्म सहाउ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार निर्मल फटिक मणि डांक के लगने से डांक के रंग को ग्रहण करलेती है परन्तु असलियत में वह शुद्धही होती है इस ही प्रकार तू अपनी आत्मा को जान कि कर्मों के कारण उस का विपरीत भाव होरहा है असल में आत्मा शुद्धही है ॥

जेम सहावें णिम्मलउ, फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मणिण जिय, मइलउ देक्खिवि काउ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार फटिक मणि निर्मल है इसही प्रकार आत्मा निर्मल है तू शरीर को मैला देखकर अपनी आत्मा को मैला मत मान ॥

रत्ते वत्थे जेम वहु, देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहें रत्तें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु॥ १०६ ॥
जिण्णें वत्थें जेम वहु, देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहें जिण्णें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥ १०७ ॥
वत्थु पणट्ठइं जेम बुहु, देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
देहें णट्ठें णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ १०८ ॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय, देहहो मण्णइ णाणि।
देहु विभिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि॥ १०९ ॥

जिस प्रकार लालवस्त्र पहने हुवे मनुष्य का शरीर लाल रंग का नहीं समझा जाताहै इसही प्रकार ज्ञानी जन लालरंगका शरीर देखकर आत्माको लालरंगकी नहीं मानते हैं ॥

जिस प्रकार जीर्ण अर्थात् बोदे पुराने वस्त्रको देखकर शरीर जीर्ण नहीं माना जाताहै इसही प्रकार ज्ञानी पुरुष देहको जीर्ण देखकर आत्माको जीर्ण नहीं मानता है ॥

वस्त्रके नाश होजाने से जिस प्रकार देहका नाश होना नहीं माना जाता है इसही प्रकार ज्ञानी पुरुष देहके नष्ट होजाने से आत्माका नष्ट होना नहीं मानते हैं ॥

जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष वस्त्रको देहसे जुदा मानता है इसही प्रकार ज्ञानवान् आत्माको देहसे भिन्न जानताहै ॥

एउ तणु जीवड तुज्झु रिउ, दुक्खइं जेण जणेइ ।
सो परजाणहि मित्तु तुहु, जो तणु एहु हणेइ ॥ ११० ॥

हे जीव यह शरीर तेरा वैरी है क्यूंकि दुक्खों को उपजाता है इस कारण जो कोई तेरे शरीर को हनन करता है मारताहै उस को तू अपना मित्र समझ ॥

उदयहं आणिवि कम्मु मइं, जं भुंजेव्वउ होइ ।
तं सइं आविउ खविउ मइ, सो परलाहुजि कोइ॥ १११ ॥

महातपस्वी योगी जन पूर्व संचित कर्मों को अपने आत्मिक बलसे उदय में लाकर नष्ट करते हैं-यहही कर्म यदि आपही उदय में आकर नष्ट हो जावै तो बहुतही भली बात है अर्थात् कर्मके उदय आनेपर और किसी प्रकारका कष्ट होनेपर आनन्द मानना चाहिये कि इस प्रकार यह कर्म जो उदय आगयाहै अपना फल देकर नष्ट होजावेगा कर्म के उदय से जो कष्ट आवै उसमें क्लेश नहीं मानना चाहिये ॥

णिट्ठुर वयणु सुणेवि जिय, जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहिं बंभु परु, जं मणु झत्ति विलाइ ॥ ११२ ॥

हे जीव यदि तेरा मन खोटे वचनों को नहीं सह सक्ता है तो परब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन होजा जिससे तेरा मन आनंदित होजावै ॥

लोउ विलक्खणु कम्म वसु, इत्थु भवंतरि एइ ।
चोज्जु किइहु जइ अप्पि ठिउ,इत्थं जि भवि ण एंइ ॥ ११३ ॥

कर्मों के वश होकर संसारी जीवों के नाना प्रकार के भेद होरहे हैं अर्थात कोई पशु है कोई मनुष्य है कोई धनाढ्य है कोई कंगाल है इत्यादिक-और कर्मों के ही कारण यह जीव संसार में रुलता है-यदि यह जीव अपनी आत्मा में स्थिर होजावे अर्थात् कर्मों को

नाश कर देवै तो इस को संसार में रुलना न पड़ै इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥

अवगुण गहणइ महु तणइ, जइ जी वह संतोसु ।
ते तहं सुक्खहं हेउ हउ, इउ मरिणवि चइ रोसु ॥ ३१४ ॥

जो मेरे अवगुणों को ग्रहण करते हैं अर्थात् मेरी बुराई करते हैं उन को मेरी बुराई करने में आनन्द आता है इस कारण मैं उन के आनन्द का हेतु हुवा अर्थात् मेरे कारण उन का उपकार हुवा ऐसा मान कर और रोष अर्थात् क्रोध को दूर करके संतोष ग्रहण करना चाहिये ॥

जो इय चिंति म किंपि तुहुं, जइ वीहिउ दुक्खस्स ।
तिल तुस मित्तुवि सल्लडा, वे यण करइ अवस्स ॥ ३१५ ॥
मोक्खु म चिंतहि जोइया, मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।
जेण गिबद्धउ जीवडउ, मुक्खु करीसइ सोइ ॥ ३१६ ॥

यदि तू दुःख से डरता है तो किसी प्रकार की भी चिंता मतकर अर्थात् चिंता को छोड़ जैसे ज़रासा कांटा भी दुःखदाई होता है ऐसेही ज़रासी चिंता भी दुःखदाई होतीहै—

हे योगी तू मोक्षकी भी चिंता मतकर क्यूंकि चिंता से मोक्ष नहीं मिलता है—जिसने जीव को बांध रक्खा है उस ही से तू जीव को छुड़ा भावार्थ—चिंता को दूर कर ॥

सयल वियप्पहं जो विलउ, परम समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह भावडा, मुणि सयलावि मेल्लंति ॥ ३१७ ॥

समस्त विकल्पों से रहित होने को परम समाधि कहते हैं इस कारण मुनि महाराज समस्त शुभ अशुभ भावों का त्यागकरते हैं

परम समाहि महा सरहि, जे बुड्डहि पइसेवि ।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं, भव मल जंति वहेवि ॥ ३१८ ॥

जो कोई परम समाधि रूप महा सरोवर में सर्वांग डूबता है अर्थात् शुद्ध आत्म ध्यान में लीन होता है वह संसार रूपी मैल को धोकर शुद्ध आत्मा होजाता है ॥

घोरु करंतुवि तवयरणु, सयलावि सत्थ मुणंतु ।
परम समाहि विवज्जियउ, णवि देक्खइ सिउसंतु ॥ ३१९ ॥

जो घोर तपश्चरण करता है और जिसने सब शास्त्र भी पढ़ लिये हैं परन्तु जिसमें परम समाधि नहीं है तो वह शिव संत अर्थात अपनी शुद्ध आत्माको नहीं देखसक्ता है-भावार्थ मोक्ष नहीं पासक्ता है ॥

विसय कसाय विणिहलिवि, जो ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहं जोइया, णवि आराहय हुंति ॥ ३१० ॥

जो विषय कषाय को नाश करके परम समाधि को नहीं करते हैं वह योगी परमपद की आराधना करनेवाले नहीं हैं ॥

परम समाहि धरेवि मुणि, जे परबंभु ण जंति ।
ते भव दुक्खइं बहु विहइं, कालु अणंतु सहंति ॥ ३११ ॥

जो मुनि परम समाधि लगाकर परमब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभवन नहीं करते हैं वह बहुत कालतक बहुत प्रकार के दुःखों को सहते रहते हैं अर्थात् संसार में भ्रमते रहते हैं ॥

जाम सुहासुह भावडा, णवि सयलवि तुट्टंति ।
परम समाहि ण ताम मणि, केवलि एम भणंति ॥ ३१२ ॥

जबतक सर्व शुभाशुभ भाव दूर नहीं होजाते हैं तबतक परम समाधि नहीं होती है ऐसा श्री केवली भगवान् ने कहा है ॥

सयल वियप्पहं तुट्टाहं, सिवपिय मग्गि वसंतु ।
कम्म चउक्कइं विलयगइ, अप्पा होइ अरहंतु ॥ ३१३ ॥

सर्वप्रकार के विकल्प को दूर करके और मोक्ष मार्ग को ग्रहण करके चार घातिया कर्मों का नाश करके यह आत्मा अर्हन्त होजाती है-अर्थात् केवल ज्ञान और परमानन्द प्राप्तहोजाता है ॥

केवल णाणइं अणवरउ, लोयालोउ मुणंतु ।
णियमेंइ परमाणंद मउ, अप्पा होइ अरहंतु ॥ ३१४ ॥

यह आत्माही अर्हन्त पदको प्राप्त करतीहै और आवरण रहित केवल ज्ञान से लोक अलोककी सर्व वस्तु को जानतीहै और परमानन्दमयी है ॥

जो जिणु परमाणंद मउ, केवल णाण सहाउ ।
सो परमप्पउ परमपउ, सो जिय अप्प सहाउ ॥ ३१५ ॥

श्रीजिनेंद्र भगवान् परमानन्दमयी और केवल ज्ञान सुभाव के

धारीहै वहही उत्कृष्ट परमपद जीवात्माका सुभावहै अर्थात् आत्मा का असली सुभाव वही है जो परमात्माका है और आत्माही परमात्मपदको प्राप्त होकर जिन बनजातीहै ॥

जीवा जिणवर जो मुणइ, जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभाव परिट्ठियउ, लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ३२६ ॥

जो कोई पुरुष जीवको जिनेंद्र देव मानताहै और जिनेंद्र भगवान्‌को जीव मानता है अर्थात् यह समझता है कि संसारी जीव ही शुद्ध होकर जिनेंद्र देव होजाता है वह पुरुष समभाव में स्थित हुवा शीघ्र ही निर्वाण पदको प्राप्त करता है ॥

सयलहं कम्महं दोसहंवि, जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प पयासु तहुं, जोइय णियमें मण्णु ॥ ३२७ ॥

सर्व कर्मों और दोषों से रहित श्रीजिनेंद्रदेव को ही हे योगी तू परमात्म प्रकाश समझ ॥

केवल दंसण णाण सुहु, वीरिउ जोजि अणंतु ।
सो जिणु देउ जि परम मुणि, परम पयासु मुणंतु ॥ ३२८ ॥

केवल दर्शन केवल ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य इस प्रकार अनन्त चतुष्टय के धारी श्रीजिनेंद्रदेव ही परम मुनि हैं और वह ही परात्मा प्रकाश हैं ॥

जो परमप्पउ परमपउ, हरिहरु बंभु विबुद्ध ।
परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विसुद्ध ॥ ३२९ ॥

जो परमात्मा परमपदहै जिसको हरिहर वा ब्रह्म वा बुद्ध वा परमात्म प्रकाश कहतेहैं वह शुद्ध जिनेंद्रदेव है ॥

झाणें कम्मक्खउ करिवि, मुक्कउ होइ अणन्तु ।
जिणवर देवइ सोजि जिय, पभणिउ सिद्ध महंतु ॥ ३३० ॥

श्री जिनेंद्रदेवने उस जीवको सिद्ध महंत बताया है जिसने ध्यान के द्वारा कर्मोंका नाश करके अनन्त मुक्तिको प्राप्त कियाहै

जम्मण मरण विवज्जियउ, चउगइ दुक्ख विमुक्कु ।
केवल दंसण णाणमउ, णंदउ तित्थु जि मुक्कु ॥ ३३१ ॥

वह सिद्ध भगवान् जन्ममरण से छूटकर और चारों गतिके दुःखों से रहित होकर केवल दर्शन और केवल ज्ञान के आनन्द में मुक्ति स्थान में रहते हैं ॥

जे परमप्प पयास मुणि, भावें भावहिं सत्थु।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय, ते बुज्झहिं परमत्थु ॥ १३२ ॥

जो कोई मुनि इस परमात्म प्रकाश को शुद्धभाव से ध्यावैंहै और जिन्होंने समस्त मोह कर्मको जीतलिया है वेही परमात्मपदको पहचानते हैं ॥

अण्णुजि भत्तिए जे मुणहिं, एहु परमप्प पयासु।
लोयालोय पयास यरू, पावहिं तेवि पयासु ॥ १३३ ॥

अन्य जो मुनि परमात्मा प्रकाश के भक्त हैं वह सर्व लोकालोकको प्रकाशकरनेवाला प्रकाश अर्थात् ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥

जे परमप्प पयास यहं, अणुदिणु णाउ लयंति।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं, तिहुवण णाह हवंति ॥ १३४॥

जो प्रतिदिन परमात्मा प्रकाश का नाम लेते हैं उनका मोह कर्म तुरंत टूटजाता है और वह तीनलोक के नाथ होजाते हैं ॥

जे भव दुक्खहं बीहिया, पउ इच्छहि णिव्वाणु।
एहु परमप्प पयास यहं, ते पर जोग्ग वियाणु ॥ १३५ ॥

इस परमात्माप्रकाश ग्रन्थको आराधन करने के वहही योग्य हैं जो संसार दुःख में भयभीत हैं और निर्वाणपदको चाहते हैं ॥

जे परमप्पय भत्तियए, विसयावि जे ण रमंति।
ते परमप्प पयास यहं, मुणिवर जोगा हवंति ॥ १३६ ॥

वहही मुनि परमात्मा प्रकाश के योग्य हैं जिन को परमात्मपद की भक्ति है और जो विषयों में नहीं रमते हैं ॥

णाण वियक्खणु सुद्ध मणु, जो जणु एहउ कोइ।
सो परमप्प पयासहं जोग्गु, भणंति जि जोइ ॥ १३७ ॥

जो विचक्षण ज्ञानी है और मन जिसका शुद्ध है ऐसा जोकोई पुरुषहै वहही परमात्माप्रकाश के योग्य कहागया है।

लक्खण छंद विवज्जियउ, एहु परमप्प पयासु।
कुणइं सहावें भावियउ, चउगइ दुक्ख विणासु ॥ ३१८

यह परमात्मा प्रकाश जो छन्द अर्थात् कविताई के लक्षण से रहित है अर्थात् कविताइ का विचार छोड़कर परमात्मपद का जो स्वरूप इस में वर्णन कियागया है उस को जो कोई शुद्धभाव से ध्यावै है उसके चारोंगति के दुःख नाश होजाते हैं ॥

एत्थु ण लिव्वउ पंडियहिं, गुणु दोसुवि पुण रत्तु ।
भट्ट पहायर कारणइ, मइ पुणु पुणुवि पउत्तु ॥ ३१९ ॥

पण्डितों को चाहिये कि इस ग्रन्थमें बारबार एक बातको कहने के गुणदोष को न पकड़ैं क्यूं कि मैंने प्रभाकरभट्ट के समझाने के अर्थ एक एक बात को बारबार कहा है ॥

जं मइ किंपिवि जंपियउ, जुत्ताजुत्तु वि एत्थु ।
तं वरणाणि खमं तु महु, जे बुज्झहिं परमत्थु ॥ ३२० ॥

इस ग्रन्थ में यदि कोई बात मैंने युक्त अयुक्त कही है तो परमार्थ के जाननेवाले मुझपर क्षमाकरैं ॥

॥ काव्य ॥

जं तत्तं णाणरूवं परम मुणिगण णिच्च झायंति चित्ते ।
जं तत्तं देह चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व देहीण देहो ॥
जं तत्तं दिव्व देहं तिहुवण गुरुवं सिज्झए संतजीवे ।
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सोहु सिद्धं ॥ ३४१ ॥

जिस ज्ञान स्वरूप तत्व को परम मुनिगण नित्य अपने मनमें ध्यान करते हैं जो तत्व देहसे भिन्न है और जगत में सर्व देहधारियों की देह में बसताहै जिस तत्वकी देह दिव्यस्वरूपहै अर्थात् ज्ञानकी ज्योति से प्रकाशमान है और जो तत्व तीन लोकमें प्रतिष्ठितहै अर्थात् पूजनीकहै और संतजीवों को जिस तत्वकी सिद्धि होतीहै ऐसा शुद्ध तत्व जिसके हृदयमें प्रकट हुवाहै उसको निश्चयरूप सिद्धि प्राप्त होतीहै अर्थात् वह मुक्ति पदको पाताहै ॥

परमपयगयाणं भासओ दिव्व काओ ।
मणसि मुणिवराणं मोक्खदो दिव्व जोउ ॥
विसय सुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए ।
जयउ सिव सरूवो केवलो कोवि बोहो ॥ ३४२ ॥

वह शिवस्वरूप केवली भगवान् जयवंत रहैं जिनका दिव्य शरीर है और परमपदको प्राप्त हुवे हैं और जो मुनियों के नाथहैं और जिनका वह दिव्य अर्थात् शुक्ल ध्यानहै जो मुक्तिका देने वालाहै और जो ध्यान विषय सुख में आसक्त जीवों को इस लोकमें प्राप्त होना दुर्लभ है ॥

छपेहुए सर्वजैनशास्त्र हमारे पास मिलते हैं-

सूरजभानु वकील

देवबन्द, ज़िला सहारनपुर.

प्रकाशक—गांधी मगनलालजी शंकरलाल की तरफसे भेट।

श्रीविशुद्धात्मने नमः।

यज्ञोपवीतसंस्कार।

संस्कृतिः सर्वभूतानां प्रधानं शुद्धिसाधनम्।
शास्त्रोक्तविधिसंस्कारास्त्रिवर्णानां तथा मताः ॥१॥

भाषासु संस्कृता भाषा प्रिया देवद्विजन्मिनाम्।
तथोपनीतिसंस्कारः प्रियो देवद्विजन्मिनाम् ॥ २ ॥

सम्पादनकर्ता—
श्री १०५ पं. ज्ञानचंद्रजी वर्णी दशम प्रतिमाधारक.

ॐ

श्रीविशुद्धात्मने नमः।

यज्ञोपवीतसंस्कार।

सम्पादनकर्ता—

श्री १०५ पं. ज्ञानचंद्रजी वर्णी दशम प्रतिमाधारक।

प्रकाशक—

गांधी मगनलालजी शंकरलालजी जैन रतलामवाले।

ता १[illegible]-२-१९३० इसवी। मूल्य-सदुपयोग।

प्रथमावृत्तिः।] [प्रति १०००

मुद्रकः—**रघुनाथ रामचंद्र बरवले**, मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया
सोसायटी बिल्डिंग, सँढर्स्टरोड, गिरगांव-मुंबई.

प्रकाशकः—**गांधी मगनलालजी शंकरलालजी जैन रतलामवाले**, ठि. सेट विश्वंभरलालजी
कन्हैयालाल, अंबालाल बिल्डिंग चौथामाला काल्बादेवीरोड मुंबई नं. २.

प्रस्तावना।

अर्हच्चरणयोर्नित्यं सपर्यायां तथात्मनः।
शुद्धौ दाने नमोभक्त्या चिन्हौपासिकतन्तवे ॥ १ ॥

"रामप्रसाद"

अनादि अनिधन शुद्ध समृद्ध और शुद्धि समृद्धिके कारण परम पुनीत श्रीजिनधर्ममें अन्यतत्वोंके समान एक यह संस्कार तत्वभी उस अप्रतिहत अबाध रीति नीतिसे प्रतिपादित है कि–जिसकी समानता–**यन्नेहास्ति न कुत्राचित्**, इस वाक्यके अनुसार अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

कारण कि यहांकी तत्व शैली जिस नीति और उपनीतिसे प्रतिपादित है उसकी मूलभित्ति (नीव) अविरुद्ध अनेक धर्म प्रतिपादिका स्याद्वादप्रवचनमुद्रा सप्तभंगी है। इस जैनी (जिनोक्ता वा विजेता) नीतिके विना जहां कहीं भी तत्व प्रतिपादन है वह खपुष्पके समान मिथ्या तथा अभावरूप ही है।

जो लोग जैन कुल में उत्पन्न होने मात्रसे अपने को जैनी समझ कर जैनधर्म तथा उसके तत्वोंमें से किसी भी तत्व का स्याद्वाद नीतिके विना प्रतिपादन करनेकी शैलीका अवलम्बन करते हैं वे भी उसी कोटिमें परिगणित हैं जैसे कि अन्य धर्मी।

मैं इस छोटी सी भूमिका में उन सर्वधर्मियोंकी समालोचना करनेके लिये उद्युक्त नहीं हुआ हूं किंतु इस विषयके लिये उद्युक्त हुआ हूं कि जिन तत्वोंके विषयमें कुछ हमारे साधर्मी भाई भ्रान्त हो रहे हैं उन तत्वों में से किसी एक तत्वका शास्त्रप्रमाण व युक्तिप्रमाण से कुछ एक दिग्दर्शन करूं।

यहां प्रकरण संस्कारविधिका है इसलिये इसके विषयमें एक दो शब्द लिखना अति आवश्यक है।

संस्कार शब्दका निरुक्ति द्वारा एक अर्थ तो यह है कि जो आत्मा अनादिकालीन कर्ममलजनित राग द्वेषादि विधर्मोंसे मलिन था उसको शुद्ध बनाना। संसारकी चारो अवस्थाओं में से मनुष्य अवस्थाही एक ऐसी है कि जिसके विना यह जीव कभी भी उस विशुद्ध सिद्धावस्था का लाभ नहीं कर सकता। जब यह (विषय) निर्विवाद सिद्ध है तो फिर यह

भी निर्विवाद् सिद्ध है कि जिस अवस्था (मनुष्यदेह) से यह जीव परम शुद्धिका लाभ करता है वह अवस्था भी विशुद्ध होनी चाहिये । और उस विशुद्ध अवस्था में अभ्यन्तर पुण्यकर्मादि साधनों के सिवाय जो खास निमित्त साधन है उसीका नाम संस्कार शब्द का द्वितीय अर्थ है । उसके (संस्कारके) लिये जो विधि कीजाती है उसीका नाम संस्कारविधि है । उसका गर्भाधान आदि १६ सोलह प्रकारसे सविस्तृत वर्णन जैन ग्रंथोंमें पाया जाता है तथा इन्हींका संक्षिप्त संग्रह पं. लालारामजीने अपनी **षोडश संस्कार** नामक पुस्तकमें किया है। वहां पर होमविधि के साथ संक्षेपमें अन्य सर्वविधि और उसके उपयोगि मंत्र सामिग्री आदिका वर्णन है । यह **यज्ञोपवीत संस्कार** नामका ग्रंथ जो **श्री १०५ ब्रह्मचारी पं. ज्ञानचंद्रजी दशम प्रतिमाधारक** ने संग्रह किया है वह उन क्रियाओंके धारण कराने में बड़ा ही उपयोगी है तथा इस ग्रंथमें संक्षेपसे आर्षीय प्रमाणों सहित—सद्धर्म, सन्मार्ग, मनुष्यजन्मप्राप्तिकी दुर्लभता, तथा उसकी उपयोगिता में साधक श्रावकधर्म, संस्कार धारण आदिका सामान्य वर्णन करते हुए यज्ञोपवीत संस्कारका विशेषता से वर्णन किया है । इस वर्णन में आपने यज्ञोपवीत धारण के अधिकारी, यज्ञोपवीतका स्वरूप और उसके धारण, साधन, प्रमाण, अवस्था आदिका उपयोगी कथन किया है। सब संस्कारों के समान इसमें भी होम तथा विधि विधान होता है इस विषयका वर्णन इस ग्रंथमें शायद् इसलिये नहीं दिखलाया गया है कि यह विषय पं. लालारामजीके **षोडष संस्कार विधि** में है । परंतु हमने पं. लाला रामजी के उस (षोडष संस्कार विधि) के **यज्ञोपवीत** और **व्रतावतरण** प्रकरणको इस ग्रंथमें इस लिये जोड़ दिया है कि इस विषयको पढ़ने वालोंके लिये उस पुस्तक के नहीं होने परभी इस विषयकी कुछ पूर्णता होजाय ।

यद्यपि यहां होमविधिके प्रकरणका होना भी अति आवश्यक था परंतु वह प्रकरण बहुत बड़ा था इसलिये साधनाभावसे हमने उसे यहां नही रखा है ।

यज्ञोपवीत ।

इस ग्रंथके पढ़नेसे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि—यज्ञोपवीत (यज्ञसूत्र) जैनागम (शास्त्र) सम्मत है । क्योंकि यहां आदिपुराण, नीतिसार, देवसेनकृत भावसंग्रह, ब्रह्मसूरिसंहिता, जिनसंहिता, अकलंकसंहिता, आशाधरप्रतिष्ठापाठ आदि अनेक ग्रंथोंके प्रमाण हैं । अतःइस विषयमें कोई शास्त्र प्रमाणका दुराग्रह करै तो उसका दुराग्रह निर्मूल होनेसे केवल दुराग्रह ही है । क्योंकि यहां इतने और इससे भी अधिक जब शास्त्र प्रमाण इस विषय के स्पष्ट द्योतक हैं तो अब शास्त्र प्रमाणता कोंनसी बाकी रही । तथा इस विषयके बाधक कोई ऋषिवाक्य भी नहीं हैं ।

शायद कोई यह कहै कि हमको अपने मनोनीत ऋषिग्रंथ ही इस विषय में प्रमाण होने चाहिये अन्य नहीं। तो फिर मेरा इस विषयमें कहना इतनाही है कि उनमें (मनोनीत ऋषिग्रंथों में) कौनसी छाप लगी है कि वे ऋषि प्रणीत हैं और ये नहीं। थोड़ी देर के लिये यही क्यों न मान लिया जाय कि उन ऋषियोंके समयमें इन यज्ञोपवीत संस्कार आदि विषयकी अविरुद्ध धारा प्रवाह रूपसे प्रवृत्ति होगी अतः इस विषयके ऊपर प्रकाश डालने की आवश्यकता न समझी हो तथा इन ऋषियों ने अपने समय में समझी हो क्यों कि हितकारियों की प्रवृत्ति विशेष हितकर (अति आवश्यक) विषय में ही होती है अन्यत्र नहीं यदि उनकी अन्यत्र (उस समयके लिये अनावश्यक) में भी प्रवृत्ति हो तो फिर उनकी हितकरता ही गण्य तथा मान्य कैसे समझी जाय। जब कि यह नीति है **प्रयोजनमन्तरामन्दोऽपि न प्रवर्तते** इत्यादि। तथा यह भी कहां निश्चय है कि उनने इस विषयके ग्रंथ नहीं लिखे। उनके लिखे हुए ग्रंथ यदि नष्ट होगये हों तो उनकी असंभवता भी क्यों और आश्चर्य भी क्या ? यदि ऐसा नहीं है तो पुस्तकालयों की सूची में नाम होने पर भी वे अपूर्व ग्रंथ आज क्यों नहीं मिलते जैसे कि गंधहस्तमहाभाष्य आदि।

शायद कोई अपनी परीक्षा प्रधानतासे यह कहै कि यह विषय दि. जैनधर्म के विरुद्ध है क्योंकि इसमें विरोधकता के साधक अमुक (आजकल ऐसी प्रथा नहीं देखी जाती तथा ये अन्य ग्रंथों के उद्धृत वाक्य होने से प्रमाण कोटि में नहीं आसकते इत्यादि) विषय हैं। उनसे मेरा साग्रह निवेदन है कि आपकी जो परीक्षा प्रधानता है वह सिर्फ एकान्तवाद की मुख्यता से कलुषित है क्योंकि हमारी जो यह—**सर्व एव हि जनानां प्रमाणं लौकिको विधिर्यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्**, जैनी स्याद्वादमय नीति है उसकी आपने चरितार्थता नहीं की यदि इस नीतिका अवलम्बन करते तो वैसी परीक्षा तक आपकी दौड़ न होती। और न सत्य विषयके कुचले जाने की ऐसी नौबत ही आती।

आप यह निश्चयही समझें कि जो जैन गुरु हैं वे निश्चयही स्वार्थत्यागी विवेकी निस्पृही और स्वपरोपकारी हैं उनके द्वारा संसारका अकल्याण होना असंभव ही नहीं किन्तु सर्वथा ही असंभव है। क्योंकि इनगुणों के धारक कभी भी दम्भी ठगी नहीं होते। अतः (उपर्युक्त गुणों के कारण) उनके अक्षरशः वाक्यकी प्रमाणीकता ही प्रेक्षापूर्वकारी विद्वानोंके लिए कल्याण प्रद है।

जैनधर्मकी नीति स्पष्ट कहती है कि—समस्त जैनियोंकी जितनी लौकिक क्रिया आचरण व्यवहार आदि विधि हैं वे सर्व ही प्रमाणीक हैं जहां सम्यक्त्वकी हानि न हो तथा जहां व्रतों में किसी प्रकारका दूषण न आवे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कोई भी व्यवहार तथा कोई

भी वाक्य दूसरी जगह का क्यों न हो परन्तु वह हमारे यहां हमारी नीतिसे संघटित है तो हमारा ही है। क्योंकि जैसे व्यवहार व उस विषयके वाक्य हमारे सदृश अन्यत्र भी मिलें तो उसमें नियामकताका ऐसा कौन हेतु है जो ये उन्हीं के हैं हमारे नहीं हैं। क्या वाक्य रचना शैली सर्वत्र विरुद्धही रहती है एकसी नहीं यदि इस विषयके ठेकेदारीका नियामक कोई कायदा या कानूनविषयक शास्त्र आपके पास हो तो फिर उस वाक्यरचना सादृश्य वैसादृश्य द्वारा प्रमाणाप्रमाणिकताका पचडा भी आपका मान्य समझा जाय नहीं तो फिर वह जो आपका हेतु-है वह हेत्वाभास ही क्यों न समझा जाय।

पद और वाक्य की अनुकरणता सिर्फकाव्य शास्त्रों के लिये ही निन्दनीय है धर्मग्रंथ और कानून ग्रंथोंके लिये नहीं है क्यों कि—काव्योंमें ही कविकी बुद्धिविषयक प्रतिभाकी परीक्षा होती है।

यदि कुछ इधर उधर हो कर अथवा वैसेही हमारे उपासिकाध्यायनादि सूत्रोंके वाक्य अन्यत्र पाये जाते हों तो उन परीक्षकोंके पास ऐसी नियामकताभी क्या है कि ये उन्हीं के वाक्य हैं। अथवा वे वाक्य शायद हमारे न भी हों और उन वाक्यों में हमारा भाव पाया जाता हो तो वे भी हमारे क्यों नहीं क्यों कि उपर्युक्त नीति (सर्व एव हि जैनानामित्यादि) हमको इस-बात की आज्ञा देती है कि वे हमारे ही हैं। तथा यज्ञोपवीतादि विधिके धारकों की न्यूनाधिकताका होना कालचक्रसे जीवों के परिणाम तथा साधनसामिग्री की न्यूनाधिकता पर निर्भर है। अतः इन सब उपर्युक्त वाक्यों से निश्चित है कि यज्ञपवीतादि संस्कारविधि आगमोक्त है।

अब हमको युक्तियों द्वाराभी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि युक्तिसंगत वात परीक्षा प्रधानियों को प्रायः विशेष मान्य होती हैं।

यज्ञोपवीत को **रत्नत्रयाङ्गमुपवीतेति** श्लोकमें रत्नत्रयका कारण (साधन) बतलाया है उसका तात्पर्य स्पष्ट है कि—कार्य संपादनमें उपादान और निमित्त दो प्रकारकी शक्तियां होती हैं। उनमें से उपादनता है वह **भाव** और **द्रव्य** दो धर्मों में विभक्त है। भाव और द्रव्य ये पदार्थ के धर्म हैं और निमित्त सहायक को कहते हैं। दृष्टान्तमें जैसे कि मूंगमें पचन शक्ति तो **भाव** है और मूंग द्रव्य है। उसमें निमित्त जल अग्निसंस्कार आदि हैं। कार्य है पाचनता की व्यक्तता इसी प्रकार दार्ष्टान्तिमेंभी—रत्नत्रयादि शक्तियां **भाव** और आत्मा **द्रव्य** और यज्ञोपवीत संस्कार आदि संस्कृतियां वहां निमित्त हैं। निमित्तको कहीं २ पर कोई २ आचार्य द्रव्यभी करते हैं। जैसे कि आशाधर प्रतिष्ठा पाठ में—

दृग्बोधचारित्रगुणत्रयेण धृत्वा त्रिधौपासिकभावसूत्रम्।
द्रव्यं च सूत्रं त्रिगुणंसुमुक्ताफलं तदारोपणमुद्वहामि॥

---

१ रत्नत्रयस्य तत्र (द्रव्ययज्ञोपवीते) संकल्पात् आधाराधेय भावतया उभयोः (यज्ञोपवीतरत्नत्रययोः) द्रव्यभावता क्रमेण.

यहां उसका तात्पर्य निमित्ततासे ही है परंतु वह औपासिक (श्रावक) अवस्थामें अवश्यंभावी होनेसे द्रव्य शब्दसे निर्दिष्ट है। क्योंकि श्रावक अवस्था—असि, मसि आदि षट् कर्मोंके निमित्त से अति प्रामादिक है इसलिये उसमें उसके धर्मोंके उद्बोधक निमित्त की आवश्यकता है मुनिधर्ममें वह बात न होनेसे उसकी जरूरत नहीं असलियतमें **यज्ञोपवीत** श्रावकके योग्य रत्नत्रयकी उद्बोधकता का चिन्ह है अतः यज्ञोपवीतके समय कमसे कम अष्ट मूल गुणरूप चारित्रका होना अवश्यंभावी है। क्यों कि चारित्रकी शुरूआत (प्रारंभता) वहीं से है इसलिये त्रिधर्म सूचक यज्ञोपवीत भी वहां है।

यज्ञोपवीत में मुख्य तीन लर होती हैं उसका तात्पर्य मुख्यतासे सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयकी उद्बोधकता से है परंतु प्रत्येक के भीतर जो नव२ तन्तु रक्खे हैं उसका तात्पर्य यह है प्रत्येक (धर्मोद्बोधक तन्तु) कृत कारित अनुमोदना पुरःसर मन वचन कायकी सरलता को लिये नव २ बाड़का एक २ तागा होनेसे सब तागे सत्ताईस अंश प्रमाण हैं। उन तागों की ग्रंथिरहित सरल शुभ्र स्वच्छ आदि शुद्ध अवस्थाका वर्णन है वह सिर्फ परणामोंके सरल रखने का उद्बोधक है।

और उन यज्ञोपवीतों में जो ब्रह्मग्रन्थि आदि गांठों का विधान है वह उस वर्णकी सूचकताकी निशानी है। अर्थात् जो एक गांठ है वह ब्राम्हणकी निशानी है क्योंकि एक प्रथमका सूचक है इसलिये सबसे प्रथमवर्ण (ब्राह्मण) की निशानी एक गांठ है। इसी तरह क्षत्रियकी दो क्योंकि वह दूसरे नम्बरका वर्ण है। और वैश्य की तीन क्योंकि वह तीसरे नम्बरका वर्ण है शूद्र पापकर्मा होते हैं इसलिये उनके यज्ञोपवीतका विधान नहीं।

शूद्रको यज्ञोपवीत संस्कार क्यों नहीं होता इसके लिये आगम प्रमाण। यथा—

उदीक्षार्हेकुलेजाता विद्याशिल्पोपजीविनः।
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः॥

तथा युक्तिसे भी इनको उपवीत आदि संस्कार क्यों नहीं ? इस विषय का निरसन—धर्म शास्त्रों में यज्ञोपवीत धारण के वाद जो नियम बताये हैं उनसे स्पष्ट है। जैसे कि—पेशाव के समय कर्ण पर, टट्टी (झाड़े) के समय मस्तक पर इत्यादि नियमों के विधानसे पता लगता है कि वे सब अशुचि समय हैं इनमें यज्ञोपवीत किस प्रकार पवित्र रखना तथा अशुचिता आने पर किस प्रकार मंत्रादि पूर्वक पुनः धारण करना इत्यादि विधि अच्छीतरह समझा देती है कि शूद्रकी कोई भी अवस्था शुचिकी नहीं क्योंकि उसका शरीर एकतो अपवित्र शूद्रीय परमाणुओं से बना है दूसरे उसकी आजीविका भी उत्तम नहीं है इसलिये सर्वावस्थामें अशुचि होनेसे शूद्र यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं।

मुनि यज्ञोपवीत इसलिये नहीं धारण करते कि वे सांसारिक क्रियाओंसे सर्वदा रहित हैं उनके जो कृत्य हैं वे सर्व रत्नत्रयस्वरूप हैं तथा उनकी जो चर्यावृत्ति हैं वे सर्व रत्नत्रय साधिका हैं तथा उनके प्रमाद भी बहुत अल्प है और ऊंचे दर्जेमें उसका भी अभाव है।

यज्ञोपवीत होमादि विधि विधान पूर्वक मंत्र पुरस्सर जो धारण किया जाता है उसका हेतु यही है कि—उस विधि तथा उन मंत्रोंसे उन यज्ञोपवीत के धागों में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि धारण करता की प्रवृति प्रमाद तथा निंद्यकर्मसे रोक कर उसे सुमार्ग में लगाती है। जैसे कि विधि पूर्वक मंत्रित गंडा तावीज आदि दृष्टचादि दोष जनित रोगों को रोक कर आरोग्यताकी रक्षामें सहायक होते हैं।

विधिविधान जैसे २ महत्वके होंगे वैसे २ ये यज्ञोपवीतादि संस्कार भी आत्मगुणों की महत्ता संपादनके साधक होंगे इसमें भी उपर्युक्त गंडे और तावीज का दृष्टान्त है।

यज्ञोपवीत की निरुक्तिसे उस विषय की सफलता।

यज धातुका अर्थ—देवपूजा, दान, सत्कृति (संयम) ये अर्थ होते हैं और उपवीत शब्द का अर्थ सूत्र होता है इन दोनों वाक्यों का मिलकर यज्ञनिमित्तक सूत्र यह अर्थ होता है यही निरुक्तिक अर्थ शास्त्राज्ञाओं में सर्व जगह संघटित होता है।

यथा—

सूत्रं गणधरैर्दृब्धं व्रतचिन्हं नियोजयेत्।
मंत्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः॥
पूजादानादिसत्कर्म संध्यावंदनकं तथा।
सदा कुर्यात्स पुण्यात्मा यज्ञोपवीतधारकः॥

नेमिचंद्र प्रतिष्ठा तिलक।

इसी प्रकार अन्य आदिपुराणादि[1]ग्रंथोंमें भी आज्ञा है कि—जिन पूजन, जिनाभिषेक, दान, व्रत, लग्नसंस्कार वगैरह सत्कृत्यों में यज्ञोपवीत धारण करै। जिस प्रकार रत्नत्रयका चिन्ह यज्ञोपवीत है और वह हृदयमें धारण किया जाता है उसी प्रकार उसी समयके अन्य चिन्ह मौंजीबंधनादि भी विशेष व्रतचिन्ह हैं तथा विशेष स्थानपर धारण किये जाते हैं। इस विषयका

१ आदिपुराणमें जो प्रतिमाधारियोंको ११ यज्ञोपवीततकका विधान है वह नैष्ठिकोंकी चर्या विशेषकी उद्बोधकताका स्मारक तथा सूचक चिन्ह है। तथा अन्य पदोंमें भी जो विशेष २ यज्ञोपवीतका विधान है वह भी उनके विशेष २ पद तथा कार्यका स्मारक और सूचक चिन्ह है तथा विद्याध्ययन समय के ब्रह्मचारीका एक और सद्मीकको दो आदि यज्ञोपवीत जानने।

भी सविशेष वर्णन इस ग्रंथ में है। जैसे कि–स्वेत छत्र ध्वजा विशेषादि राजाचिन्ह हैं उसी प्रकार रत्नत्रय का चिन्ह–यज्ञोपवीत, अणुव्रतका चिन्ह–कंकण, ब्रह्मचर्यका चिन्ह–मौंजीबंधन, विद्यार्थीका चिन्ह–शिखा (चोटी) और धोती दुपट्टा–स्वकुलोन्नतत्व निर्मलता के चिन्ह कहे हैं वे भी दानपूजादि सत्कर्ममें धारण किये जाते हैं और इनका विधान प्रायः यज्ञोपवीत के साथ है मंत्र जुदे जुदे हैं। तथा यह यज्ञोपवीत चिन्ह इन्द्र का भी कहा है उसका तात्पर्य यह है कि–इन्द्र सम्यग्दृष्टि होता है द्वादशांग का ज्ञाता तथा स्वरूपाचरण चारित्र का धारक है अतः उस के भी यह चिन्ह इस रत्नत्रय का द्योतक है इंद्र और देवें भगवान के पूजक होते हैं अतः इस चिह्नके अलावा उनके पूजकके और भी चिह्न हैं तथा उनका वैक्रिय शरीर शुद्ध व निर्मल है इस विषयका द्योतक भी यह यज्ञोपवीत चिह्न है। यहां भी इन्द्रचिह्नों को धारण कर अथवा केशरादि गंधद्रव्यसे अपने शरीर में उन चिह्नोंका निशाना बना कर जो पूजनादि सत्कर्म करता है वह इंद्रके समान मान्य हैं।

थोड़ी देरकेलिये इस मनुष्य पर्यायमें भी इन चिन्होंको धारणकर पूजक अवस्था में उत्कृष्ट इस इन्द्र उपाधिका मिलना क्या कम बात है। मेरी समझसे तो इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि जो इन इन्द्र सम्बन्धी चिन्होंको धारणकर शुद्ध योगत्रयकी तत्परतासे पूर्ण पूजक होता है वह भवान्तर में नियमसे इन्द्र होता है क्योंकि समर्थ साधन नियमसे कार्य साधक होते हैं यह न्यायसिद्ध अटल सिद्धान्त है।

इस उपर्युक्त–आगम और युक्ति सिद्ध कथनसे यह सहज ही सिद्ध है कि–ये यज्ञोपवीतादि संस्कार कितने उपयोगी तथा मान्य हैं उनकी उपयोगिता और मान्यताही इनके अवश्यंभावी आवश्यकपनेको सिद्धकरती हैं।

अलमत्र विशेषेषु विशेषविज्ञप्त्या.

श्री १०५ ब्रह्मचारी ज्ञानचंद्रजी दशमप्रतिमाधारक का संक्षिप्त परिचय।

आप आगरा शहर के निकट चावली ग्राम के श्रीयुत लाला तोतारामजी के पुत्र और पं. लालारामजी तथा पं. मक्खनलालजी के भाई हैं आपके एक जयचंद्र नामक लड़का है जो कि गोपाल दि. जैन विद्यालय मोरेनामें विद्याभ्यास कर रहा है। आपकी स्त्रीके देहान्तके

१ जिनपूजन करना देवमात्रका नियोग रूप कर्त्तव्य है और जिन पूजनमें यज्ञोपवीतका विधान है अतः देवपर्यायमें यज्ञसूत्र भूषण होने परभी पूजकका चिन्ह है। देवोंके यज्ञसूत्र होता है यह बात शास्त्रोंमें है ही।

वाद संसारसे आप उदासीनसे रहते थे वाद श्री १०८ गुरु शान्तिसागरजी आदि मुनिवर्गके सहवाससे दशम प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावक होकर मुनि संघके साथ विहार कर रहे हैं आपने इस चर्याके पूर्व अपना जीवन विद्यापठन पाठन तथा सरस्वती सेवनमें व्यतीत किया था अब त्यागी होकर मनुष्य जन्मको सफल कर हैं यह एक बात सोनेमें सुगंधिके समान है क्योंकि इस जमाने में पंडित होकर त्यागीपनेका दर्जा आपमें ही है। आपने इस पुस्तक के अलावा और भी कई पुस्तकें लिखी हैं तथा जैनपत्रों में आपके लेखभी हमेशा प्रकाशित होते रहे हैं इससे पाठक स्वतः ही निश्चित कर सकते हैं कि समाजमें आप कैसे लेखक तथा विद्वान हैं। आपका और विशेष गुणगान करना पिष्टपेषण के समान है क्योंकि समाज प्रायः आपसे परिचित है। भविष्यकी जनिता भी आपसे परिचित रहै इस लिये यह (संक्षिप्त परिचय) कुछ विशेष सफल है।

धन्यवाद.

इस पुस्तकके संपादमें श्रीयुत सेठ गांधी मगनलालजी शंकरलालजीने अपना द्रव्य खर्च कर सहायता पहुंचाई है अतः आप धन्यवादके पात्र हैं हम आशा करते हैं कि समाज के अन्य धनिक भी आपका अनुकरण करें। इसको ब्र. ज्ञानचंद्रजीने संपादन कर धर्मरत्न श्रीमान **पं. लालारामजी** के पासनिरीक्षणार्थ भेजा था। निरीक्षण कर आपने कहीं कहीं विशेष संशोधन किया है अतः आप धन्यवादके पात्र हैं। साथ ही **पं. धरणेन्द्रजी शास्त्री, से० जोंहरी मल्लजी पहाड्या, गांधी जवेरीलाल ऋषभदासजी जैन** तथा **से. निहालचंदजी टारसीदासजी जैन** भी धन्यवादके पात्र हैं क्यों कि इस ग्रंथके संपादनमें इन महाशयों ने भी हमारे साथ सहयोग दिया है।

अभ्यर्थना

इस ग्रंथके संशोधन तथा प्रस्तावनादि कार्य में अज्ञान वश कुछ त्रुटि रहगई हो उसे विज्ञ महोदय क्षमा करें।

भवदीय—

रामप्रसाद जैन।

डि. रामप्रसाद लक्ष्मीचंद्र जैन।

गायवाड़ी—बम्बई. २

---

१ यह बड़ेही आनंदका विषय है कि इस समय आचार्य महाराज यज्ञोपवीतादि विशेषविधियोंका विशेषतासे प्रचार कर रहे हैं। कर्नाटक देशमें यह प्रचार अविच्छिन्नरूपसे आजतक चला आरहा है परंतु उत्तर प्रान्तमें मुसलमानी राज्यके समयमें यज्ञोपवीतादि का प्रचार रुक गया था उसीको फिर प्रवर्तित करनेका श्रेय महाराज ले रहे हैं यह उत्तर प्रान्तके जैनियोंके लिये महाराजका इस समय एक अतिउपयोगी और प्रशंसनीय कार्य है।

श्रीवीतरागाय नमः।

धर्म और सन्मार्गका स्वरूप।

वेदः पुराणं स्मृतयश्चारित्रं च क्रियाविधिः
मंत्राश्च देवतालिंगमाहाराद्याश्च शुद्धयः।
एतेऽर्था यत्र तत्वेन प्रणीताः परमर्षिणा
स धर्मः स च सन्मार्गस्तदाभासाःस्युरन्यथा।

भावार्थ—जिस भव्यजीवकी गाढ़ श्रद्धा–प्रथमानुयोग चरणानुयोग करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों पर है। समस्त वेदों को प्रमाणरूप सत्य मानता है। वेदों में से एक अक्षर पर भी जिसका संदेह सर्वथा नहीं है। पुराणों को जो जिनागम समझता है। स्मृतिग्रंथोंको जो आज्ञा विधायी (स्मृतिग्रंथ सर्व क्षेत्र सर्व कालमें अविच्छिन्न रूपमें नियमित रूप रहते हैं) शास्त्र समझता है जो चारित्रका पालन करता है। जो भोजनशुद्धि, पिंडशुद्धि, यज्ञोपवीतादि संस्कारकी क्रियाओंका पालन करता है। मंत्र से जो शुद्धि करता है। देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान करता है। आहारादि शुद्धिका पालन करता है वही धर्मको धारण करनेवाला है वही सन्मार्गगामी है। जिसके उक्त कार्योंका विचार नहीं है वह मिथ्या दृष्टी है। क्यों कि गणधरदेवने उक्त समस्त आचरण धर्म रूप बतलाये हैं।

आदिपुराण

---

१ स्मृतिग्रन्थसे संहिताग्रन्थ–भद्रबाहुसंहिता आदि सब ग्रंथ, और वर्णाचारग्रंथ–त्रिवर्णिकाचार-आदि मान्य ग्रन्थ।

२ तत्वेन प्रणीताः–यह वाक्य परीक्षा प्रधानताका सूचक है अर्थात् परीक्षाकी दृष्टिसे सब विषय जहां मान्य हैं वहा ही धर्म और सन्मार्गता है अन्यत्र तदाभास है।

यज्ञोपवीत-विचार।

यज्ञोपवीत-धारण करनेका कारण।

इस जीवने अनादि कालसे बडी २ मलिन पर्यायें धारण की हैं। जिसके कारण जीवके विशुद्ध गुणोंमें भी विशेष मलिनता प्राप्त होगई है। जैसी २ मलिन पर्याय इस जीवको प्राप्त होती है, वैसे २ कर्मोंका विशेष आवरण-आत्मगुणों में मलिनता प्राप्त करता है।

जब तक सांसारिक पर्यायों का धारण करना है तब तक जीवको मलिनता नियम से है ही। अशुद्धता अशुद्ध पर्यायके धारण करने से जीवको प्राप्त हुई है। संसारी जीव अशुद्ध जीव कहलाते हैं। और वह अशुद्धता अशुद्ध पर्याय धारण करनेसे ही है। सिद्धजीव परम विशुद्ध और परम निर्मल हैं यहां कारण एक यही है कि सिद्धजीवोंका पर्याय अशुद्ध धारण करना सर्वथा नष्ट हो गया है। वे सब प्रकार के द्वंद्वोंसे निर्मुक्त होगये हैं, इसी लिये अमूर्तीक, अविनाशी, निरंजन पदको प्राप्त हो चुके हैं। इसलिये जीवोंको संसारी पर्यायों का धारण करना मलिनता और अशुद्धताका कारण है।

संसारी जीवोंको मलिनताके कारण राग द्वेष भी हैं। जिनजीवों को मोह क्रोध मान माया लोभादि रूप विषयकषायों की विशेष उग्रता है। परिणामों में जिनके विशेष मोहादिदुर्भावों की कलुषता है उनजीवोंको ही मलिन पर्याय अधिकतर प्राप्त होती हैं। नवीन पर्याय धारण करने के कारण जीवों के मोहादिरूप दुर्भाव अधिक होते हैं।

नरक गति में-इस जीवको कैसी मलिन पर्याय प्राप्त होती है अशुभ वीभत्स और ग्लानि पूर्ण वैक्रियक शरीर में जीवको अपनी स्थिति बहुत काल पर्यन्त व्यतीत करनी पड़ती है। वैतरणी नदीमें पीव रुधिर मलमें रहना पड़ता है।

तिर्यंच गतिमें—यह जीव विष्टाका कीड़ा होता है। उदरमें-कृमि होता है मांस पर्यायमें प्राप्त होता है घिनावनी वीभत्स मलिन पदार्थों की खानि ऐसे ग्लानि पूर्ण (अशुचि स्थानमें) पर्याय में निरंतर रहना पडता है।

इस जीवने राग द्वेष और मिथ्यात्वके कारण सदैव मलिन पर्याय धारण की, स्त्रीके रजमें कीटाणु उत्पन्न हुआ। रुधिर पीव आदि अपवित्र स्थानोंमें निरंतर उत्पन्न

हुआ। मलिन देहको धारण करनेवाला हुआ। इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे प्रायः मलिन पर्यायोंको धारण कर रहा है।

मलिन पर्यायमें जीवोंको शुभकर्मोंका उदयभी नहीं होता है और न शुभकार्य करने की योग्यता ही प्राप्त होती है। जिससे वह अपने भावों को विशुद्ध बना सके। और मोक्षमार्गकी अधिकारिता प्राप्त कर सके।

जिस समय जीव संस्कारों के द्वारा विशुद्धताको प्राप्त होता है और आगमके अनुकूल अपने पवित्र आचरण करता है। अपने समस्त कर्त्तव्य चारित्र (सदाचार) रूप आदर्श बनाता है उस समय ही जीवके क्षमा-संतोष-मृदुता-सरलता-सत्यता-शौचता-ब्रह्मचर्य-त्याग-संयम-दान-तप-जिनआराधन आदि गुण प्रकट होते हैं। उसी समय यह जीव सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-और सम्यक्चारित्ररूप आत्मीय विशुद्ध गुणों से व्यक्त होता है।

मलिन पर्याय में-संस्कारोंके अभाव होनेसे जीवोंको मोक्षमार्गकी अधिकारता प्राप्त नहीं होती है। इसीलिये संस्कार विहीन मलिनपर्यायें दुःख और संसार के कारणभूत मानी गई हैं और मोक्ष की प्राप्तिके लिये अयोग्य मानी गई हैं।

मलिनपर्यायोंका असर अनेक पर्याय तक होता है। एक मलिन पर्यायमें यह जीव मोहादिक दुर्भावों से ऐसे कर्मबंध करता है कि जिससे अनेक भवपर्यंत मलिन पर्याय धारण करनी पड़ती है। और उन मलिन पर्यायों का असर परंपरा से बहुत कालपर्यंत रहता है।

मलिन पर्यायमें जीवोंके गुणोंमें मलिनता नियमसे प्राप्त होती है।

सुखासुखं वस्त्राहारौ देहावासौ च देहिनां
विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्ती च रजोजुषाम्।

मलिन कर्मों के उदयमें जीवोंको सुख दुख वस्त्र आहार शरीर घर आदि बदल जाते हैं। अशुभरूप प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार मलिनता के कारण दर्शन ज्ञान आदि गुणों में मलिनता प्राप्त हो जाती है।

मलिन पर्याय में-जीवों को मोहादिक (क्रोध मान-माया-लोभ) दुर्भाव विशेष रूपसे उदय होते हैं। जिससे जीवों के गुणों में विशेष रूप से क्षोभ होता है। भगवान श्री जिनसेनाचार्यने कहा है कि—

क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्याविष्टचेतसः
भवेद्विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संक्रमः ।

भावार्थ—क्रोधादिक दुर्भाव ही जीवों के गुणों में संक्षोभता और असामर्थ्यको प्राप्त करते हैं । जिससे जीवों को अनंत योनिमें भ्रमण कराने के कारण मलिन योग (पर्याय) प्राप्त होते हैं ।

इसलिये आगममें श्री जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है कि—इस जीवको जैसी २ संस्कारों से विशुद्ध उत्तम पर्याय प्राप्त होगी वैसे ही जीवों के राग द्वेष मोहादिक दुर्भाव नष्ट होते जांयगे और आत्माके गुणों का विकाश होता जायगा ।

महान् पुण्यशाली जीवों को भी अपने गुणों के विकाश करने के लिये सज्जाति आदि सप्त परम स्थान की प्राप्ति वार वार करनी पड़ती है । वे लोग अनादि-काल से प्राप्त हुई मलिन पर्यायों के निमित्त से होने वाले मलिन संस्कारों को दूर करने के लिये सज्जाति आदि सप्त परमस्थानों की सिद्धि के अर्थ अनेक भव तपश्चरण करते हैं ।

श्रीतीर्थंकरादिक के जीवों ने विशुद्ध संस्कार वाली उत्तम पर्याय प्राप्त करने के लिये कितने भवमें कितने दुर्लभ प्रयत्न किये हैं । अनेकवार घोर तपश्चरण किये, जिन पूजन की, दान दिये, उत्तम व्रत पालन किये, विशुद्ध भावों से जिन धर्म सेवन किया, इस प्रकार अनेक भव पर्यंत विशुद्ध संस्कारवाली उत्तम सज्जातिवाली पर्याय धारण करनेका निरंतर उद्योग किया ।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये पंचेन्द्रिय और संज्ञी होना परमावश्यक है । उसके बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता ही जीवों को प्राप्त नहीं होती है । एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय और चारइन्द्रिय पर्याय में सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता ही नहीं है कितना ही प्रयत्न किया जाय परंतु इन पर्यायों में सम्यग्दर्शन प्राप्त होना सर्वथा ही असंभव है । इसी प्रकार असंस्कारित कुलमें और मलिन पर्यायमें मोक्ष मार्गता सर्वथा असंभव है इसीलिये आगममें श्रावक के कुलकी प्राप्ति होना महान दुर्लभ बतलाई है । अनेक भव प्रयत्न करने पर जीवों को संस्कार से विशुद्ध श्रावकके कुलकी प्राप्ति होती है ।

संस्कारित शरीर का प्राप्त करना महान् दुर्लभ है । महान् पुण्योदय से भव्य जीवोंको प्राप्त होता है । मोक्षमार्गमें सबसे अधिक उपयोगता संस्कारित शरीरकी प्राप्ति होना है ।

भोगभूमिजीवों की अपेक्षा विचार किया जाय तो भोगभूमिजीवों (मनुष्यों) को सर्व प्रकार की निराकुलता धैर्य सुखसाता कषायों की मंदता और शरीरका बल आदि समस्त कारण उत्तमोत्तम होते हैं। तो भी भोगभूमिजीवों में संस्कारों का अभाव होने से मोक्षमार्गता व्यक्त नहीं होती है। इसीलिये मोक्षमार्ग कर्मभूमिमें ही प्रकट होता है। भोगभूमिमें नहीं।

म्लेक्ष खंडमें सदैव चतुर्थ काल का चक्र रहता है म्लेक्ष खंडमें क्षत्रिय-वैश्य-और शूद्र हैं। क्षत्रिय और वैश्य उत्तम कुलीन होते हैं परंतु वहां पर भी संस्कारोंका अभाव होने से म्लेक्षखंडमें मोक्षमार्गता प्रकट नहीं है।

ज्ञानकी वृद्धिसे भी मोक्षमार्गता नहीं है। इन्द्र एकादश अंगका जाननेवाला है। सम्यग्दृष्टी भी है। परंतु इन्द्रको ऐसी पर्याय प्राप्त नहीं हुई है कि जिसमें षोडश संस्कार हों। इसीलिये इन्द्र पर्यायमें भी मोक्षमार्गता व्यक्त नहीं है।

जिस कुलमें संस्कार होते हैं ऐसे कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्यही मोक्षमार्गता प्राप्त कर सक्ते हैं।

इस जीवने ब्राह्मण का कुल अनेक वार प्राप्त किया परंतु मिथ्या मतसे संस्कारित होने से उस कुलमें मोक्ष मार्गता नहीं है। मिथ्यादृष्टी जीवको मिथ्या धर्मके प्रभावसे विशुद्ध संस्कारों की प्राप्ति नहीं हो सक्ती है जब तक वे मिथ्या मतका परित्याग नहीं करें। इसीप्रकार क्षत्रिय और वैश्योंके ऐसे कुल जिनमें मिथ्या धर्मका सेवन हो रहा है। ऐसे कुलोंमें विशुद्ध संस्कारोंके अभाव से मोक्ष मार्गता सर्वथा नहीं है।

शूद्रको मोक्षमार्गता सर्वथा नहीं है। शूद्रको षोडश संस्कारों का अभाव है। पूर्व जन्मके पापकर्म के निमित्त से उनको ऐसी मलिनपर्याय नीचगोत्रके उदय से प्राप्त होती है कि जिससे उनमें मोक्षमार्गता व्यक्त करनेकी शक्ति का ही सर्वथा अभाव होता है जिस प्रकार प्रयत्न करने पर भी शुक्लध्यानकी योग्यता द्रव्य स्त्री पर्यायमें सर्वथा नहीं है। उसी प्रकार शूद्रको भी मुनिव्रत धारण करनेकी योग्यता न होनेसे मोक्षमार्गकी प्राप्तिका अधिकार नहीं है।

शूद्रके संस्कारों का अभाव है फिर मोक्षमार्गता किस प्रकार व्यक्त हो सक्ती है ? शूद्रको मोक्षमार्गकी अधिकारिताका निषेध आगम ग्रंथोंमें स्पष्ट वतलाया है।

॥ दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः ।

दीक्षा के योग्य तीन ही वर्ण हैं। विशुद्ध ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य ही जिनदीक्षा धारण करते हैं शूद्र कितना ही विद्वान् क्यों न हो, कितनी ही सफाई क्यों न रखता हो कितनी ही शरीर वलकी योग्यता क्यों न रखता हो परंतु शूद्रको जिन दीक्षाका धारण सर्वथा नहीं हो सक्ता।

इसी प्रकार पतितदशा जातिच्युत राजदंडित लोकदंडित व्याधिवान अधम लक्षणवाला और अंगहीन पुरुष जिनदीक्षाका अधिकारी नहीं है।

जिनको संस्कार का अभाव है अथवा आगे संस्कारों के अभाव का प्रसंग होगा ऐसे मनुष्य जिनदीक्षाके अधिकारी नहीं होते।

स्मृतिसार संग्रह पत्र २४ (कर्णाटक)

संस्कृते देह एवासौ दीक्षाविधिरभिस्मृतः ।

भावार्थ—जिन भव्यजीवों के यज्ञोपवीतादि षोडश संस्कार कुलपरंपरामे संततिरूपसे अविच्छिन्न चले आये हैं ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही जिनदीक्षा धारण करने के अधिकारी हैं शूद्रके संस्कारोंका अभाव है इसलिये जिनदीक्षा धारण करनेका अधिकारी नहीं है।

स्मृतिसार संग्रह—

शौचाचारविधिप्राप्तदेहं संस्कर्तुमर्हति !

भावार्थ—आचारशुद्धि पिंडशुद्धि स्नानादिशुद्धि भोजनशुद्धि और संस्कारों के द्वारा शरीरका संस्कार होता है।

संस्कार—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के ही क्यों होते हैं ? शूद्रको संस्कार क्यों नहीं ?

स्मृतिसार संग्रह—पत्र २४ (कर्णाटक)

विशिष्टान्वयजो शुद्धो जातिकुलविशुद्धभाक्
न्यसतेऽसौ सुसंस्कारैस्ततो हि परमं तपः ।

भावार्थ—अतिशय पुण्यके फलसे (पूर्वभव संचित पुण्यकर्म के निमित्त से प्राप्त उच्चगोत्रके प्रभावसे) जिनको विशिष्ट—ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्यका विशुद्ध

कुल प्राप्त है तथा जिनकी जाति (मातापक्ष) और कुल (पितापक्ष) विशुद्ध है पिंड-शुद्धि सज्जातिके द्वारा संततिरूप विशुद्धताको प्राप्त हैं ऐसे कुलोद्भव पुण्य पुरुषही संस्कारोंको प्राप्त होते हैं। और उनको ही परमतप (जिनदीक्षा) होता है।

स्मृतिसार (कर्णाटक)

जातिकुलविशुद्धो हि देहसंस्कारसंयुतः
पुण्यसंस्कारभावेन पूजायोग्यो भवेन्नरः।

भावार्थ—जाति और कुलसे विशुद्ध (पतित दशा जातिच्युत आदि पिंडदोषोंसे रहित) और यज्ञोपवीत आदि षोडश संस्कारों को धारण करनेवाला भव्यजीव पुण्य संस्कारों के प्रभावसे परमपवित्र जिनराजकी पूजाका अधिकारी होता है।

यदि अस्पर्श शूद्रका मुनिको स्पर्श हो जावे तो मुनिको मस्तक से पांवतक स्नान करना पड़ता है। यदि जिन प्रतिमाको उसका स्पर्श हो जावे तो उस प्रतिमाका पुनः-संस्कार, मंत्र और विधिपूर्वक कराना पड़ता है तब शुद्धि होती है। जब शास्त्र में शूद्र के लिये उक्त विधान बतलाया है तब शूद्र को जिन दीक्षा कैसे हो सक्ती है। स्पर्श शूद्र के घर पर मुनि भूल से चला जाय तो मुनिको पूर्ण प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। यदि स्पर्श शूद्र जिन प्रतिमा का स्पर्श कर लेवे तो प्रतिमाकी मंत्र पूर्वक आगमानुसार शुद्धि करानी पड़ती है। तब शूद्रको जिनदीक्षा किस प्रकार हो सक्ती है।

संगे कापालिकात्रेयीचांडालशवरादिभिः
आप्लुत्य दंडवत् स्नायात् जपेन्मंत्रमुपोषितः।

भावार्थ—चांडालादिकके स्पर्श करने पर मुनि को पूर्ण स्नान करना, उपवास करना, और मंत्र जपना, चाहिये। स्पर्शशूद्र के घर पर अज्ञान या भूलसे भोजन की तो वमन व रेचन कराकर सबसे उग्र प्रायश्चित्त ग्रहण करना अथवा पुनर्दीक्षा धारण करना।

संस्कार विहीन शूद्र को तद्भव मोक्षमार्गता का अधिकार सर्वथा नहीं है। जिनागममें शूद्रको जिनदीक्षाका अपात्र बतलाया है। दान देने का अनधिकारी बतलाया है। जिन पूजन (अभिषेक पूर्वक-जिनप्रतिमाका स्पर्शपूर्वक) करने का अधिकार सर्वथा नहीं है। इसलिये शूद्रमात्र मोक्षमार्गके साक्षात् अधिकारी नहीं हैं।

शूद्रको मोक्षमार्ग का अधिकार क्यों नही है ?

शूद्रके संस्कार का अभाव है, संस्कार शूद्रके हो नहीं सक्ते, शूद्रके रजस्वला-सूतक पातक का विवेक नहीं रहता है। शूद्रकी जातियों में प्रायः मद्य मांसकी प्रवृत्ति

कुल परंपरा से अविच्छिन्न रूप बहुत कालसे चली आरही है शूद्रकी वृत्ति अतिशय हिंसाजनक होनेसे निंद्य होती है, शूद्रमें पुनर्विवाह होनेसे पिंड शुद्धिका अभाव होता है, शूद्रके सदाचार भोजनशुद्धि–आदि क्रियाओंमें विवेक नहीं होता है।

शूद्रकी संतान प्रतिसंतानमें पिंडशुद्धि रजवीर्यशुद्धि और संस्कारशुद्धिका अभाव है। इसलिये शूद्रमात्र मोक्षमार्गता के साक्षात् अधिकारी नहीं है।

विजातीय विवाह करनेवालेको भी मोक्षमार्गकी साक्षात प्राप्ति नहीं है

जिन जातियों में विजातीय विवाह होता है उन जातियोंमें मोक्षमार्गकी प्राप्तिका साक्षात् अभाव है। विजातीय विवाह करनेवाले व्यक्ति को जिन दीक्षा प्राप्त नहीं है।

नाभिजातफलप्राप्तौ विजातिष्विव जायते।

परमागममें उक्त श्लोक में बतलाया है कि विजातीय संबंधकरने वाले पुरुषोंको अभीष्ट (उत्तम) फलकी प्राप्ति नहीं होती है।

मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये क्या करना ?

अनादिकालकी मलिन पर्यायों की शुद्धि करना चाहिये। शुद्धि दो प्रकार की मानी है आभ्यंतर शुद्धि और बाह्यशुद्धि संस्कारोंके द्वारा मंत्रपूर्वक शुद्धि करना सो आभ्यंतरशुद्धि है। अष्ट मूलगुण धारण कर जिनागमके अनुसार भोजनशुद्धि शरीर शुद्धि पिंडशुद्धि आचारशुद्धि और चारित्रशुद्धिका पालन करना सो बाह्यशुद्धि है।

जिनके इस प्रकार दोनों प्रकारकी शुद्धि होती है। वे द्विजन्म कहलाते हैं उनको द्विज भी कहते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये द्विज कहाते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को मुनिदीक्षा जिनपूजन जिनस्पर्श मुनिको आहार दान आदि समस्त मोक्षमार्गकी क्रिया करनेका पूर्ण अधिकार है मोक्षमार्गकी पात्रता साक्षात् है।

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसंमतः।

भावार्थ—अदीक्षाके योग्यकुल (शूद्र) नीच व्यापार करनेवाले को यज्ञोपवीतादि संस्कार नहीं होते हैं इसलिये शूद्रको मोक्षमार्गकी (मुनिदीक्षाकी) साक्षात् प्राप्ति नहीं है।

संस्कारों की आवश्यकता।

जिस प्रकार कच्चा माटी का घडा अग्नि संस्कारके द्वारा कार्य करने में समर्थ है इसी प्रकार संस्कारों के द्वारा विशुद्धता मोक्षमार्ग के लिये साधिका है।

जिस प्रकार क्षेत्रका संस्कार करने से क्षेत्रमें फलदानशक्ति उत्पन्न होती है इसी प्रकार संस्कारों के द्वारा आत्मगुणों में विशुद्धता की शक्ति प्रकट होती है जिससे मोक्षमार्गके लिये संस्कार साधक हो जाते हैं।

जिस प्रकार मोतीका पट दूर करने पर मोती का पानी प्रकट होता है। उसी प्रकार मलिन पर्यायों की मलिनता का दोष संस्कारों से नाश होती है।

कोई भी कार्य क्यों न किया जाय प्रत्येक कार्यमें संस्कारों की आवश्यकता नियमसे होती है। गर्भस्थ बालक के संस्कार मलिन रखे जांय तो बालक मलिन विचार वाला ही उत्पन्न होगा।

तीर्थंकर भगवानके उत्पन्न समय गर्भमें आने के प्रथम ही देवगण समस्त संस्कार करते हैं गर्भ शोधना होती है। यद्यपि तीर्थंकर भगवान स्वयंभू हैं—अजन्मा हैं पवित्रात्मा हैं तो भी संस्कार करने पड़ते हैं।

अंतःशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चने।

जिनके दोनों प्रकार की शुद्धि हैं (मंत्रों के द्वारा संस्कार शुद्धि और पानीके द्वारा शरीर शुद्धि) वही जिन पूजन करे ऐसा जिनागम में बतलाया है।

इसीको जिनागम में यह कहा है।

संस्कारजन्मना वाथ सज्जातिरनुकीर्त्यते
यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते।

जिसके संस्कार होते हैं जो बाह्य और अभ्यंतरशुद्धिको पालन करते हैं उनको सज्जाति प्राप्त होती है जिस सज्जाति को प्राप्त कर भव्यजीव द्विजपद को प्राप्त होते हैं।

" यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति "

भावार्थ—जैसे २ इस भव्यजीव को संस्कारोंकी प्राप्ति होती जाती है। वैसे २ यह जीव परब्रह्मके स्वरूपताको प्राप्त होता है।

निर्मलत्वं तु तस्येष्टं बहिरंतर्मलच्युतिः
स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन।

आदिपुराण।

भावार्थ—जीवोंको बाह्य शुद्धि और आभ्यंतर शुद्धि करने पर ही निर्मलता प्राप्त होती है। बिना संस्कारों के निर्मलता प्राप्त होने की योग्यता ही नहीं होती है।

जिन कुलोंमें संस्कार हैं वहां पर ही निर्मलता है मोक्ष मार्गता है। क्योंकि जीव अनादि कालसे मलिन पर्यायों को धारण करता रहा है—मोह आदि दुर्भाव को धारण करता रहा है इसलिये इसकी मलिनता विशेष हो रही है वह मलिनता संस्कारों से ही दूर होती है। कोई भी संसारी जीव स्वभाव से विमल व कर्मसे मलिन पर्यायोंको धारण करने पर भी सिद्ध नहीं है। स्वभाव से विमलता और अनादि निधनसिद्धता अंतर्मल (द्रव्यकर्म-भावकर्म) को दूर करने पर और बाह्यमल (नोकर्मादि) दूर करने पर प्राप्त होती है। और उसके लिये संस्कारों के द्वारा मोक्षमार्ग की साक्षात् प्राप्ति की योग्यता संपादन करनी पड़ती है। तब ही जिन लिंग धारण किया जाता है।

लब्धसंस्कारा या जातिः सा सज्जातिरिहोच्यते।

भावार्थः—भावार्थ जिस जाति में समस्त बाह्य आभ्यंतर संस्कार जिनागमके अनुसार होते हैं वही जाति सज्जाति कहलाती है और उस सज्जातिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य ही मोक्ष मार्ग का अधिकारी है।

सुसंस्कारविहीनाय कर्माणि नाधिकारिता।

भावार्थः—जो जाति सुसंस्कारों से विहीन है वह पुण्यकार्य दान पूजा और मोक्षमार्गकी प्राप्ति करनेकी अधिकारिणी नहीं है।

यज्ञोपवीतके धारण किये बिना दान पूजन नहीं करना चाहिये।

आगममें सर्वत्र यह बतलाया है कि (जनेऊ) यज्ञोपवीत धारण किये बिना उच्च गृहस्थ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यको भी जिन पूजन करना और दान देनेका अधिकार नहीं है। श्रीजिनेन्द्र भगवानकी पूजन, और मुनिगणोंको दान यज्ञोपवीत के धारण किये बिना कदापि नहीं करना चाहिये, जो भव्यजीव जनेऊ धारण किये बिना दान पूजनादिक सत्कर्म करना चाहते हैं या करते हैं उनको पूजा और दानके फलकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है बल्कि क्रिया विहिन विधि कभी २ विषम फलको भी प्रदान कर देती है क्यों कि यज्ञोपवीतकी निरुक्तिसे भी पूजा और दान करना सिद्ध नहीं हो सक्ता है।

यज्ञे दानदेवपूजाकर्मणि धृतं उपवीतं ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं, अथवा यज्ञार्थं दानदेवपूजार्थं धृतं उपवीतं ब्रह्मसूत्रं-यज्ञोपवीतमिति। " उपवीतं ब्रह्मसूत्रं " इत्यमरः।

उपर्युक्त निरुक्तिसे दान और पूजाकर्ममें यज्ञोपवीतधारण करना ही चाहिये।

ताडपत्रे ग्रंथे पर्व ३८ भगवज्जिन सेनाचार्य विरचित आदिपुराणमें सप्तस्थान सूचक यज्ञोपवीत बतलाया है।

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः
कटयूरुरःशिरोलिंगमनूचानव्रतोचितम् ॥ १०९ ॥
कटिलिंगं भवेदस्य मौंजीबंधत्रिभिर्गुणैः
रत्नत्रयविशुद्धयंगं तद्धि चिह्नं द्विजन्मनाम् ॥ ११० ॥
तस्येष्टमुरुलिंगं च सुधौतसितशाटकं
आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥ १११ ॥
उरोलिंगमथास्य स्यात् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः
यज्ञोपवीतकं सप्त परमस्थानसूचकम् ॥ ११२ ॥

भावार्थ—श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यने यज्ञोपवीतको सप्त परमस्थानका सूचक बतलाया है। पाक्षिक- और नैष्ठिक श्रावकका यज्ञोपवीत चिह्न है यदि यह चिह्न धारण नहीं किया हो तो उसको श्रावक नहीं कहना चाहिये, और न वह श्रावक कहलाता है। यज्ञोपवीतके विना मुनिगण उसको श्रावक नहीं समझकर दान ले नहीं सक्ते हैं।

जिनने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है उनको जिन धर्म सुनाना नहीं चाहिये। फिर उनको जैन श्रावक किस प्रकार कह सक्ते है? और वह जिनपूजा और मुनिको आहार दानका अधिकारी किस प्रकार हो सक्ता है। ?

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा पंचोदंबरपूर्वकान्
जिनधर्मश्रुतेर्ग्राह्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥

भावार्थ—जिस भव्यजीवने यावज्जीवन पर्यन्त (यम रूपसे) अष्ट मूलगुण धारण किये हैं और जिसके यज्ञोपवीतादि संस्कार होते हैं ऐसे पुनीत आत्माको ही जिनधर्म सुनाना चाहिये अन्यको नहीं क्योंकि मोक्षमार्गता संस्कार से विशुद्ध पुनीत आत्माको ही होती है जिनधर्म सुनानेका फल ऐसे पवित्र आत्मा ही साक्षात् संपादन कर सक्ते हैं। वे ही जिनपूजन—मुनिदान—और जिनलिंग धारण कर मोक्ष-मार्गता प्रकट कर सक्ते हैं। जिनके संस्कार नहीं है उनको जिनधर्म सुनानेका फल

(मोक्षप्राप्ति) सिद्ध नहीं होता है इसलिये यज्ञोपवीतको धारण कर ही जिनपूजन और दान करना चाहिये ।

ताडपत्र ग्रंथमें—श्रीब्रह्मसूरि आचार्यने बतलाया है कि भगवानकी पूजा यज्ञोपवीत धारण कर ही करे—

चंदनालेपनस्योर्ध्वं मध्यभालं धरेत् द्विजः
अंगुलाग्रमितेदेशे जिनपादार्चिताक्षतान् ॥ १३३ ॥
यज्ञसूत्रं सोत्तरीयं शेखरं कुंडलं तथा
कंकणं सपवित्रां च मुद्रां भूषणमिष्यते ॥ १३४ ॥
त्रिपंचदर्भवलितं ब्रह्मग्रंथिसमन्वितम्
मुष्ट्यग्रं योग्यवलयं पवित्रमितिभाषितं ॥ १३५ ॥
इति गंधादिभिः स्वं च भूषयेदविकारकैः ।
इन्द्रं मत्वा जिनेन्द्रं श्रीपादपूजाधिकारकः ॥ १३६ ॥

भावार्थ—पूजा करनेवाला सबसे प्रथम अपनेको इन्द्र की स्थापना करे-इन्द्र स्थापनाके लिये अपने मस्तकमें तिलक लगावे-अक्षत लगावे-यज्ञोपवीत धारण करे शुद्ध धुले हुए धोती दुपट्टा पहने मुकुट पहने कुंडल पहने कंकण धारण करे जिन मुद्रासे भूषित हो और रत्नत्रय रूप यज्ञोपवीत धारण कर ही जिनपूजन करनेका अधिकार प्राप्त होता है ।

ताडपत्र ग्रंथ ब्रह्मसूरिजिन संहितासारोद्धारे प्रतिष्ठा तिलक नाम्नि ग्रंथे—

मुंजत्रिवर्तिवलितां मौंजीं त्रिगुणितां शुभाम्
कौपीनं कटिसूत्रोर्ध्वं कटिलिंगं प्रकल्पयेत् ॥ १८१ ॥
रत्नत्रयात्मकं पूतं यज्ञसूत्रं मुनिर्मलम्
हरिद्रागंधसारात्तमुरोलिंगं प्रकल्पयेत् ॥ १८२ ॥
जिनराजपदांभोजशेषासंसर्गपावनीम्
ब्रह्मग्रंथिशिखामेव शिरोलिंगं प्रकल्पयेत् ॥

भावार्थ—कमर में मौंजीबंधन—कोपीन ये कटि लिंग हैं रत्नत्रयात्मक होने से पवित्र अत्यंत पवित्र यज्ञोपवीत यह वक्षस्थल का लिंग है । शिरकी चोटी बाधना

यह मस्तक का लिंग है भालमें तिलक लगाना यह भालका चिन्ह है, इन चिन्हों को धारण करने वाला ही जिन पूजन का अधिकारी है।

प्रतिष्ठा सारोद्धार—आशाधर विरचित।

दृग्बोधचारित्रगुणत्रयेण धृत्वा त्रिधौपासकभावसूत्रं
द्रव्यं च सूत्रं त्रिगुणं सुमुक्ताफलं तदारोपणमुद्वहामि ॥२२॥

ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय नमः स्वाहा इति ब्रह्मसूत्रं बिभृयात्।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन लरका मुक्ताफल समान स्वच्छ यज्ञोपवीत धारण करता हूं। और भगवानकी पूजाका अधिकारी होता हूं।

रत्नत्रयांगमुपवीतमुरस्यथांगं
देशव्रतस्य वसुकंकणमत्र हस्ते।
ब्रह्मव्रतांगमधुना स्वकटौ च मौंजीं
धृत्वारभे जिनमखं मखदीक्षितोऽहं।

भावार्थ—पवित्र रत्नत्रय स्वरूप यज्ञोपवीत रत्नजडितस्वर्ण कंकण—मौंजीबंधन आदि धारण कर इन्द्रकी दीक्षा धारण करता हूं। और यज्ञदीक्षाको धारण कर श्रीजिनेन्द्र भगवान की पूजा का अधिकारी होता हूं।

ताडपत्रग्रंथ यज्ञदीक्षाविधानग्रंथे—

प्रालंबसूत्रजिनसूत्रविराजहार—
सद्दर्शनस्फुरितविस्फुरितात्मतेजः।
ग्रैवेयकं चरणचारुभजन् जिनेज्या
सन्न्यस्तनोम्यमलचिद्रुचियज्ञसूत्रम्।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप यज्ञोपवीतादिको धारण कर जिन-पूजन का पात्र होता हूं।

ताडपत्रग्रंथे प्रतिष्ठासारे—

तन्वन् हृद्युपवीतमर्जुनरुचि प्रव्यक्तरत्नत्रयं
ख्याताणुव्रतपंचशक्तिवसुमद् बिभ्रत्करे कंकणं।

मौंज्या श्रोणियुजा जिनक्रतुमिति ब्रह्मव्रतं द्योतयन्
यज्ञेऽस्मिन् खलु दीक्षितोऽहमधुना मान्योस्मि शक्रैरपि॥१२७॥

टीका—अस्मिन् यज्ञे–जिनयज्ञे (जिनपूजायां) हृदि उरसि मव्यक्तरत्नत्रय-मर्जुनरुचि–श्वेतवर्णं उपवीतं यज्ञोपवीतं तन्वन् धारयन् । करे हस्ते ख्याताणुव्रत-पंचशक्तिवसुमत् कंकणं बिभ्रत् । श्रोणियुजा कटियुजा मौंज्या ब्रह्मव्रतं बिभ्रत् इति एवं दीक्षितोहं–यज्ञदीक्षादीक्षितोहं जिनक्रतुं–जिनयज्ञं (जिनपूजां) द्योतयन् प्रकाशयन् सन् अधुना संप्रति (जिनयज्ञकाले) शक्रैरपि देवेन्द्रैरपि मान्योऽस्मि खलु ।

भावार्थ—रत्नत्रयरूप यज्ञोपवीत, पंच अणुव्रत की शक्तिरूप रत्नस्वर्णविनिर्मित कंकण, ब्रह्मव्रत स्वरुप मौंजीबंधनको धारण कर मैं इन्द्रदीक्षासे दीक्षित होगया अब मैं देवोंसे मान्य होगया हूं । और जिनपूजन करने का अधिकारी अब निश्चय से हुआ हूं ।

श्रीमन्मंदरमस्तके शुचिजलैर्धौते सदर्भाक्षते
पीठे मुक्तिवरं निधाय रचितां त्वत्पादपुष्पस्रजं ।
इन्द्रोऽहं निजभूषणार्थममलं यज्ञोपवीतं दधे
मुद्राकंकणशेखरानपि तथा जैनाभिषेकोत्सवे ॥ १ ॥

हे भगवन् मैं शुद्ध जलसे प्रक्षालन किये हुए और दर्भ अक्षत आदि से सुशोभित तथा मेरु पर्वत के समान पवित्र सिंहासन पर भगवान् अरहंत देवको स्थापन करता हूं तथा आपके चरणकमलकी पवित्र मालाको धारण कर अपनेमें इन्द्र की कल्पना करता हूं तथा आपका अभिषेक करने के समय इन्द्र के समान अपने शरीर को सुशोभित करने के लिये मुकुट कंकण यज्ञोपवीत तिलक आदि सब आभूषण धारण करता हूं ।

स्नातोनुलिप्तसर्वांगो धृतधौतांबरः शुचिः
दधे यज्ञोपवीतादिमुद्राकंकणशेखरान् ॥

भावार्थ—जिन पूजन के लिये स्नान करता हूं । शुद्ध धोती दुपट्टा धारण करता हूं । और यज्ञोपवीतादि इन्द्रके चिन्ह धारण करता हूं ।

भाव संग्रह—देवसेन सूरि विरचित

अंगे णासं किच्चा इंदोहं कप्पिऊण णियकाए ।
कंकण सेहर मुद्दी कुणओ जण्णोपवीयं च ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मंत्रों के द्वारा अपने शरीरमें इन्द्रकी स्थापना करनी चाहिये। और कंकण शेखर मुद्रिका तथा यज्ञोपवीत धारण कर अपने को साक्षात् इन्द्र मानकर भगवानकी पूजा करनी चाहिये।

श्रीमहाकलंकसहिता सूत्रस्थान चतुर्थ परिच्छेद।

धौतवस्त्रं पवित्रं च गंधमाल्यं च धारयन्
ब्रह्मसूत्रं ततो विभ्रत्सुरेन्द्रत्वं विभावयेत् ॥ १४ ॥
धारयेत् भूषणं हृद्यमिंद्रविभ्रमकारि यत्
पवित्रब्रह्मसूत्रादिलक्षणं वक्ष्यतेऽग्रतः ॥ १५ ॥

भावार्थ—उक्त दोनों श्लोकों में पूजा करने के लिये सबसे प्रथम अपने को इन्द्रकी स्थापना मंत्रद्वारा करें और इन्द्र स्थापनाके लिये धोती दुपट्टा माला यज्ञोपवीत धारण करें।

इन्द्र का स्वरूप प्रकट करने के लिये यज्ञोपवीत धारण करें।

वस्त्रयुग्मं यज्ञसूत्रं कुंडले मुकुटं तथा
मुद्रिकां कंकणं चेति कुर्याच्चंदनभूषणम् ॥ १६ ॥
एवं जिनांघ्रिगंधैश्च सर्वांगं स्वस्य भूषयेत्
इन्द्रोऽहमिति मत्वात्र जिनपूजा विधीयते ॥ १७ ॥

भावार्थ—धोती दुपट्टा यज्ञोपवीत कुंडल मुकुट मुद्रिका कंकण आदि चिन्होंको धारण करें। चंदनसे चिन्ह बनावे यज्ञोपवीत (जो प्रथम धारण कर रखा है) पर चंदन लगाकर मस्तक से लगावे। तथा जिन भगवान के चंदन से अपने शरीरको भूषण कर अपने को इन्द्र ऐसा मान्य करें। इस प्रकार इन्द्रको ही जिनपूजा करनेका अधिकार है आपको नहीं।

श्रीनेमिचंद्राचार्य विरचित्त प्रतिष्ठातिलके—

भावश्रुतोपासकदिव्यसूत्रं द्रव्यं च सूत्रं त्रिगुणं दधानः
मत्वेन्द्रमात्मानमुदारमुद्रां श्रीकंकणं सन्मुकुटं दधेऽहम्।

भावार्थ—भाव श्रुतको प्रकट करनेवाला तीनलरका यज्ञोपवीत मुकुट कंकण आदि धारण कर मैं इन्द्र होता हूं। और जिन पूजनका अधिकारी बनता हूं।

सूत्रं गणधरैर्दृब्धं व्रतचिन्हं नियोजयेत्
मंत्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ।

भावार्थ—गणधर देव ने मोक्ष मार्ग के प्रकट करनेके लिये व्रतचिह्न रूप अत्यंत पवित्र मंत्रसे संस्कारित आत्माके भावों को विशुद्ध बनाने वाला ऐसा यज्ञोपवीत धारण करने वाला द्विज (ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य) बतलाया है ।

पूजादानादिसत्कर्म संध्यावंदनकं तथा
सदा कुर्यात् स पुण्यात्मा यज्ञोपवीतधारकः ।

भावार्थ—भव्यजीव पूजा दान प्रतिष्ठा होम संध्यावंदन अभिषेकादिक पुण्यकर्म यज्ञोपवीत धारण करने पर ही करै ।

॥ व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोस्मि सांप्रतम् ।

भावार्थ—व्रतोंकी सिद्धिके लिये मैं यज्ञोपवीत का धारण करने वाला इस समय हुआ हूं । यज्ञोपवीतके विना व्रत भी नहीं होते हैं ।

आदि पुराण

व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरस्सरं
सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितं ।
यज्ञोपवीतमस्य स्याद्द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकं
सूत्रमौपासिकं च स्याद्भावरूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥

भावार्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यको मंत्र की शक्ति से विशुद्ध यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये । यह यज्ञोपवीत सर्वज्ञ देवकी द्रव्य और भावमे आज्ञाका पालन करने का चिन्ह स्वरूप है । यज्ञोपवीत संस्कारको करने वाला सम्यग्दृष्टी होता है । तीन लरका यज्ञोपवीत तीन रत्नत्रयको प्रकट करने वाला और श्रावक के स्वरूपको प्रकट करने वाला होता है ।

यज्ञोपवीत संस्कारोंसे रहित शूद्रोंके घर पर मुनिगण चर्या नहीं करते हैं ।

नीतिसार ताडपत्रग्रंथ ।

दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ ३८ ॥

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिंगस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ ३९ ॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना ।
एवमादिकमन्यत्र चिंतनीयं स्वचेतसा ॥ ४० ॥

भावार्थ—दरिद्री प्रसूता छीपी मद्यविक्रयकरनेवाला कलार मद्यपानकरनेवाला मद्यका संसर्गकरनेवाला गायक तलार माली तेली तंबोली आदि शूद्रोंके यतिगण भोजन नहीं करें।

यज्ञोपवीत रहित उच्च कुलीन ब्राह्मण वैश्य और क्षत्रियके घरपर भी भोजन नहीं करें।

नीतिसार ताडपत्र ग्रंथ ।

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।
मंदिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसंगमः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मुनिगणोंको अपने हाथसे रसोई बनाकर खा लेना अतिशय श्रेष्ठ है परंतु मिथ्यादृष्टी अजैन लोगोंके घर (जिनके संस्कार मिथ्या हैं आचार जैनागमसे विपरीत हैं) पर भोजन करना ठीक नहीं है चाहे मिथ्यादृष्टी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही क्यों न हों परंतु वहां पर सर्व पापारंभ की संभावना है।

भांडभाजनशुद्धोपि पाखंडी यो विनिन्दकः ।
यतेस्तत्र न भोक्तव्यं तदन्नं पापमुच्यते ॥

भावार्थ—जो जैन भांड भाजन शुद्ध रखता हो परंतु पाखंडी हो गुरु निंदक हो तो यतिको उसके हाथसे भोजन नहीं करना चाहिये। भावार्थ–संस्कार विहीन, आगम देव गुरुकी श्रद्धा रहित मनुष्यके घर पर भोजन नहीं करना चाहिये।

संस्कारों से शुद्धिका फल ।

नीतिसार ।

मनः शुद्धं भवेद्यस्य सः शुद्ध इति भाष्यते ।
विना तेन कृतस्नानोप्यंगी नैव विशुद्ध्यति ॥

अर्थ—जिसकी संस्कारों द्वारा मनकी शुद्धि हो गई है वही शुद्ध है संस्कारों के विना कितनाही स्नान आदि से शुद्ध किया जाय तो भी किसी प्रकार शुद्ध नहीं माना जाता है। मछली रात्रि दिवस पानीमें रहती है परंतु शुद्ध नहीं मानी गई है।

शौचे यत्नं सदा कार्यं शौचमूलो गृही स्मृतः।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निःफलाः क्रियाः॥

भावार्थ—संस्कारों के द्वारा शुद्धिके लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि गृहस्थ धर्म शुद्ध आचरणोंका मूल है। शौचाचार रहित गृहस्थकी समस्त क्रियायें निष्फल हैं।

वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता।
अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयन्ते परान्नपि॥

महापुराण।

जिसने संस्कारोंकी विशुद्धि द्वारा वर्णोत्तमता (सज्जातित्व) प्राप्त नहीं की है वह कदापि श्रेष्ठ नहीं है। संस्कार विहीन (असज्जाति) मनुष्य अपनी आत्माको शुद्ध नहीं कर सक्ता, और न दूसरोंको शुद्ध बना सक्ता है।

यज्ञोपवीत धारणकरनेवालों को कबसे कौन २ से व्रत पालन करने पड़ते हैं।

यज्ञोपवीत आठ वर्षके बालक की अवस्था से धारण किया जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकी विशुद्धकुलकी विशुद्धसंतानको अपनी आठ वर्ष की अवस्थामें आगमकी विधिके अनुसार यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। जिसने आठ वर्षकी अवस्था में यज्ञोपवीत धारण नहीं किया हो वह विवाहके समय यज्ञोपवीतको विधिपूर्वक धारण करे। जिसने किसी कारणसे विवाहके समय भी विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण नहीं किया हो, उसको गुरु के समीप यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

गृहस्थोंको किसी भी समय किसी भी कारणसे यज्ञोपवीत धारण किये विना एक क्षणमात्र नहीं रहना चाहिये जिस गृहस्थने यज्ञोपवीत नहीं धारण किया है वह दान देने और भगवानकी पूजा करनेका अधिकारी नहीं है। जनेऊ पहने विना दान और भगवानकी पूजा नहीं करनी चाहिये। जो लोग जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण किये विना भगवानकी पूजा करते हैं

वे जिनागमकी आज्ञासे बहिर्भूत हैं । कदाचित कोई अज्ञान या विना विचारे यज्ञोपवीत धारण करने में दुराग्रह करते हैं और यज्ञोपवीतके धारण किये विना ही भगवानकी पूजा करते हैं वे जिनागमकी आज्ञाको नहीं मानने वाले मिथ्यादृष्टी हैं ।

यज्ञोपवीतके विना गृहस्थ शूद्रके समान है । यद्यपि शूद्र कुलमें जन्म नहीं है तथापि संस्कारों का अभाव होने से वह एक प्रकार से शूद्र ही है ।

इसलिये सबको यज्ञोपवीत धारण करना ही चाहिये । यह न विचार करे कि–यज्ञोपवीत आठ वर्ष की उमर (आयु) में धारण किया जाता है मेरी आयु तो चालीस वर्ष की है मैं तो पचास वर्षका वृद्ध हूं अब यज्ञोपवीत धारण करने का क्या फल होगा ? कितनी ही अपनी अवस्था क्यों न होगई हो परंतु यज्ञोपवीत अवश्य ही धारण करना चाहिये । यज्ञोपवीतके धारण किये विना रहना है वह जिनागम के विरुद्ध मनोनीत भावोंसे रहना है ।

इसी प्रकार हमारे कुलमें किसी ने आज तक जनेऊ नहीं पहना है हम क्यों पहने ? ऐसे मिथ्या विचारोंके कारण यज्ञोपवीत धारण नहीं करना भी जिनागमकी आज्ञाको नहीं मानना है ।

यज्ञोपवीत की क्रिया हमसे पालन नहीं हो सक्ती है ? यज्ञोपवीत गृहस्थों से किस प्रकार धारण किया जाय । महान व्रत पालन करने वाले और महान पवित्र आचरण करने वाले ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं । ऐसे विचारसे जो गृहस्थ यज्ञोपवीत धारण नहीं करते हैं वे जिनागमके ज्ञानसे रहित हैं । श्रावककी क्रियाके ज्ञानसे रहित हैं । उनको श्रावक के आचरणों का परिज्ञान नहीं है । शास्त्रों के पढ़लेने पर भी उनको शास्त्रका परिज्ञान नहीं है स्वाध्याय करने पर भी वे स्वाध्याय के फल से रहित हैं ।

यज्ञोपवीत धारण करने वाले भव्य जीवोंको निम्न लिखित व्रत यज्ञोपवीत धारण करते समय ग्रहण करने पड़ते हैं । इन व्रतोंके धारण किये विना यज्ञोपवीत धारण नहीं किया जाता है ।:

१ मद्य–मांस–मधुका परित्याग करना ।

२ वड़फल–पीपलफल–उदंबर (गूलर) पाकरफल और कटूंबर (एक वृक्षका फल होता है) इन पांच फलोंका परित्याग करना ।

३ जिनदर्शन नित्य करना ।

४ रात्रिमें अन्नपदार्थका सेवन नहीं करना।

५ पानी छानकर पीना।

६ मिथ्या देवोंको कभी किसी कारणसे नमस्कार नहीं करना, न पूजना, न उनकी मान्यता करना।

७ मिथ्या शास्त्रोंका श्रद्धान नहीं करना और मिथ्यागुरुको नमस्कार नहीं करना

८ अपनी शक्ति हो तो पंच अणुव्रत धारण करना।

९ समस्त जीवों पर दयाभाव रखना।

यज्ञोपवीत धारण करनेकी विधि।

ब्रह्मसूरि विरचित—जिनसंहिता।

अथ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां गर्भाष्टमेऽब्दे—आषोडशवर्षाद् युगाब्दे वा माणवकानुकूलशुभतिथौ पूर्वं चैत्यालये भगवदर्हतां महाभिषेकमेकादशविधार्चनं—यंत्रमंडलसमाराधनं गृहे माणवकस्य स्नानमलंकरणमुचितासनोपवेशनं। शिरसि दर्भगंधोदकसेचनं। शिखावशेषकेशवापनं। पुनर्मंगलस्नानं। अग्निसंधुक्षणान्ता होमक्रिया। तदग्र शुभमुहूर्ते मंगलस्तोत्राशीर्वादपठनपूर्वकशिरःस्पर्शनोपनीतिक्रियाविधिः॥

कौपीनेनाम्बरोत्तरीयपरिधारणं। मौंजीबंधनं यज्ञोपवीतधारणं। ब्रह्मग्रंथियुतशिखायामर्हत्पादशेषाधारणं। शौचाचमनाद्यर्घ्याद्युपवेशनं। आचमनप्रोक्षणाघ्र्यतर्पणानां मंत्रतो विधापनमवशिष्टहोमक्रियानिवर्तनं। पुण्याहवाचनं विभूत्या बंधुभिःसह चैत्यालयगमनं। त्रिवारचैत्यालयप्रदक्षिणा। अर्हत्श्रुतगुरूणामर्चनं प्रणमनं। तत्रोचितोद्देशे पंचचूर्णविरचितसद्बीजाक्षरसंयुताग्निवायव्यभूतभामंडलाना मध्येऽक्षतविरचितस्वस्तिके सदर्भे पद्मासनेन कुमारविनिवेशनं। तत्समीपे जलचंदनाक्षतफलादिद्रव्यनिक्षेपणं परमगुरुणापि शिक्षकेणार्चनं(?) द्विजोत्तमेन वा। सम्यग्दर्शनस्याणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानामुपदेशनमागमोक्तप्रकारेण। मद्यमांसाद्यभोज्यानां वर्जनमस्यानिवालविद्याद्युपदेशनं। शिरस्पर्शनपूर्वकपंचगुरुमंत्रोपदेशः। सामायिकाद्यनुष्ठानं त्रिसंध्याकालवंदनया च नित्यनैमित्तिकपूजायाश्चोपदेशः।

शांतिमंत्रेण—अंगस्पर्शनं। शिरसि सव्यपाणिना पंचगुरुमंत्रस्थापनं। तदा परमार्थद्विजत्वं विभ्राणेन कुमारेण सिद्धार्चनं आचार्यपूजनं देवगुरुश्रुतपितृ—शिक्षकज्येष्ठाना यथोचितवंदना। स्वगृहगमनं। भिक्षायाचनं भिक्षां देहीतिवचनेन

१—संपादनं पूजनमिति वा। २—सहार्थे तृतीया प्रतीयते। ३—जिनार्चनमत्र भाव्यम्।

भिक्षास्वीकरणं देवतातर्पणं । बंधुगृहलब्धवस्तुसुवर्णादिकं आचार्यसंतर्पणं । उपासकाध्ययनपुस्तकार्पणमेकादशनिलयोचितमारोपणमित्यादि ।

यज्ञोपवीत किस प्रकार धारण करना ?

यज्ञोपवीत धारण करनेवाला भव्यजीव अपने वालों (क्षौरकर्म)को उस्तरासे वनवाकर शुद्ध हो मनकी शल्यको दूरकर जिनागमकी श्रद्धा रखकर कुलकी आम्नायको पवित्र रखने के लिये और सज्जातित्व प्रकट करनेके लिये यज्ञोपवीत धारण करनेकी नीचे लिखे अनुसार विधि करें, क्षौरकर्म कराकर श्रीजिनेंद्र देवका पंचामृताभिषेक विधि पूर्वक करै । कमरमें मूंजकी कंधोनी पहने, और सफेद धुले हुये, धोती दुपट्टा पहने, यज्ञोपवीतका भगवान के गंधोदकमें अभिषेक करावे । यज्ञोपवीतको रत्नत्रय मानकर रत्नत्रयकी पूजन संक्षेपमें करे । अपने शरीर पर गंधोदक खूब अच्छी तरह लगावे शिरपर गंधोदकका सिंचन करें । स्वस्तिक चंदन से मस्तक पर बनावे । और लघु हवन–एवं शांति और पुण्याहवाचन मंत्र पढ़े । इस प्रकार यज्ञोपवीत धारण करनेकी यह संक्षेप विधि है ।

कदाचित इतनी विधिभी न वन सके तो क्षौरकर्म कराकर श्रीजिनेन्द्र देवका अभिषेक करे अभिषेक में यज्ञोपवीतका रत्नत्रयका अभिषेक पाठकर अभिषेक करै और धोती दुपट्टा नवीन पहन कर गुरुसे यज्ञोपवीत ग्रहण करें ।

वालकों को यज्ञोपवीतका आगमकी विधि अनुसार ही संस्कार कराना चाहिये । बालकों को यज्ञोपवीत संस्कार विधिके विना कदापि नहीं करना चाहिये ।

वृद्ध और युवाओं को भी विधि पूर्वक यज्ञोपवीत संस्कार कराना चाहिये । कदाचित विधि न हो सके तो श्रीजिनेंद्र देवका अभिषेक कर गुरुसे यज्ञोपवीत ग्रहण करना चाहिये ।

एकवार यज्ञोपवीत संस्कार करानेके पश्चात् फिर यज्ञोपवीत आजन्म पर्यंत धारण करना चाहिये यज्ञोपवीत दो चार दिवस या महीना दो महीना के लिये नहीं पहना जाता है । क्यों कि—

उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च ।
देवतागुरुसाक्षि स्याद्विधिवत् प्रतिपालनम् ॥

भावार्थ—यज्ञोपवीत और यज्ञोपवीतके धारण करते समय ग्रहण किये हुए व्रतों (जो देव–गुरुकी साक्षी से ग्रहण किये हैं) को यावत् जीव प्रतिपालन करना

चाहिये, देवगुरु साक्षी से ग्रहण किये हुए व्रत तथा यज्ञोपवीतको विधिपूर्वक पालन करना चाहिये। ऐसा नहीं कि पूजाके समय यज्ञोपवीत धारण कर लिया और फिर छोड़ दिया। ऐसा करनेवाले व्रतखंडन करनेके पापके भागी होते हैं। व्रतका भंग करना महान पाप जिनागममें माना है।

यज्ञोपवीत श्रावण सुदी पूर्णमा (रक्षाबंधन) के दिवस बदलना चाहिये। नवीन यज्ञोपवीत धारण करना और पुराना यज्ञोपवीत जलाशय में छोड़ना चाहिये। उस दिन भगवान श्रीजिनराजका अभिषेक करैं रत्नत्रय पूजा करैं और लघु होम करैं।

घर पर सूतक होने पर–मुर्दोंको जलाने पर कुटंबमें अतिशय समीप संबंधी की मृत्यु होने पर–बालक बालिका का जन्म होने पर यज्ञोपवीतको बदल लेवे।

यज्ञोपवीत टूट जाने पर बदल लेना चाहिये।

अपवित्र और मलिन विष्टा मल मूत्र रक्त आदिका संसर्ग होजाने पर यज्ञोपवीत बदल लेना चाहिये।

चांडालादि अस्पर्श्य जनताने यज्ञोपवीत को छू (स्पर्श कर) लिया हो तो यज्ञोपवीत बदल लेना चाहिये।

स्पर्श्य शूद्रके साथ भूल या अज्ञानसे खान पान हो गया हो तो प्रायश्चित्त ग्रहण कर यज्ञोपवीत का पुनः संस्कार कराना चाहिये।

मद्यसेवी और मांसभक्षी के साथ भूल या अज्ञान से खान पान होगया हो तो प्रायश्चित्त ग्रहण कर यज्ञोपवीत का पुनः संस्कार कराना चाहिये।

शूद्र पतित जातिच्युत आदि निंदित मनुष्य के साथ खान पान व्यवहार यज्ञोपवीत धारक भव्यजीव को नहीं करना चाहिये।

गो कुत्ता बिल्ली सर्प आदि पंचेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा करने पर या भूल अथवा अज्ञान से हिंसा होजाने पर प्रायश्चित्त विधि से शुद्धि करा कर गुरु से ही पुनः यज्ञोपवीत संस्कार कराना चाहिये। यदि भावों की विशुद्धि न हो और जिनागम पर श्रद्धान न हो तो समाज उसको शूद्र के समान समझे।

यज्ञोपवीत ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही को धारण करना चाहिये।

यज्ञोपवीत धारण करने की विधि।

यज्ञोपवीत धारण करने वाले भव्यात्माओं को सदैव यह विचार रखना चाहिये कि यज्ञोपवीत रत्नत्रय है परम पवित्र है। श्रीजिनेन्द्र भगवान की आज्ञा

स्वरूप है सज्जातिकी व्यक्तता करनेका मुख्य चिन्ह स्वरूप है। व्रत रूप है। श्रावक धर्मका मूल निशान है। धर्मका वीज है। शुद्धिका परम पवित्र कारण है। मोक्ष-मार्गकी पात्रताका आदर्श नमूना है। दान–पूजादि सत्कर्म एवं सदाचार प्रवर्त्त कराने का मूल निमित्त कारण है। इसलिये यज्ञोपवीत एक प्रकार का देव है। उससे किसी भी मलिन पदार्थ का संयोग न हो। मलिन अंगका संसर्ग न हो मलिन स्थान में वह देव (यज्ञोपवीत) गिर नहीं जावे। इसलिये सम्यग्दृष्टी श्रावक को यज्ञो-पवीत की पूर्ण रक्षा करनी चाहिये। ऐसी संभाल रखना चाहिये कि जिससे यज्ञोपवीत मलिन वस्तु से छू नहीं जावे।

पेशाव के जाते समय पेशावकी छींटे यज्ञोपवीत पर नहीं गिर पड़ें और इन्द्रिय से यज्ञोपवीत का स्पर्श न हो जावे, इसलिये यज्ञोपवीतको दक्षिण कान पर स्थापित करना चाहिये।

मल छोडने के समय (शौचके समय) यज्ञोपवीतको वामकर्ण पर स्थापित कर शिर से लपेट कर वामकर्ण पर स्थापित करना चाहिये।

वान्ती (वमन–उल्टी) होनेके समय यज्ञोपवीतको गले में दो तीन वार लपेट लेना चाहिये। जिससे वमनके छींटे यज्ञोपवीत पर न गिरने पावें।

मैथुन करते समय यज्ञोपवीत मस्तक पर स्थापित करना चाहिये जिससे अपवित्र वस्तुका संयोग यज्ञोपवीत से नहीं हो।

इसी प्रकार मलिन वस्तुके संयोग की आशंका होने पर यज्ञोपवीत को संभाल कर उच्चस्थानमें स्थापित करना चाहिये।

नोट—किसी भव्य जीव ने पेशाव करते समय–या शौच जाते समय यज्ञो-पवीतको उच्चस्थान (कर्णादि) पर स्थापित नहीं किया और विधिका अभ्यास नहीं होने से भूल जाय तो नौवार णमोकार मंत्र का जाप करने से शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार मैथुन के समय यज्ञोपवीतको मस्तक (शीर्ष) पर स्थापित करने में भूल होजाय तो नववार णमोकार मंत्र की जाप देना चाहिये। यही इसका प्रायश्चित्त है। रात्रिके समय यज्ञोपवीत दुहरा रखनेसे मस्तक पर स्थापन करने की विशेष आवश्यकता नहीं भी रहती है।

यह समस्त विधि आगम में बतलाई है।

यथा

विण्मूत्रं तु गृही कुर्यात् वामकर्णे व्रतान्वितः।
मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णिके॥

धारयेद् ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा
यज्ञोपवीतं निधार्य पूजायां दानकर्मणि ।

भावार्थ—गृहस्थ यज्ञोपवीतको मलमूत्र के समय वामकर्ण और दक्षिण कर्ण पर स्थापित करे वमन समय गलेमें रखे। मैथुन समय मस्तक पर रखे पूजा और दान कर्म में सदैव लंबायमान धारण करै। आचमन तर्पण आदि क्रियायें यज्ञोपवीतसे विधिविधान आगमानुसार करना चाहिये क्षौरकर्म कराते समय यज्ञोपवीतको नाई (नापित–गांजा) से स्पर्श नहीं कराना चाहिये। इसलिये उस समय यज्ञोपवीतकी पवित्रताकी रक्षाके लिये कंधेसे नीचेभागमें पीठ पर उतार लेवे। या संभाल कर कार्य करै।

नोट—समस्त यज्ञोपवीतकी क्रिया शरीरकी सावध अवस्था में पालनकी जाती है यदि रोगादिकके निमित्तसे मूर्च्छा होगई–बेसुध बेभान अवस्था प्राप्त होगई हो तो यज्ञोपवीत की पवित्रता रखने का कार्य भी शिथिल होजाता है। उसका एक यही उपाय है कि आरोग्यलाभ होने पर श्रीजिनेन्द्र भगवान का अभिषेक (विधि पूर्वक) कराकर चौबीस भगवानकी समुच्चय पूजा करनी चाहिये शक्ति हो तो चौबीस महाराज का पाठ करना चाहिये और रत्नत्रय पूजा कर यज्ञोपवीतका पुनः संस्कार करना चाहिये। यही प्रायश्चित्त और शुद्धि का मार्ग है।

यज्ञोपवीत धारण करने वाले भव्य सम्यग्दृष्टी जीव की क्रिया में यज्ञोपवीत धारण करनेवाले भव्य सम्यग्दृष्टी जीवको नित्य स्नान कर भगवान की पूजा करनी चाहिये यदि अवकाश न हो या कोई कारण विशेष प्राप्त होगया हो तो अर्घ चढ़ाना चाहिये। यदि ऐसा भी अवकाश न हो तो स्नान शुद्धि कर भगवान के दर्शन नित्य करना चाहिये। कदाचित भगवान के दर्शन नहीं हो सकें–मंदिर न हो, परदेश में जिन मंदिर न हो तो रसका परित्याग कर णमोकार मंत्रकी जाप एक देकर भोजन करना चाहिये।

जिस क्षेत्रमें जिन मंदिर का अभाव ही हो तो ऐसे क्षेत्र में निवास नहीं करना चाहिये। अथवा ऐसे क्षेत्र में जाना ही नहीं चाहिये कि जिसमें बहुत समय तक भगवान के परम पवित्र दर्शनका लाभ न हो। जो जैन अपनेको बतलाते हैं और जबरन प्रसिद्ध करते हैं कि हम जैन हैं। परंतु कुशिक्षादिके कारण जिन दर्शन नहीं करते हैं, जिन दर्शन करने की श्रद्धा भी नहीं रखते हैं, जिन दर्शन में लाभ नहीं मानते वे मिथ्या दृष्टी हैं।

जिनके जिनदर्शन करनेका नियम नहीं है और जिनको जिनदर्शन करने में अरुचि है वे जिनागमसे बहिर्भूत मिथ्या दृष्टी हैं।

इसी प्रकार जो अपनेको जैन कहलाते हुए भी भगवानकी पूजा करने का निषेध करते हैं, अष्टद्रव्यसे पूजा करनेको ढोंग बतलाते हैं वे महामिथ्यात्वी हैं, भगवानकी आज्ञा का लोप करने वाले हैं।

यज्ञोपवीत धारक भव्य सम्यग्दृष्टी जीवको—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

देवपूजा १ गुरुकी उपासना (आहारदान वैयावृत्य) २ स्वाध्याय ३ संयम ४ तप ५ और दान ६ ये छह कर्म नित्य करना चाहिये।

शक्ति प्रमाण षट आवश्यक कर्मको पुण्यात्मा यज्ञोपवीत धारक भव्यजीव नित्य ही जिनागम की श्रद्धा पूर्वक करते हैं।

षट अवश्यक कर्मों (देव पूजा गुरु उपासनादि) को पवित्र वस्त्र धारण कर और तिलक लगाकर ही करना चाहिये।

जपो होमस्तपो दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणं।
जिनपूजां श्रुताख्यानं न कुर्यात् तिलकं विना ॥

भावार्थ—जप होम तप दान स्वाध्याय–जिन पूजन और शास्त्रश्रवण करना कराना ये तिलक लगाये बिना नहीं करें।

इसी प्रकार यज्ञोपवीत धारक पुण्यात्मा भव्यजीव जिनपूजन–दान (मुनिको आहारदान) शास्त्रश्रवण आदि षट कर्म एक धोतीको पहन कर (आधी धोती पहन कर और आधी धोती ओढ़कर) नहीं करना चाहिये।

एकवस्त्रो न भुंजीत न कुर्यात् देवपूजनम्।
न कुर्यात् पितृकर्माणि दानहोमजपादिकम् ॥

स्नानं दानं जपं होमं स्वाध्यायं पितृकर्मणि ।
नैकवस्त्रो गृही कुर्यात् श्राद्धभोजनसत्क्रियाः ॥

भावार्थ—एक वस्त्र पहनकर देवपूजन–दान–स्वाध्याय–होम–जप–और पितृकर्म में श्राद्धभोजनादि सत्कर्म नहीं करना चाहिये। दोनों श्लोकों का यही अभिप्राय है।

यज्ञोपवीत धारण करनेके मंत्र ।

नवीन यज्ञोपवीत धारण करते समय निम्नलिखित मंत्रका उच्चारण कर यज्ञोपवीत पहने—

ओं नमः परमशांताय शांतिकराय पवित्रीकृतायार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा ।

दूसरा मंत्र ।

अतिनिर्मलमुक्ताफलललितं यज्ञोपवीतमतिपूतं ।
रत्नत्रयमिति मत्वा करोमि कलुषापहरणं महाभरणम् ॥

ओं नमः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय यज्ञोपवीतं धारयामि स्वाहा ।

तीसरा मंत्र ।

केवलज्ञानसाम्राज्ययुवराजपदाप्तये ।
रत्नत्रयमिदं सूत्रं कंठाभरणमादधे ॥

ओं नमः रत्नत्रयस्वरूपाय यज्ञोपवीतं धारयामि स्वाहा ।

नोट—जो मंत्र कंठ नहीं हो तो णमोकार मंत्र पढ़कर यज्ञोपवीत पहन लेना चाहिये ।

यज्ञोपवीत कितना लंबा होना चाहिये ?

सूत्रं लंबं हस्तमानं चत्वारिंशच्छताधिकं ।
तत्रैगुण्यं परिवृत्यां तद्वृत्त्या त्रिगुणं पुनः ॥

भावार्थ—एक सौ चालीस हाथ कच्चे सूतका यज्ञोपवीत बनाना चाहिये उसको तिगुणा करने पर ४६ ३/३ हाथ रहेगा। फिर उसकी तीन लर बनाने से पंद्रह हाथ से कुछ अधिक लंबा होगा यह उत्कृष्ट प्रमाण है। मध्यम १०८ अंगुल सूतका यज्ञोपवीत होता है। बालकोंको जघन्य लम्बा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

श्री भट्टाकलंक-संहिता चतुर्थपरिच्छेद—

विसोत्थेन च सूक्ष्मेण स्निग्धेनाखंडपाण्डुना।
दृढेन ग्रंथिवर्जेन शुचिनैकेन तंतुना॥ १६॥
त्रिगुणैनैकभूतेन वलितेन प्रदक्षिणम्।
एकीभूतात्रिवर्त्यात्मनैवं कृत्वा नवात्मना॥ १७॥
पुनस्त्रिगुणितेनैव पृथक्भूतेन तेन वै।
इति कृत्वा सप्तविंशत्यात्मना तेन शोभिना॥ १८॥
सम्यग्दृग्बोधरूपेण सामान्यविशेषतः।
सर्वतत्वस्वरूपेण यज्ञसूत्रेण तेन च॥ १९॥

भावार्थ—यज्ञोपवीत एक कच्चे, कमलदंडके तोड़नसे निकले हुए तंतु समान सूक्ष्म चिकना अखंड सफेद गांठ रहित पवित्र तंतुका पवित्र होना चाहिये। उस सूत्र को तीन लर बना कर ऐंठना। फिर इस प्रकार एक लर में तीन तीन आवर्त्य कर २७ लर का यज्ञोपवीत बनावे। तीन लर में २७ सूत्र हो वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप है।

अंगुष्टमूलादाकण्ठनालमात्रप्रमेण च।
अधोरुकप्रमाणेन वाऽलंकुर्यात् द्विजोत्तमः॥ २०॥

भावार्थ—यज्ञोपवीतको कंठमें धारणकर और अंगुष्ट में लगाकर अपने हाथ को घुटने की तरफ लंबा करनेपर जितना लंबा हाथ हो उतना ही लंबा यज्ञोपवीत होना चाहिये।

यज्ञोपवीतकी गांठ।

यज्ञोपवीतकी गांठ अनेक प्रकार की होती है प्रतिमा धारी श्रावक और

ब्राह्मणों को ब्रह्मगांठ (गोलगांठ मालाका दाना जैसी) का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये । बाकी श्रावकों को वैश्यगांठ (लंबी तीन गांठ वाली) का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ।

जिनको यज्ञोपवीत नहीं बनाना आता हो वे बजार का यज्ञोपवीत नवतारका पहन सकते हैं ।

श्रावकके पालने योग्य क्रियायें ।

(श्रावकके १७ नियम)

(१) देव शास्त्र गुरुका अविचल भावसे दृढ़ श्रद्धान करना ।

(२) आठ मूलगुणोंको विधिपूर्वक प्रतिज्ञा लेकर धारण करना ।

(३) श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजन नित्य करना ।

(४) सुपात्रमें आहारादिक दान देना ।

(५) संघ (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) के साथ वात्सल्य भाव रखना ।

(६) सम्यग्दृष्टीके गुणोंमें अनुराग रखना ।

(७) भोजन शुद्धि और खानपान पदार्थों की शुद्धि नित्य रखना ।

(८) अपनी संतानके संस्कार विधिपूर्वक कराना ।

(९) जिनागमका स्वाध्याय करना, अपने बालक बालिकाओं को सबसे प्रथम अनिवार्य रूपसे जिनागम पढ़ाना ।

(१०) बालकों को कुशिक्षा और कुसंगतिसे रक्षा करना ।

(११) पानी छान कर पीना ।

(१२) शूद्रके हाथका स्पर्श किया हुआ जल घी तेल आटा और खाद्य पदार्थोंका सेवन नहीं करना ।

(१३) पंच पापों (हिंसा झूंठ चोरी कुशील और तृष्णा) का परित्याग करना ।

(१४) जीवदया पालन करना ।

(१५) रात्रिमें अन्नका पदार्थ सेवन नहीं करना ।

(१६) विधवा विवाह, जातिपांति लोप, और विजातीय विवाह नहीं करना ।

(१७) शास्त्रोक्त सूतक पातक रजो धर्मादि विधायी क्रियाओंका पालन करना और दोषोंकी सदृश प्रायश्चित्त विधानसे शुद्धि करना ।

---

१ शास्त्राधारतया सर्वदेश एव चिन्त्यः । २ शास्त्रव्यवहारदृष्टैव सम्मान्यस्तत्प्रतिकूलः शास्त्रव्यवहाराऽनभिज्ञः ।

पंडित लालारामजी संपादित षोडश संस्कार के आधारसे
यज्ञोपवीत सम्बन्धि विशेष विधि ।

क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता ।
यत्रापनीतकेशस्य मौंजीसव्रतबन्धना ॥ १०४ ॥
कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौंजीबन्धो जिनालये ।
गुरुसाक्षिविधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥ १०५ ॥
शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः ।
व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥ १०६ ॥
चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदास्य वै ।
वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥ १०७ ॥
सोऽन्तःपुरे चरेत्पात्र्यां नियोग इति केवलम् ।
तदग्रं देवमात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत् ॥ १०८ ॥

आदिपुराण पर्व ॥ ३८ ॥

इस संस्कार का नाम उपनीति, उपनयन वा यज्ञोपवीत है । यह संस्कार ब्राह्मणोंको गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियों को ग्यारवें वर्षमें और वैश्यों को बारहवें वर्षमें, करना चाहिये ।

जिस किसी ब्राह्मणको यह इच्छा हो कि–मेरा बालक अधिक दिन तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करे । वह उस बालकका उपनयन पांचवें वर्षमें कर देवे । जिस क्षत्रियकी इच्छा बालकको बलिष्ट बनाने की है वह छठे वर्षमें और जिस वैश्यकी इच्छा अधिक द्रव्योपार्जनकी है वह अपने बालकका यज्ञोपवीत आठवें वर्षमें ही कर देवे ।

यदि कारण कलापों से नियत समय तक उपनयन विधान न हो सका तो ब्राह्मणों को सोलह वर्ष तक, क्षत्रियों को बाईस वर्ष तक और वैश्यों को चौबीस वर्ष तक यज्ञोपवीत संस्कार कर लेना उचित है ।

यह उपवीति संस्कार का अन्तिम समय है । जिस पुरुषका यज्ञोपवीति संस्कार

इस समयतक भी नहीं हुआ है । वह पुरुष उच्छृंखल होकर धर्मपराङ्मुख हो सकता है। यज्ञोपवीत रहित पुरुष पूजा प्रतिष्ठादि करनेके अयोग्य होता है ।

पुत्रोंके भेद—पुत्र सात ७ प्रकारके माने हैं, अपना खास लड़का १ अपनी लड़की का लड़का २ दत्तक (गोद) लिया हुआ ३ मोल लिया हुआ ४ पाला हुआ ५ अपनी बहिनका लडका ६ शिष्य ७ ।

आचार्य—यज्ञोपवीत करानेवाला आचार्य बालकका पिता होसकता है, जो पिता न हो तो पितामह (पिताके पिता), जो वे भी न हों तो पिताके भाई (काका-चाचा ताऊ वगैरह), वे भी न हों तो अपने कुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी मनुष्य, और जो ऐसा पुरुष भी न हो तो अपने गोत्रका कोई भी पुरुष आचार्य बनकर यज्ञोपवीत करा सकता है ।

यज्ञोपवीत—यज्ञोपवीत बनानेके लिये घरकी स्त्रियों से ही सूत कतावे । कच्चे सूतको त्रिगुणित कर बटलेवे । तथा दूसरी वार फिर त्रिगुणितकर गांठ देकर यज्ञोपवीत बना लेवे । यज्ञोपवीत की लंबाई ब्रह्मस्थानसे (मस्तक परके तालु छिद्र से) नाभि पर्यन्त होनी चाहिये । कम लंबाई से रोगादि पीडा और अधिक लम्बाई से धर्मविघात होना आचार्य सम्मत है ।

यज्ञोपवीत संस्कारके मुहूर्त दिनसे दश या सात या पांच दिन पहले नान्दी विधान किया जाता है । इसकी अति संक्षेप विधि यह है कि जिस दिन नान्दी विधान करना हो उसदिन बालकका पिता दो चार भाइयोंके साथ आचार्य के घर जावे । यथा साध्य कुछ भेंट देकर विधि कराने की प्रार्थना करे । आचार्य उस-प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार करे । आचार्य समेत सब लोग वहाँसे उठकर उसी समय जिनालयमें आवें । दर्शन पूजनादिक कर सभामण्डपमें बैठें । इस समय आचार्य फिर स्वीकारता देवे । पश्चात् सब लोग आचार्यको घर पहुंचाकर अपने २ घर जांय ।

जिस दिन शुभ ग्रह, योग, नक्षत्रादिक हों उसी दिन यज्ञोपवीत करे । प्रथम ही बालकको स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहनावे तथा माताके साथ भोजन करावे । अनंतर शिरके केशोंका मुण्डन करावे, केवल शिखा शेष रहने दे । हल्दी, घी, सिंधूर, दूर्वा–दर्भ आदि मिलाकर बालकके शरीरमें लेपन करे । थोडा विश्राम लेकर स्नान करावें। अनन्तर आचार्य पुण्याहवाचन मंत्रको पढ़ता हुआ कुशोंसे पवित्र जल लेकर बालकको सिंचन करे ।

---

१ यदि बालकके पिता पितामहादिक यज्ञोपवीतविधि न जानते हों तो अपने स्थानमें कोई दूसरा आचार्य नियत कर सकते हैं आचार्य नियत करनेकी विधि नान्दी विधानमें लिखी है ।

इसी समय पुण्याहवाचन पाठ समाप्त हो जानेपर नीचे लिखे मंत्रोंसे सिंचन करे " परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव, परमार्हंत्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभावी भव, इन मंत्रोंसे सिंचन करनेके बाद बालकके शरीरको सुगंधित द्रव्योंसे लेपन करे।

अनंतर श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा और होम प्रारंभ करना चाहिये और जब यथाविधि समाप्त हो जाय, यज्ञोपवीत देनेका समय निकट आ जाय तब ग्रहस्तोत्र पढ़कर " णमो अरहंताणं " इत्यादि पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण करना चाहिये। उस समय बालक उत्तर दिशाकी ओर मुख कर पद्मासन बैठ अपने जन्मकी शुद्धि करनेके लिये आखोंका टिमकार बंदकर पिताके मुखको देखे। तथा पिता उसी शुभ मुहूर्तमें पुत्रके सन्मुख खड़ा होकर उसके मुखको देखे। और उसके ललाटपर चंदनका तिलक लगा देवे।

अनंतर मौंजी पहनाना चाहिये। मूंजकी एक पतली रस्सी बांटकर उसे त्रिगुणित कर बालककी कमरमें बांधने योग्य बनालेना चाहिये और " ओं ह्रीं कटिप्रदेशे मौंजीबन्धं प्रकल्पयामि स्वाहा " यह मंत्र पढ़कर बालककी कमरमें [1]मौंजी और एक कौपीन (लंगोटी) बांध दे। तथा " ओं नमोर्हते भगवते तीर्थंकरपरमेश्वराय कटिसूत्रं कौपीनसहितं मौंजीबंधनं करोमि पुण्यबंधो भवतु अ सि आ उ सा स्वाहा " यह मंत्र पढ़कर मौंजीको हाथमें लेकर उसपर पुष्प और अक्षत डाले।

अनंतर बालकका पिता रत्नत्रयके चिन्हस्वरूप यज्ञोपवीतको हल्दी और चंदनसे रंगकर " ओं नमः परमशांताय शांतिकराय पवित्रीकृतायार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा " यह मंत्र पढ़कर उस बालकको वह पहनावे।

ओं नमोर्हते भगवते तीर्थंकरपरमेश्वराय कटिसूत्रपरमेष्टिने ललाटे शेखरं
शिखायां पुष्पमालां च दधामि मां परमेष्ठिनः
समुद्धरंतु ओं श्रीं ह्रीं अर्हं नमः स्वाहा "

यह मंत्र पढ़कर ललाटपर तिलक दे, चोटी पर पुष्पमाला रक्खे। तथा बालक नवीन धोती दुपट्टा पहने, आचमन करे, तर्पण करे और श्रीजिनेंद्र देव को एक अर्घ्य देवे।

---

१ इसको कटि चिन्ह अर्थात् कमरका चिन्ह कहते हैं। २ इसको उरोलिंग अर्थात छातीका चिन्ह कहते है। ३ चोटी शिरोलिङ्ग अर्थात शिरका चिह्न माना गया है वह सब शरीरमें उत्तम है क्योंकि श्रीजिनेन्द्रदेवके चरणारविन्दमें पड़नेका सौभाग्य इसीको है।

अनंतर बालक हाथमें चंदन अक्षत और फल लेकर दोनों को जोड़ परम निश्रेयस मोक्षकी अभिलाषा करता हुआ आचार्यसे व्रत मांगे, आचार्य भी श्रावका चारके यथोचित व्रतका उपदेश दें। बालक उन्हें सहर्ष स्वीकार करे तथा "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं इत्यादि बीजमंत्र और णमो अरिहंताणं" इत्यादि पंच नमस्कार मंत्र भी आचार्यसे सुनकर स्वीकार करे।

इस बालकका इस समय जो वेष है वह ब्रह्मचारीका है उसका यह ब्रह्मचर्य विवाह पर्यंत शुद्ध रहना उचित है।

अनंतर अपने शरीरकी उंचाईके समान लम्बा दण्डा ले। इसका ऊपरका चौथाई भाग हल्दी से रंग ले। बालक यह दण्डा हाथमें ले अग्निके उत्तरकी ओर खड़ा हो और पूर्वकी ओर मुख करके तीन अर्घ्य देवे। तथा अपने आसन पर आ बैठे।

इसी समय होमकी पूर्णाहुति देनी चाहिये। बालक स्वयं शमी अक्षत लाजा (खीलें) खीर घी नैवेद्यको मिलाकर तीन आहुति देवे ये आहुति शांतिके लिये दी जाती हैं।

फिर बालक होटों को बंदकर मुख प्रक्षालन करे। अपने हाथों को होमकी अग्निसे सेक कर तीन वार मुखसे लगावे। तथा अग्निकी स्तुति कर उसे विसर्जन करे।

अनंतर बालक प्रथम ही अपना दायाँ पैर आगे रखकर होममण्डपसे बाहर आवे प्रथम ही माके समीप जाकर (मातर्भिक्षां देहि) माता भिक्षा दीजिये ऐसा स्पष्ट उच्च स्वरसे कहे। माता भी दोनों हाथों मे चावल भरकर पुत्रको देवे। यह मातासे आई हुई पहली भिक्षा श्रीजिनेंद्रदेवके लिये अर्पण करे। मातासे भिक्षा मांगनेके बाद भाई बिरादरीके उपस्थित लोगोंसे भिक्षा मांगे सब लोग चांवल अथवा खाने योग्य कोई पदार्थ भिक्षामें देवें। भिक्षामें जो खाने योग्य पदार्थ मिले उसे बालक स्वयं खानेके काममें लावे।

यज्ञोपवीत विधिमें यह भिक्षा विधि सबको करनी चाहिये। परंतु राजपुत्र और अत्यंत समृद्धशाली धनी लोगों के लिये यह विधि आवश्यक नहीं है।

बालक जब भिक्षा मांग रहा हो, तब कुटुंबके बंधुवर्ग आकर उसे कहें कि वत्स ! तू अभी बालक है देशांतर जाने योग्य नहीं है इसलिये यहाँ ही गुरुके समीप रहकर विद्याभ्यास कर" बालक भी ये वचन सुनकर अपने यहाँ ही रहनेकी स्वीकारता देवे और भिक्षा मांगना बंद कर दे।

अनंतर सब लोक बालकके साथ साथ श्रीजिनालयमें जावें और दर्शन पूज-नादि कर वापिस आवें।

उस दिन साधर्मी भाई बिरादरीको भोजन कराना चाहिये तथा वस्त्र तांबूलादि उनकी भेंटकर उनका सत्कार करना चाहिये।

महीने महीने बाद यज्ञोपवीत बदलना चाहिये श्रावण महीनेमें श्रावणी (पूर्णिमा) के दिन अति संक्षेपसे होमादि क्रियाकर यज्ञोपवीत बदलना चाहिये।

यज्ञोपवीत होनेके एक वर्ष बादसे नित्य संध्या[1] वंदनादि क्रिया करना उचित है।

यज्ञोपवीतकी संख्या—विद्यार्थीको तथा नियत कालतक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों को एक, गृहस्थों को दो यज्ञोपवीत धारण करना योग्य है। जिस गृहस्थ के पास दुपट्टा न हो तो उसे तीन पहनना चाहिये। जिसे अधिक जीवित रहनेकी इच्छा है वह दो किंवा तीन पहने और जिसे पुत्रकी इच्छा है अथवा जिसे धार्मिक होनेकी इच्छा है वह पांच यज्ञोपवीत पहने।

एक यज्ञोपवीत पहनकर जप होमादि करना अयोग्य है क्यों कि ऐसा करनेसे सब व्यर्थ होता है।

जो यज्ञोपवीत गिरजाय अथवा टूट जाय तो स्नान कर अथवा स्नानका संकल्पकर दूसरा नवीन यज्ञोपवीत पहनना चाहिये। पहनते समय वही " ॐनमः परमशांताय शांतिकराय पवित्रीकृतार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमःस्वाहा " यह मंत्र पढ़ना योग्य है

एक २ यज्ञोपवीतके लिये पृथक् पृथक् एक एक वार मंत्र पढ़ना चाहिये। यदि एक वार ही मंत्र पढ़कर दो तीन अथवा पांच यज्ञोपवीत धारण किये जायंगे तो किसी एकके टूटनेसे सब टूटे हुए समझे जायेंगे।

जो यज्ञोपवीत उतर जाय अथवा टूट जाय तो उसे किसी जलाशय (नदी तलाव आदि) में डाल दे।

ब्राह्मणों को सूतका राजाओंको सुवर्णका और वैश्योंको रेशमका यज्ञोपवीत पहनना चाहिये।

---

१ वर्षेऽतीते त्रिकालेषु संध्यावंदनसत्क्रियां।
सदा कुर्यात स पुण्यात्मा यज्ञोपवीतधारकः॥

संध्यावंदनादि की विधि जैनशास्त्रों में मिलती है उसकी छपी पुस्तकें भी प्रायः जैन पुस्तकालयोंमें मिलेंगीं।

व्रतावतरण ।

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः ।
कट्यूरुरःशिरोलिंगमनूचानव्रतोचितं ॥ १०९ ॥

आदिपुराण पर्व ३८ ॥

यज्ञोपवीतके बाद विद्याध्ययन करने का समय है । विद्याध्ययन करते समय कटिलिंग (कमरका चिन्ह) ऊरुलिंग (जंघाका चिन्ह) उरोलिंग (छातीका चिन्ह) और शिरोलिंग (शिरका चिन्ह) धारण करना चाहिये ।

कटिलिंग[1]—इस विद्यार्थीका कटिलिंग त्रिगुणित मौंजी बंधन है । जो कि रत्नत्रयका विशुद्ध अंग और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका चिन्ह है ।

ऊरुलिंग[2]—इस विद्यार्थीका ऊरुलिंग धुलीहुई सफेद धोती है जो कि जैनमतको पालन करनेवालोंके पवित्र और विशाल कुलको सूचन करती है ।

उरोलिंग[3]—इस विद्यार्थीके हृदयका चिन्ह सात सूत्रों से बनाया हुआ यज्ञोपवीत है यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक है* ।

शिरोलिंग[4]—विद्यार्थीका शिरोलिंग शिरका मुण्डन करना है । जो कि मनवचनकायकी शुद्धता का सूचक है ।

प्रत्येक विद्यार्थीको ये ऊपर कहे हुये चारों चिन्ह धारण कर ब्रह्मचर्यकी विशुद्धताके लिये अहिंसादि अणुव्रत धारण करना चाहिये ।

---

१. कटिलिंगं भवेदस्य मौंजीबंधं त्रिभिर्गुणैः ।
रत्नत्रयविशुध्यंगं तद्धि चिन्हं द्विजन्मनाम् ॥ ६९ ॥

२. तस्येष्टमूरुलिंगं च सधौतासितशाटकं ।
आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥ ७० ॥

३. उरोलिंगमथास्य स्याद्ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः ।
यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थान सूचकं ॥ ७१ ॥

* सप्त परमस्थानों के नाम—सज्जाति परमस्थान, सद्गृहस्थ परमस्थान, पारिव्राज्य परमस्थान, सुरेंद्र परमस्थान, साम्राज्य परमस्थान, आर्हन्त परमस्थान, और निर्वाण परमस्थान.

सज्जाति सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥

४. शिरोलिंगं च तस्येष्टं परं मौण्ड्यमनाविलं ।
मौण्ड्यं मनोवचः कायगतमस्योपबृंहितं ॥ ७२ ॥

ऐसे विद्यार्थीको ककड़ीकी दतौन ताम्बूल अंजन और उवटनादि लगाकर स्नान करना अनुचित है उसे शरीरकी शुद्धिके लिये केवल दिनमें स्नान करना चाहिये।

ऐसा विद्यार्थी पलंग चारपाई आदिपर न सोवे न किसी दूसरेके शरीरसे अपना शरीर रगड़े। यह भूमिपर अकेला ही सोवे इसीमें इसके व्रतकी शुद्धता रह सकती है।

यज्ञोपवीत धारण करनेके पश्चात् इस विद्यार्थीको प्रथम ही उपासकाचार (श्रावकाचार) गुरुमुखसे पढ़ना चाहिये। गुरुमुखसे पढ़नेका अभिप्राय यह है कि श्रावकोंकी बहुतसी ऐसी क्रियायें हैं जो अनेक शास्त्रों के मंथन करनेसे निकलती हैं गुरुमुखसे वे सहजही प्राप्त हो सकती हैं। श्रावकाचार पढ़नेके बाद—न्याय, व्याकरण, गणित, साहित्य आदि पारमार्थिक लौकिक विद्यायें पढ़े।

यह बालक जबतक विद्या ध्ययन करेगा तबतक उसके ये ही वेष और व्रत रहेंगे। जब विद्याध्ययन समाप्त हो जायगा तब इसका यह वेष[1] और व्रत छूट जायेंगे और गृहस्थोंके जो मूल गुण व्रत होते हैं वे ही इसके होंगे।

श्रावण मास और श्रवण नक्षत्रमें पूर्वके समान होमादि[2] क्रिया करके कटिलिंग मौंजीका त्याग करे गुरुकी साक्षी पूर्वक वस्त्र पहने ताम्बूल खाय और शय्यापर सोवे। उसी समय आभरण और माला आदि पहने। जो वह लड़का शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय है तो वह शस्त्र धारण करे और जो वैश्य है तो व्यापारादिमें लगजाय

॥ इति ॥

---

१ पहले कहा जा चुका है कि यह वेष और व्रत इसके विवाह पर्यंत रहते हैं सो ही आचार्योंका मत है। "द्वादशवर्षा कन्या षोडषवर्षः पुमान् तौ प्राप्त व्यवहारौ" अर्थात् बारह वर्षकी कन्या और सोलह वर्षका पुरुष ये दोनों ही विवाह करने योग्य हैं इसलिये पुरुषको सोलहवें वर्षमें ही यह वेष त्यागना उचित है।

२ होमविधि पं. लालारामजी शास्त्री की **षोडषसंस्कारविधि** नामक ग्रंथसे जानना और यह ग्रंथ हर एक जैन पुस्तकालयसे १) रु. में मिल सकेगा।

पुस्तक मिलनेके ठिकाने—

१ गांधी मगनलालजी शंकरलाल जैन रतलामवाला.

ठि. सेठ विश्वम्भरलालजी कन्हैयालाल,

अंबालालबिल्डिंग चौथामाला,

कालबादेवीरोड, मुम्बई नं. २

२ गांधी जवेरीलाल ऋषभदास जैन.

ठि. सेठ आनंदीलालजी सूरजमल,

मारवाडी बजार—सट्टागली, बम्बई नं. २

देवकुमार-ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

ज्ञान-प्रदीपिका

तथा

सामुद्रिक-शास्त्रम्

(ज्योतिष-शास्त्र)

अनुवादक और सम्पादक,
ज्योतिषाचार्य पण्डित रामव्यास पाण्डेय

प्रकाशक.
निर्मलकुमार जैन
मन्त्री
श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा।

वीर संवत् २४६० (सन् १९३४)

देवकुमार-ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प (क)

ज्ञान-प्रदीपिका

अनुवादक और सम्पादक,

ज्योतिषाचार्य पण्डित रामव्यास पाण्डेय

प्रकाशक,

निर्मलकुमार जैन

मन्त्री

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा।

वीर संवत् २४६० सन् १९३४

ज्ञान-प्रदीपिका
की
विषय-सूची

—:*:—

प्रस्तावना।

प्रस्तुत (ज्ञान प्रदीपिका) पुस्तक ज्योतिष के उस भाग से सम्बन्ध रखती है जिसमें प्रश्न लग्न पर से फल बताया जाता है। उसे प्रश्नतन्त्र कहते हैं। नीलकण्ठ ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इसी विषय का वर्णन किया है। और भी कई प्रश्नतन्त्र की पुस्तकें प्रचलित हैं। प्रश्नतन्त्र के विषय में यह एक स्वतन्त्र और पूर्ण पुस्तक कही जा सकती है। इस ग्रन्थ के रचयिता के नाम आदि के बारे में जानने के लिये हमारे पास साधन नहीं है पर प्रारंभिक मंगलाचरण से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वे जैन थे। अस्तु —

जो प्रति हमारे सामने है वह अत्यन्त अशुद्ध है। पाठ शुद्ध करने का कोई भी साधन नहीं है। इस विषय के अन्य ग्रन्थों से मिलान करने पर कुछ कुछ शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पर उसमें भी कठिनता यह है कि इस ग्रन्थ में फल कहने का प्रकार कहीं कहीं अन्य ग्रन्थों से बिलकुल निराला है। यह बात एक प्रकार से मान ली गई है कि वर्षफल और प्रश्न फल इस देश में यवनों के संसर्ग से प्रचलित हुये हैं। फिर भी इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर की विशेषताओं के देखने से जान पड़ता है कि इस शास्त्र का विकास भी अन्य शास्त्रों की तरह जैनों में स्वतन्त्र और विलक्षण रूप से हुआ है। व्याकरण की अशुद्धियाँ तो प्रस्तुत प्रति में इतनी अधिक हैं कि उसमें शायद ही कोई श्लोक बचा हो। उनके शुद्ध करने में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थकार का भाव न बिगड़ने पावे। पद्यों के शुद्ध करने में जिस स्थान पर श्लोक की बन्दिश टूटती दिखाई दी वहां उसे वैसा ही छोड़ दिया गया। इसका कारण परम्परागत अशुद्धि समझी गई और उन्हें ज्यों का त्यों विद्वानों के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया गया।

एक बात और। लग्न की जगह पर हर जगह प्रश्नलग्न समझना चाहिये। ग्रहों की स्थिति से प्रश्नकालिक ग्रहों की स्थिति से आशय है जिस प्रकार इस बात का बार बार कहना ग्रन्थकार ने ठीक नहीं समझा उसी प्रकार अनुवाद कर्ता ने भी।

कई स्थान पर श्लोक के श्लोक छूट और टूट गये हैं। यथासाध्य अन्य ग्रन्थों से मिला कर उन्हें पूर्ण करने की चेष्टा की गई। फिर भी जो रह गये उन्हें विद्वान् पाठक सुधार लें।

शीघ्रता, प्रमाद, आलस्य आदि कारणों से अशुद्धि रह जाने की संभावना ही नहीं निश्चय है। गुणग्राही पाठक यदि सूचना देंगे तो सुधारने का प्रयत्न किया जायगा।

—अनुवादक

विशेष-वक्तव्य।

१—ज्योतिष-शास्त्र।

जिस शास्त्र के द्वारा सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रहों की गति, स्थिति आदि एवं गणित जातक, होरा आदि का सम्यक बोध हो उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। विद्वानों का मत है कि भिन्न भिन्न शास्त्रों के समान यह शास्त्र भी मनुष्यजाति की प्रथमावस्था में अङ्कुरित हो ज्ञानोन्नति के साथ साथ क्रमशः संशोधित तथा परिवर्धित होकर वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुआ है। सूर्य चन्द्रादि अन्यान्य ग्रहों का स्वभाव ऐसा अद्भुत एवं अलौकिक है कि उनकी ओर प्राणिमात्र का मन आकर्षित हो जाता है। प्राचीन समय से ही इसकी ओर सभी जातियों का ध्यान विशेषतः आकृष्ट हुआ था और अपनी २ बुद्धि के अनुसार सभी लोगों को इस लोकोपयोगी शास्त्र का यत्किञ्चित् ज्ञान भी अवश्य था। इसी लिये चीन, ग्रीक, मिश्र आदि सभी जातियां अपने को ज्योतिषशास्त्र का प्रवर्त्तक मानती हैं।

भारतीय प्राचीन विद्वानों ने ज्योतिष शास्त्र को सामान्यतः दो विभागों में विभक्त किया है। एक फलित और दूसरा सिद्धांत अथवा गणित। फलित के द्वारा ग्रह नक्षत्रादि की गति या सञ्चारादि देख कर प्राणियों की भावी दशा (अवस्था) और कल्याण तथा अकल्याण का निर्णय किया जाता है। दूसरे सिद्धान्त अथवा गणित के द्वारा स्पष्ट गणना कर के ग्रह नक्षत्रादि की गति, एवं संस्थानादि के नियम, उनका स्वभाव और तज्जन्य फलाफलों का स्पष्टीकरण किया जाता है। आंग्लेय विद्वान् फलित ज्योतिष को Astrology और गणित ज्योतिष को Astronomy कहते हैं। पर यहां एक बात मैं कह देता हूं, गणितज्ञ फलितज्ञों को सदा उपेक्षा दृष्टि से देखते आये हैं। इस धारणा की पुष्टि में भारतीय गणकशिरोमणि ठाकुर गणेशी जी का कथन है कि जन्मकालीन ग्रहनक्षत्रादि की स्थिति देख कर अमुक समय में हमें सुख और अमुक समय में दुःख होगा इसको जानना न कोई कष्टसाध्य बात है और न उसमें कोई विशेष लाभ ही है। खैर, यह एक विवादास्पद विषय है, अतः यहां मैं इस विषय में विशेष उलझना नहीं चाहता हूं।

अब सामुद्रिक शास्त्र को लीजिये। सामुद्रिक भी फलित ज्योतिष का एक खास विभाग है। इस शास्त्र के द्वारा हस्त, पाद, और ललाट की रेखा एवं भिन्न २ शरीरस्थ चिह्न देख कर मनुष्य का भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी शुभाशुभ फल जाना

जाता है। इस विद्या को अंग्रेजी में Palmispy अथवा Chiromancy कहते हैं। मुख्यतया हस्ताङ्कित रेखादि देख कर ही इस शास्त्र के द्वारा शुभाशुभ फलों का निर्देश किया जाता है। विद्वानों ने सामुद्रिक शास्त्र को अधिक महत्व क्यों दिया है, इसका खुलासा नीचे किया जाता है।

यद्यपि शरीर के प्रत्येक अङ्ग में शुभाशुभबोधक चिह्न विद्यमान हैं। किन्तु वे चिह्न विशेष रूप से स्पष्ट हथेली में ही पाये जाते हैं। स्वभावतः हस्त को विशेष महत्व देने का हेतु एक और भी है। हमारे सभी काम हाथ से ही होते हैं। मंगल और अमङ्गल कार्यों का करनेवाला यही है। अतः इसी हाथ पर शुभाशुभ चिह्नों का चित्रण करना उपयुक्त ही है। इसके साथ २ एक और भी बात है, अगर मनुष्य में इस विद्या का ज्ञान और अनुभव हो वह अपना हाथ स्वयं अन्य अंगों की अपेक्षा आसानी से देख सकता है। यह कार्य अन्य किसी अङ्ग से सुलभ नहीं हो सकता। इसी से हस्त को रेखा परिज्ञान के लिये विशेष स्थान प्राप्त है। विद्वानों का मत है कि इसके आविष्कारक होने का सौभाग्य भारत को ही प्राप्त है। यहीं से चीन और ग्रीक में इस विद्या का प्रचार हुआ। पश्चात् ग्रीक से यूरप के अन्यान्य भागों में यह विद्या फैली। ऐतिहासिक विद्वानों का यह भी अनुमान है कि ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व चीन में एवं २००० वर्ष पूर्व ग्रीक में इसका प्रचार हुआ। अतः निभ्रान्तरूप से यह जाना जा सकता है कि भारत में इसके पहले से ही इसका प्रचार रहा होगा। हाथ में जितनी ही कम रेखायें होंगी और हाथ साफ रहेगा वह पुरुष उतना ही अधिक भाग्यशाली समझा जाता है। हथेली के प्रधानतः सात रेखाओं पर ही विचार होता है। (१) पितृरेखा (२) मातृरेखा (३) आयूरेखा (४) भाग्यरेखा (५) चन्द्ररेखा (६) स्वास्थ्यरेखा और (७) धनरेखा। इनमें आदि के चार प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त सन्तान, शत्रु, मित्र, धर्म, अधर्म आदि और भी कई रेखायें होती हैं। अस्तु इस विषय को यहां अधिक बढ़ाना अप्रासंगिक होगा।

अब मुझे यहां पर यह विचार करना है कि ग्रहों के शुभाशुभ फलकथन के सम्बन्ध में लोगों की क्या धारणा है। वैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य अपने अपने कर्मानुसार ही समय समय पर सुखी या दुःखी हुआ करते हैं। उनके उस सुख-दुःख में सूर्य चन्द्रादि खगोल के ग्रह कारण नहीं हैं। हां, ग्रहों की स्थिति के अनुसार प्राणियों के भावी कल्याण या अकल्याण का अनुमान किया जा सकता है। ग्रहों के अनुसार भविष्य में विपत्ति की सम्भावना होने पर उसको दूर करने के लिये शान्ति का अनुष्ठान करने से प्राणियों को फिर उस विपत्ति का ग्रास नहीं होना पड़ता आदि।

अस्तु, वैज्ञानिकों का ग्रहफलसम्बन्धी यह मन्तव्य जैनधर्म के ग्रहफलसम्बन्धी मन्तव्यों

से सर्वथा मिलता है। विद्वानों का कथन है कि जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। अतः उल्लिखित मन्तव्य की एकता मुझे तो नितान्त ही उचित जंचती है। किसी किसी ज्योतिषी का यह भी मत है कि अन्यान्य कारणों के समान ग्रहों का अवस्थान भी मानव के सुख-दुःख में अन्यतम कारण है। जो कुछ हो; ग्रहों की स्थिति से भी मनुष्यों को शुभाशुभ फलों की प्राप्ति होती है इसमें तो सभी सहमत होंगे।

२—दिगम्बर जैन साहित्य में ज्योतिषशास्त्र का स्थान।

प्रथमानुयोगादि अनुयोगों में ज्योतिषशास्त्र को उच्च स्थान प्राप्त है। गर्भाधानादि अन्यान्य संस्कार एवं प्रतिष्ठा, गृहारंभ, गृहप्रवेश आदि सभी मांगलिक कार्यों के लिये शुभ मुहूर्त का ही आश्रय लेना आवश्यक बतलाया है। तीर्थङ्करों के पाँचों कल्याण एवं भिन्न भिन्न महापुरुषों के जन्मादि शुभमुहूर्त में ही प्रतिपादित है। जैन वैद्यक तथा मंत्रशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में भी मंगल मुहूर्त में ही औषध सम्पन्न एवं ग्रहण और शान्ति, पुष्टि, उच्चाटन आदि कर्मों का विधान है। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी प्रतिष्ठापाठ आराधनादि ग्रन्थों में भी इस शास्त्र का अधिक आदर दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तक नहीं आचार्यकादि जो फुटकर स्तोत्र हैं उनमें भी ज्योतिष की जिक्र है। बल्कि नवग्रहपूजा अन्यान्य आराधना आदि ग्रन्थों ने ग्रहशान्त्यर्थ ही जन्म लिया है। मुद्राराक्षसादि प्राचीन हिंदू एवं बौद्ध ग्रंथों से भी जैनी ज्योतिष के विशेष विज्ञ थे यह बात सिद्ध होती है। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुवेनच्यांग के यात्राविवरण से भी जैनियों की ज्योतिषशास्त्र की विशेषज्ञता प्रकटित होती है। उल्लिखित प्रमाणों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि जैन साहित्य में ज्योतिष-शास्त्र कुछ कम महत्त्व का नहीं समझा जाता था।

३—दिगम्बर जैन ज्योतिष ग्रन्थ।

आयज्ञान तिलक आदि दो एक ग्रन्थ को छोड़ कर आज तक के उपलब्ध दिगम्बर जैन ज्योतिष ग्रन्थों में मौलिक ग्रन्थ नहीं के बराबर हैं। हां, संख्यापूर्त्ति के लिये जिनेन्द्रमाला, केवलज्ञानहोरा, अर्हन्तपासाकेवली, चन्द्रोन्मीलन प्रश्न आदि कतिपय छोटी मोटी कृतियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। परन्तु इन उल्लिखित रचनाओं से न जैन ज्योतिष ग्रन्थों की कमी की पूर्त्ति ही हो सकती है और न जैन साहित्य का महत्त्व एवं गौरव ही व्यक्त हो सकता है। यही बात जैन वैद्यक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सचमुच दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य अलङ्कारादि विषयों से परिपूर्ण जैन साहित्य के लिये यह त्रुटि

विशेष खटकती है। हां, प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य की अपेक्षा जैन कन्नड़ साहित्य ने इस विषय में कुछ आगे पैर बढ़ाया है अवश्य। फिर भी वह सन्तोषप्रद नहीं है, क्योंकि तद्विषयक वे ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों की छायामात्र हैं। अर्थात् वहां भी मौलिकता की झलक नहीं है। इस त्रुटि का कारण मुझे तो और ही प्रतीत होता है। जैन साहित्य में मौलिक ग्रन्थों के लेखक ऋषि महर्षि ही हुए हैं। साथ ही साथ जैन धर्म निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादक सर्वोच्च लक्ष्य को लिया हुआ एक उत्कृष्ट धर्म है। इसी से ज्ञात होता है कि विषय-विरक्त एवं आध्यात्मिक रसिक उन ऋषि महर्षियों का ध्यान इन लौकिक ग्रन्थों की ओर नहीं गया। या उन्होंने सोचा होगा कि हिन्दू वैद्यक तथा ज्योतिष ग्रन्थों से भी जिज्ञासु जैनियों का कार्य चल सकता है। क्योंकि धर्मविरुद्ध कुछ बातों को छोड़ कर हिन्दू एवं जैन वैद्यक तथा ज्योतिष ग्रन्थों में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। कन्नड़ साहित्य के लेखक अधिक संख्या में गृहस्थ ही थे। अतः उनकी रुचि उस ओर अधिक आकृष्ट होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। अस्तु फिर भी खोज करने पर इस विषय के मौलिक ग्रन्थ अवश्य ही उपलब्ध हो सकते हैं। अतः साहित्यप्रेमियों को इस कार्य की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। खास कर कर्णाटक प्रांत के ग्रामों में खोज करने से इस सम्बन्ध में विशेष सफलता मिल सकती है।

४—प्रस्तुत ग्रन्थ जैन हैं ?

यह एक जटिल प्रश्न है। क्योंकि मंगलाचरण के अतिरिक्त इन दोनों (सामुद्रिक-शास्त्र तथा ज्ञानप्रदीपिका) ग्रन्थों में जैनत्व को व्यक्त करने वाली कोई खास बात नजर नहीं आती है। बल्कि जिसका मूल पाठ इस मुद्रित ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया गया है उस ज्ञानप्रदीपिका को तेलगु अक्षर में मुद्रित मैसोर की प्रति में हिन्दुत्वद्योतक ही मंगलाचरण मिलता है। हां, इन ग्रन्थों के अनुवादक सुयोग्य विद्वान ज्योतिषाचार्य पं० रामव्यास जी प्रस्तुत ग्रन्थद्वय में अन्यतम सामुद्रिक शास्त्र के कर्ता—सम्बन्धी मेरे प्रश्नों के उत्तर में ता० २५-६-२६ के अपने पत्र में इस प्रकार लिखते हैं—"आप का पत्र मिला। उत्तर में विदित हो कि पुराणों के सामुद्रिक और इस में भेद है। फल दोनों से एक ही आता है; किन्तु इसकी उक्ति बढ़िया है। चाहे बात कहीं की हो लेकिन यह पुस्तक जैन-सिद्धान्तशनिमित ही कही जायगी।"

ज्ञानप्रदीपिका के सम्बन्ध में भी इन्हीं ज्योतिषाचार्यजी ने इस विशेष वक्तव्य के पहली दी हुई अपनी प्रस्तावना में निम्न प्रकार से लिखा है :—

"इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर की विशेषताओं के देखने से जान पड़ता है कि इस शास्त्र का विकास भी अन्य शास्त्रों की तरह जैनों में स्वतन्त्र और विलक्षणरूप में हुआ है।"

ज्ञानप्रदीपिका के सम्बन्ध में पण्डित जी के प्रतिपादित उक्त विचारों के अतिरिक्त "जैन मित्र" वर्ष २४ अङ्क १२ में प्रकाशित 'केरल प्रश्नशास्त्र" शीर्षक लेख का कुछ अंश भी अन्वेषक विद्वानों के लाभार्थ निम्नाङ्कित किया जाता है :—

इस लेख में लेखक ने सम्वत् १६३१ में काशी से मुद्रित "केरल प्रश्नशास्त्र" नामक एक पुस्तक के कुछ वाक्यों को उद्धृत कर लिखा है कि ये वाक्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थ-सूत्र के हैं; अतः यह ग्रन्थ किसी जैनाचार्य का ही प्रणीत होना चाहिये। बल्कि अपनी इस धारणा को पुष्ट करने के लिये लेखक लिखते हैं कि इसी नाम का (केरल प्रश्नशास्त्र) एक और पुस्तक सम्वत् १६८० में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता पं० नन्दराम हैं। पण्डित जी ने अपनी कृति के आरंभ में लिखा है कि "यद्यपि मिथ्या पण्डिताभिमानी श्वेताम्बरों के द्वारा एतद्विषयक बहुत से प्रबन्ध रचे गये हैं, परन्तु छन्द व्याकरणादि दोषों से दूषित वे प्रबन्ध अग्राह्य हैं। इसी लिये संक्षिप्त रूप में मैं इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ।" यहाँ पण्डित जी आगे फिर लिखते हैं कि "श्वेतवस्त्रधारी एवं बद्धास्य (मुंहढके हुए) ऐसे नास्तिक, कृतघ्न, अन्ध, बधिर, वन्ध्या, विकलांग एवं कुष्ठादि रोगग्रस्त आदि व्यक्तियों को छोड़ कर ही अन्यान्य लोगों से पण्डित प्रश्न कहे।" बल्कि इन्होंने एक जगह यह भी लिखा है कि "श्वेताम्बर जैनों ने जो चन्द्रोन्मीलन नामक ग्रन्थ रचा है वह छन्द व्याकरणादि से दूषित है, अतः यह विद्वन्मान्य नहीं हो सकता है"

इस ग्रन्थ की समाप्ति इन्होंने १८२५ आश्विन शुक्ल सप्तमी को की है। जैन मित्र के लेखक अन्त में लिखते हैं कि उपर्युक्त कथन से इस "केरल प्रश्न शास्त्र" के मूल लेखक श्वेताम्बर स्थानकवासी ही स्पष्ट सिद्ध होते हैं।

मैंने इस बात का उल्लेख यहाँ पर इसलिये कर दिया है कि इस ज्ञानप्रदीपिकाको मैसोर की प्रति के प्रारम्भिक पृष्ठ में 'ज्ञानप्रदीपिका' इस नाम के नीचे कोष्ठक में "केरलप्रश्नग्रन्थ" स्पष्ट मुद्रित है। परन्तु ज्ञानप्रदीपिका और जैनमित्र के उक्त लेखक के द्वारा प्रतिपादित केरल प्रश्न-शास्त्र ये दोनों एक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इस मुद्रित भवन की 'ज्ञान-प्रदीपिका' में कहीं भी तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्र या उनके भाग नहीं पाये जाते। हाँ, इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जैन विद्वानों ने केरल प्रश्नशास्त्र के नाम से भी एतद्विषयक ग्रन्थ रचा है। उल्लिखित कथन से यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय अन्यान्य ज्योतिर्विदों के द्वारा केरल प्रश्न शास्त्र के नाम से कई ग्रन्थ रचे गये हैं। उक्त लेख से यह भी मालूम होता है कि ज्ञानप्रदीपिका और चन्द्रोन्मीलन इन दोनों के कर्त्ता श्वेताम्बर जैन हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता तब तक इसे श्वेताम्बर कृत निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दिगम्बर विद्वान् इसे दिगम्बर रचित ही मानते हैं।

खैर, श्वेताम्बर हो या दिगम्बर जैन साहित्य हो, इसे जैनीमात्र को अपनाना चाहिये। परंतु यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि मुद्रित वे ग्रन्थ अगर जैन हैं तो मंगलाचरण का परिवर्तन कैसे? मंगलाचरण एवं अन्तरंग कलेवर को कुछ उलट-पुलट कर जैनेतर विद्वानों के द्वारा प्रकाशित त्रिविक्रमदेवकृत प्राकृतव्याकरणादि कुछ जैनग्रन्थ हमलोगों के सामने उपस्थित हैं, अतः संभव है कि उन्हीं की तरह इसमें भी कुछ उलट पलट कर दी गयी हो। राय बहादुर हीरालाल एम० ए० ने भी स्वसम्पादित "Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the central province and Berar" नामक विस्तृत ग्रन्थसूची में इस ज्ञानप्रदीपिका को जैन ग्रन्थों में ही शामिल किया है।

अब इस सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थों के अन्दर भी स्थूलदृष्टि से एकबार नजर दौड़ाना आवश्यक प्रतीत होता है।

"निर्दिष्टं लक्षणं चैव मामुद्रवचनं यथा"। (ज्ञा० प्र० पृ० १ श्लोक ३)
"शालवर्णानि निर्दिष्टं नारदस्य वचो यथा"। („ „ „ ४ „ २१)
"पुरुषत्रितयं हत्वा चतुर्थे जायते सुखम्"। („ „ „ १८ „ २७)

इसी प्रकार—"आदित्यारौ पुनर्भूः स्यात्प्रश्ने वैवाहिके वधूः"।

(ज्ञा० प्र० पृ० ५६ श्लोक १७ आदि)

मैं समझता हूँ कि उक्त श्लोकान्तर्गत कुछ सिद्धान्तों से कतिपय जैन विद्वान प्रस्तुत ग्रन्थों को जैनाचार्यों के द्वारा प्रणीत मानने को प्रायः तैयार नहीं होंगे। किन्तु इसीके उत्तर में अन्यान्य कई जैन विद्वानों का यही कहना है कि ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, नीति आदि विषय लौकिक एवं सार्वजनिक हैं। अतः तद्विषयक वे ग्रन्थसर्वशा जैन दर्शन के अनुकूल ही नहीं हो सकते अर्थात् कुछ बातें प्रतिकूल भी हो सकती हैं। इस बातको पुष्ट करने के लिये वे विद्वान भद्रबाहुसंहिता अर्हन्नीति आदि ग्रन्थों को उपस्थित करते हैं। उन्हीं विद्वानों का यह भी कहना है कि एतद्विषयक इन लौकिक ग्रन्थों में भिन्न भिन्न ग्रहों के योग से सुरापान-कर्त्री, वेश्या, भ्रष्टा, व्यभिचारिणी, परपुरुषगामिनी आदि होती हैं, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि सार्वजनिक लौकिक ग्रन्थों में ये सब बातें उपलब्ध होना स्वाभाविक है। खैर, मतविभिन्नता सदा से चली आ रही है और चलती ही रहेगी। इस विषय में मुझे नहीं पड़ना है।

अब अन्वेषक विद्वानों से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे द्वारा उपस्थित की हुई प्रस्तुत ये सामग्रियाँ उक्त ग्रन्थ जैनाचार्य-प्रणीत निर्भ्रान्त सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं, अतः वे इस सम्बन्ध में विशेष खोज करके सबल प्रमाणों का विद्वानों के सामने उपस्थित कर इस विषय को हल कर दें।

५—मूल ग्रन्थ तथा अनुवाद

"श्रीजैन सिद्धान्त भवन" के सुयोग्य मंत्री एवं साहित्यसेवी जिनवाणीभक्त स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी के आदर्श सुपुत्र श्रीमान बाबू निर्मल कुमार जी के द्वारा अपने पूज्य पिता जी के स्मारक रूप में संचालित "श्रीदेवकुमार-ग्रन्थ-माला" में कतिपय मौलिक एवं लुप्तप्राय जैन वैद्यक तथा ज्योतिष ग्रन्थों का उद्धार करने की आप की उत्कट अभिलाषा चिरकाल से सञ्चित थी। किन्तु तत्सम्बन्धी कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होने से अपनी उस प्रबल शुभेच्छा को उन्हें कुछ समय तक दबा रखना पड़ा। विशेष अन्वेषण करने पर भी जब कोई महत्त्वपूर्ण उद्दिष्ट ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ। तब उन्होंने कहा कि इस समय भवन में रक्षित सामुद्रिक ज्ञानप्रदीपिका और चन्द्रोन्मीलन प्रश्न सम्मिलित इन्हीं ग्रन्थों को सानुवाद समाज के सामने समुपस्थित करना श्रेयस्कर होगा। बस, इसी निर्णयानुसार इन ग्रंथों के अनुवाद तथा संपादन का भार इस विषय के विशेषज्ञ एवं सुयोग्य विद्वान् ज्योतिषाचार्य पंडित रामव्यासजी पाण्डेय अध्यापक हिंदू विश्वविद्यालय बनारस को सौंपा गया। अवकाशाभाव के हेतु उक्त वे ग्रंथ दीर्घकाल तक उन्हीं के पास पड़े रहे। अंततोगत्वा 'चन्द्रोन्मीलन' को छोड़कर शेष दो ग्रंथ सानुवाद उनसे प्राप्त हो गये जो आप सबों के सम्मुख उपस्थित हैं। ज्योतिषाचार्य जी के कथनानुसार उक्त ग्रंथ उनमें विशेष अशुद्ध थे अवश्य, फिर भी मैं यही कहूँगा कि पण्डित जी इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक ध्यानदान करते तो ये ग्रंथ कुछ और ही आकार में आप सबों के सामने उपस्थित किये जाते। खेद की बात है कि मूल एवम् अनुवाद में बहुत सी त्रुटियां रह गयी हैं।

अस्तु, जिस समय इन ग्रन्थों को प्रकाशित करने का विचार पक्का हुआ तभी से इनकी अन्यान्य प्रतियों की खोज ढूंढ़ करने का क्रम जारी रहा। परन्तु अनेक ग्रन्थ भाण्डरों की सूचियाँ टटोलने पर भी इस सामुद्रिक शास्त्र का पता कहीं भी नहीं लगा। हाँ, सौभाग्य से कारंजा एवं मैसार राजकीय पुस्तकालय की ग्रन्थनामावली में ज्ञानप्रदीपिका का नाम दृष्टिगत हुआ। इसके बाद ही कारंजा के ग्रन्थभाण्डार के प्रबन्धक को दो पत्र दिये गये। पर खेद की बात है कि ग्रन्थ भेजना तो दूर रहा पत्रोत्तर तक नदारद। मैसार से भी पहले कोई सन्तोषजनक पत्रोत्तर नहीं मिला। किन्तु भवनस्थित इसी अशुद्ध प्रति को ज्यों त्यों कर छप जाने के उपरान्त श्रीमान् श्रद्धेय न्यायतीर्थ प० शान्तिराज शास्त्रीजी की कृपा से केवल दो सप्ताह के लिये मैसार की प्रति प्राप्त हो सकी। वह प्रति मुद्रित थी। इसी का मूल पाठ फिर पीछे छपाकर प्रारंभ में जोड़ दिया गया। भवन की प्रति से यह प्रति कुछ विशेष शुद्ध है। किन्तु जहाँ पर मैसार की प्रति में भी सन्देह जान पड़ा

बहाँ पर सन्दिग्ध पाठ को छोड़ कर भवन की प्रतिका या स्वतन्त्र शुद्ध पाठ रखने की ही चेष्टा की गयी है। इसी से मूल पाठ और अनुवाद में सर्वत्र एकीकरण होना असंभव है।

अस्तु मैं अब विज्ञ पाठकों का विशेष समय नहीं लेना चाहता हूँ। आगे इस ग्रन्थ-माला में श्रीमान् बाबू निर्मल कुमार जी की शुभभावनानुकूल ही "वैद्यसार" "अकलङ्क संहिता" (वैद्यक) "आयज्ञान-तिलक" (ज्योतिष) ये अपूर्व मौलिक जैन ग्रन्थ क्रमशः प्रकाशित होंगे। वैद्यसार का अनुवाद जारी है। इसके अनुवादक आयुर्वेदाचार्य पण्डित सत्यन्धर जी जैन काव्यतीर्थ कुपारा हैं। आप का कहना है कि यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इसमें करीब डेढ सौ प्रयोग प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर पूज्यपाद जी के हैं। इसका कुछ विशेष परिचय मुरादाबाद से प्रकाशित होने वाले सर्वमान्य पत्र "वैद्य" में शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

पूर्व निश्चयानुसार "चन्द्रोन्मीलन प्रश्न" ज्योतिष ग्रन्थ को भी प्रकाशित करने का विचार पहले था। परन्तु इसकी शुद्ध प्रति के अभाव में इस विचार को अभी स्थगित करना पड़ा।

अन्त में विज्ञ पाठकों से मेरा यही नम्र निवेदन है कि इस साहित्यसेवा कार्य में समुचित सहायता प्रदान कर इस ग्रन्थमाला के सञ्चालक श्रीमान निर्मल कुमारजी का उत्साह बढ़ायेंगे कि जिससे समय समय पर भवन से उत्तमोत्तम ग्रन्थ रत्न प्रकाशित होता रहे।

* ॐ *

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भवन—फाल्गुन कृष्णा पञ्चमी रविवार
वि० सं० १९९० वीर सं० २४६०

साहित्य सेवक—
के० भुजबली शास्त्री
पुस्तकालयाध्यक्ष।

श्रीवीतरागाय नमः

ज्ञान-प्रदीपिका

(केवलप्रश्नग्रन्थः)

अथ उपोद्घातकाण्डः

श्रीमद्वीरजिनाधीशं सर्वज्ञं त्रिजगद्गुरुम् ।
प्रातिहार्याष्टकोपेतं प्रणम्य प्रणमाम्यहम् ॥१॥
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मीयां भारतीमार्हतीं सतीम् ।
अतिपूतामद्वितीयामहर्निशमभिष्टुवे ॥२॥
ज्ञानप्रदीपकं नाम शास्त्रं लोकोपकारकम् ।
प्रश्नादर्शं प्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रानुसारतः ॥३॥
भूतं भव्यं वर्त्तमानं शुभाशुभनिरीक्षणम् ।
पञ्चप्रकारमार्गञ्च चतुष्केन्द्रबलाबलम् ॥४॥
आरूढं छत्रवर्गञ्चाभ्युदयादिबलाबलम् ।
क्षेत्रं दृष्टिं नरं नारीं युग्मरूपं च वर्णकम् ॥ ५ ॥
मृगादिनररूपाणि किरणान्योजनानि च ।
आयूरसादयाद्यं च परीक्ष्य कथयेद्बुधः ॥ ६ ॥
चरस्थिरोभयान् राशीन तत्प्रवेशस्थलानि च ।
निशादिवससन्ध्याश्च कालदेशस्वभावकान ॥ ७ ॥
धातुं मूलं च जीवं च नष्टं मुष्टिञ्च चिन्तनम् ।
लाभालाभौ गदं मृत्युं भुक्तं स्वप्नञ्च शाकुनम् ॥ ८ ॥
वैवाहिकविचारं च कामचिंतनमेव च ।
जातकर्मायुधं शल्यं कूपं सेनागमं तथा ॥ ९ ॥
सरिदागमनं वृष्टिमर्घ्यनौसिद्धिमादितः ।
क्रमेण कथयिष्यामि शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥ १० ॥

इति उपोद्घातकाण्डः

———*——

अथ आरूढच्छत्रः

अथ वक्ष्ये विशेषेण ग्रहाणां मित्रनिर्णयम् ।
भौमस्य मित्रे शुक्रज्ञौ भृगोर्ज्ञार्किमन्त्रिणः ॥ १ ॥
अंगारकं विना सर्वे ग्रहमित्राणि मंत्रिणः ।
आदित्यस्य गुरुर्मित्रं शनेर्विद्गुरुभार्गवाः ॥ २ ॥
भास्करेण विना सर्वे बुधस्य सुहृदस्तथा ।
चंद्रस्य मित्रं जीवज्ञौ मित्रवर्ग उदाहृतः ॥ ३ ॥
सिंहस्याधिपतिः सूर्यः कर्कटस्य निशाकरः ।
मेषवृश्चिकयोर्भौमस्तुलावृषभयोस्सितः ॥ ४ ॥
धनुर्मीनयोर्मन्त्री तुलावृषभयोर्भृगुः ।
शनेर्मकरकुम्भौ च राशीनामधिपास्स्मृताः ॥ ५ ॥
धनुर्मिथुनपाठीनकन्यानामां शनिः सुहृत् ।
रविश्चापान्त्ययोरारः तुलायुग्मोक्षयोर्सिताम् ॥ ६ ॥
कन्यामिथुनयोस्सौम्यश्शनिर्मकरकुम्भयोः ॥
धीषणो मीनधनुषोस्सिंहस्य दिनकृत्पतिः ॥७॥
कुलीरस्य निशानाथः क्षेत्राधिपतयः क्रमात् ।
कोदण्डमीनमिथुनकन्यकानां शशी सुहृत् ॥८॥
बुधस्य चापनक्रालिकर्क्यजोक्षतुलाधराः ।
क्रियामिथुनकोदण्डकुम्भालिमकरा भृगोः ॥९॥
गुरोः कन्यातुलाकुंभमिथुनोक्षमृगेश्वराः ।
राशिमैत्रं ग्रहाणाञ्च मैत्रमेवमुदाहृतम् ॥१०॥
सूर्येन्द्वोः परिवेषोवा धूमस्तशनिभोगिनाम् ।
शक्रचापकुजेशानां शुक्रस्योच्चास्त्वजादयः ॥११॥
अन्त्युच्चं दशमं वह्निर्मनुयुक् च तिथीन्द्रियैः ।
सप्तविंशतिकं विंशद्भागाः सप्तग्रहाः क्रमात् ॥१२॥
बुधस्य वैरी दिनकृत् चन्द्रादित्यौ भृगोररी ।
भौमस्य रिपवोभानोर्विना जीवं परेऽरयः ॥१३॥
गुरुसौम्यौ विना चेन्दो रवीन्दुवनिजा ग्रहाः ।
बृहस्पते रिपुर्भौमः सितचंद्रात्मजौ बिना ॥१४॥
शनेश्च रिपवः सर्वे तेषां तत्तद्ग्रहाणि च

रवेर्मेषादिवराशिस्त्विन्दोः कुलीरोऽङ्गारकस्य च ॥१५॥
ज्ञस्य मीनस्त्वजः सौरेः कन्या शुक्रस्य कथ्यते ।
सुराचार्यस्य मकरस्त्वेतेषां नीचराशयः ॥१६॥
राहोर्वृश्चियुग्मं चेन्द्रधनुष्केण मृगेश्वराः ।
परिवेषस्य कोदण्डः कुंभो धूमस्य नीचभूः ॥१७॥
मित्रन्तुलानक्रकन्यायुग्मचापझषास्त्वहेः ।
कुम्भश्चेत्रमहेः शत्रुः कुलीरो मृगराट्क्रियौ ॥१८॥
उदयादिचतुष्कन्तु जलकेन्द्रमुदाहृतम् ।
तच्चतुर्थं त्वास्तमयं तत्तुर्यं वियदुच्यते ॥१९॥
तत्तुर्यमुदयश्चैव चतुष्केन्द्रमुदाहृतम् ।
चिन्तनेयं तु दशमे हिबुके स्वप्नचिंतनम् ॥२०॥
छत्रे मुष्टि चयं नष्टमन्ये चारूढतोऽपि वा ।
चापोक्षकर्किनक्रा ये ते पृष्ठोदयराशयः ॥ २१ ॥
तिर्यग्दिनबलाः शेषा राशयो मस्तकोदयाः ।
अर्काङ्गारकमन्दास्तु सन्ति पृष्ठोदयोदयाः ॥२२॥
उद्यतस्तीर्यगेवेन्दुकेतू तत्र प्रकीर्तितौ ।
उदये बलिनौ जीवबुधौ तु पुरुषौ स्मृतौ ॥२३॥
अन्ते चतुष्पदौ भानुभूमिजौ बलिनौ ततः ।
चतुर्थे शुक्रशशिनौ जलराशौ बलोत्तरौ ॥२४॥
अर्क्यहौ बलिनौ चास्ते कीटकाश्च भवन्ति हि ।
युग्मकन्याधनुःकुंभतुला मानुषराशयः ॥२५॥
द्वन्द्वोदयौ मीनमृगौ अन्ये सर्वे स्वभावतः ।
चतुष्पादा मेषवृषौ सिंहचापौ भवन्ति हि ॥२६॥
कुलीरालौ बहुपादौ प्रक्षीणौ मृगमीनभौ ।
द्विपादाः कुम्भमिथुनतुलाकन्या भवन्ति हि ॥२७॥
द्विपादा जीवबिच्छुक्राः शन्यकाराश्चतुष्पदाः ।
शशिसर्पौ बहुपादौ शनिसौम्यौ च पक्षिणौ ॥२८॥
शशिसर्पौ जानुगती पद्भ्यां यान्तीतरे ग्रहाः ।
उदीयन्तेऽजवीथ्यान्तु चत्वारो वृषभादयः ॥२९॥
युग्मवीथ्यामुदीयन्ते चत्वारो वृश्चिकादयः ।

उदग्वीथ्यामुदीयन्ते मीनमेषतुलाः स्त्रियः ॥३०॥
राशिचक्रं समालिख्य प्रागादिवृषभादिकम् ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव द्वादशारूढसंज्ञकम् ॥३१॥
वृषश्चैव वृश्चिकस्य मिथुनस्य शरासनम् ।
मकरस्तु कुलीरस्य सिंहस्य घट उच्यते ॥३२॥
मीनस्तु कन्यकायाश्च तुलाया मेष उच्यते ।
प्रतिसूत्रवशादेते परस्परनिरीक्षकाः ॥३३॥
गगनं भास्करः प्रोक्तो भूमिश्चन्द्र उदाहृतः ।
पुमान् भानुर्वधूश्चन्द्रः स्वचक्रप्रागावन्तविः (?) ॥३४॥
भूचक्रदेहश्चन्द्रः स्यादिति शास्त्रस्य निर्णयः ।
रवेः शुक्रः कुजस्यार्कः गुरोरिन्दुरहेर्बुधः ॥३५॥
ध्वजादियुक्तमेणैव तत्तत्कालं विनिर्दिशेत् ।

इत्यारूढकृत्याः

अथ धातुचिन्ता

प्रष्टुरारूढभं ज्ञात्वा तद्दिशामवलोक्य च ।
आरूढाद्यावती विधिस्तावती वृषयादिका ॥१॥
तद्राशिच्छत्रमित्युक्तं शास्त्र ज्ञान-प्रदीपके ।
आरूढाद्यानुगां वीथीं परिगण्योदयादितः ॥२॥
तावता राशिना छत्रमिति केचित् प्रचक्षते ।
मेषस्य वृषभं छत्रं मेषच्छत्रं वृषस्य च ॥३॥
युग्मकर्कटसिंहानां मेषच्छत्रमुदाहृतम् ।
कन्याया वृषभं छत्रं तुलाया वृषभस्तथा ॥४॥
वृश्चिकस्य युगच्छत्रं धनुषो मिथुनं तथा ।
नक्रस्य मिथुनच्छत्रं युगः कुम्भस्य कीर्तितः ॥५॥
मीनस्य वृषभच्छत्रं छत्रमेवमुदाहृतम् ।
उदयात्सप्तमे पूर्णमर्धं पञ्चत्रिकोणके ॥६॥
चतुरस्त्रे त्रिपादं च दशमे पाद एव च ।
एकादशे तृतीये च पदार्धं वीक्षणं भवेत् ॥७॥
रवीन्दुसितसौम्यास्तु बलिनः पूर्णवीक्षणे ।

अर्धेक्षणो सुराचार्यस्त्रिपात्पादार्धयोः कुजः ॥८॥
पादेक्षणो बली सौरिः वीक्षणात्कुलमीरितम् ।
तिर्यक् पश्यन्ति तिर्यञ्चो मनुष्याः समदृष्टयः ॥९॥
ऊर्ध्वेक्षणः पतत्रयः अधोनेत्राः सरीसृपाः ।
अन्यान्यालोकितौ जीवचन्द्रौ ऊर्ध्वेक्षणो रविः ॥१०॥
पश्यत्यरः कटाक्षेण पश्यतोऽधः कवीन्दुजौ ।
एकदृष्ट्याहिमंदौ च ग्रहाणामवलोकनम् ॥११॥
मेषः प्राच्यां धनुःसिंहावग्नावुक्षश्च दक्षिणे ।
मृगकन्ये च नैर्ऋत्यां मिथुनः पश्चिमे तथा ॥१२॥
वायुभागे तुलाकुम्भौ उदीच्यां कर्क उच्यते ।
ईशभागेऽलिमीनौ च क्रमाद्दष्टादिसूचकाः ॥१३॥
अर्कशुक्रारराह्वर्किचन्द्रज्ञगुरवः क्रमात् ।
पूर्वादीनां दिशामीशाः क्रमान्नष्टादिसूचकाः ॥१४॥
मेषयुग्मधनुःकुम्भतुलासिंहाश्च पूरुषाः ।
राशयोऽन्ये स्त्रियः प्रोक्ता ग्रहाणां भेद उच्यते ॥१५॥
पुमांसोऽर्कारगुरवः शुक्रेन्दुभुजगास्त्रियः ।
मन्दज्ञकेतवः क्लीबा ग्रहभेदाः प्रकीर्तिताः ॥१६॥
तुलाकोदण्डमिथुना घटयुग्मं नराः स्मृताः ।
एकाकिनौ मेषसिंहौ वृषकर्क्यालिकन्यकाः ॥१७॥
एकाकिन्यः स्त्रियः प्रोक्ताः स्त्रीयुग्मं मकरान्तिमौ ।
एकाकिनोऽर्केन्दुकुजाः शुक्रज्ञार्काहिमन्त्रिणः ॥१८॥
एते युग्मग्रहाः प्रोक्ताः शास्त्रे ज्ञान-प्रदीपके ।
विप्राः कर्क्यालिमीनाश्च धनुःसिंहक्रिया नृपाः ॥१९॥
तुलायुग्मघटा वैश्याः शूद्रा नक्रोक्षकन्यकाः ।
नृपौ अर्ककुजौ विप्रौ बृहस्पतिनिशाकरौ ॥२०॥
बुधो वैश्यो भृगुः शूद्रो नीचावर्क्यभुजंगमौ ।
रक्ताः मेषधनुःसिंहाः कुलीरोक्षतुलाः सिताः ॥२१॥
कुम्भालिमीनाः श्यामाःस्युः कृष्णायुग्मांगना मृगाः ।
शुक्रः सितः कुजो रक्तः पिङ्गलाङ्गो बृहस्पतिः ॥२२॥
बुधः श्यामः शशी श्वेतः रक्तः सूर्योऽसितः शनिः ।
राहुस्तु कृष्णवर्णः स्यात् वर्णभेदा उदाहृताः ॥२३॥

चतुरस्रं च वृत्तञ्च कृशमध्यं त्रिकोणकम्।
दीर्घवृत्तं तथाष्टास्रं चतुरस्रायतं तथा ॥२४॥
दीर्घायते क्रमादेते सूर्याद्याः कृतयो मताः।
पञ्चैकविंशद्विरयो नवांशाः षोडशाष्टयः ॥२५॥
भास्करादिग्रहाणाञ्च किरणाः परिकीर्त्तिताः।
वसुरुद्रास्तु रुद्राश्च वह्निवर्कं चतुर्दश ॥२६॥
विश्वर्तकश्च वेदाश्च चतुस्त्रिंशदजादिना।
कुलीराजतुलाकुंभकिरणा वसुसंख्यकाः ॥२७॥
* मिथुनोक्षमृगाणाञ्च किरणा ऋतुसंख्यकाः।
सिंहस्य किरणाः सप्त कन्याकार्मुकयोर्नव ॥२८॥
चत्वारो वृश्चिकस्योक्ताः सप्तविंशा झषस्य च।
सप्ताष्टशरवह्न्यद्रिरुद्रयुग्धाब्धिषड्वसु ॥२९॥
सप्तविंशतिसंख्यां च मेषादीनां परे विदुः।
कुजेन्दुशनयो ह्रस्वा दीर्घा जीवबुधोरगाः ॥३०॥
रविशुक्रौ समौ प्रोक्तौ शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके।
आदित्यशनिसौम्यानां योजनान्यष्ट संख्यया ॥३१॥
शुक्रस्य षोडशांकानि गुरोश्च नवयोजनम्।
कुजस्य सप्त विख्याताः शशांकस्यैकयोजनम् ॥३२॥
भूमिजः षोडशवयाः शुक्रः सप्तवयास्तथा।
विंशद्वयाश्चन्द्रसुतः गुरुस्त्रिंशद्वयाः स्मृतः ॥३३॥
शशांकः सप्ततिवयाः पञ्चाशद्भास्करस्य वै।
शनैश्चरस्य राहोश्च शतसंख्यं वयो भवेत् ॥३४॥
तिक्तं शनैश्चरो राहुः मधुरस्तु बृहस्पतेः।
आम्लं भृगोर्विधोः क्षारं कुजस्य कटुजा रसाः ॥३५॥
लवणः सोमपुत्रस्य भास्करस्य कटुर्भवेत्।
सौम्यार्ककुजजीवानां दक्षिणे लाञ्छनं भवेत् ॥३६॥
फणीन्दुशुक्रमंदानां वामे भवति लाञ्छनम्।
शुक्रस्य वदने पृष्ठे कुजस्यांसे बृहस्पतेः ॥३७॥
कट्टे बुधस्य चन्द्रस्य मूर्ध्नि भानोः कटीतटे।
ऊरौ शनेः पदे राहोः लाञ्छनानि भवन्ति हि ॥३८॥

* यह पङ्क्ति तथा इसी तरह की कई पङ्क्तियां मैसोर की प्रति में नहीं है

बुधादित्यौ भग्नशृङ्गौ चंद्रः शृङ्गविवर्जितः ।
तीक्ष्णशृङ्गः कुजो दीर्घशृङ्गौ जीवकवी तथा ॥३६॥
शनिराहू भग्नशृङ्गौ शृङ्गमेव उदाहृतः ।
वृषसिंहालिकुंभाश्च तिष्ठन्ति स्थिरराशयः ॥४०॥
कर्किनक्रतुलामेषाश्चरन्ति चरराशयः ।
युग्मकन्याधनुर्मीनराशय उभयराशयः ॥४१॥
धनुर्मेषौ वनप्रांते कन्यकामिथुनं पुरे ।
हरिर्गिरौ तुलामीनमकराः सलिलेषु च ॥४२॥
नद्यां कुलीरः कुल्यायां वृषकुंभौ पयोग्रहे ।
वृश्चिकः कूपसलिले राशीनां स्थितिरीरिता ॥४३॥
वनकेदारकोद्यानकुल्याद्रिवनभूमयः ।
आपगातीरसद्वापी तडाकाः सरितस्तथा ॥४४॥
जलकुम्भश्च कूपश्च नष्टद्रव्यादिसूचकाः ।
घटकन्यायुग्मतुला ग्रामेऽजालिधनुर्हरिः ॥४५॥
वने देशे कुलीरोक्षौ नक्रमीनौ जलस्थितौ ।
विपिने शनिभौमागा भृगुचंद्रौ जले स्थितौ ॥४६॥
बुधजीवौ तु नगरे नष्टद्रव्यादिसूचकौ ।
भौमो भूमिर्जले काव्यशशिनौ बुधभागिनौ ॥४७॥
निष्कुटश्चैव रन्ध्रश्च गुरुभास्करयोर्नभः ।
मन्दस्य वनभूमिश्च बलोत्तरखगस्थितौ ॥४८॥
सूर्याकारबलं भूमौ गुरुशुक्रबलन्तु खे ।
चन्द्रसौम्यबलं मध्ये कैश्चिदेवमुदाहृतम् ॥४९॥
निशादिवससन्ध्याश्च भानुयुग्राशिमादितः ।
चरराशिवशादेवमिति केचित्प्रचक्षते ॥५०॥
ग्रहेषु बलवान् यस्तु तद्वशात्कालमीरयेत् ।
शनेर्वर्षं तदर्धस्याद्राहोर्मासद्वयं विदुः ॥५१॥
शुक्रस्य पक्षो जीवस्य मासो भौमस्य वासरः ।
इन्दोर्मुहूर्तमित्युक्तं ग्रहाणां बलतो वदेत् ॥५२॥
एतेषां घटिका प्रोक्ता उच्चस्थानजुषां क्रमात् ।
स्वगृहेषु दिनं प्रोक्तं मित्रभे मासमादिशेत् ॥५३॥
शत्रुस्थानेषु नीचेषु वत्सराबाहुरुत्तमान् ।

सूर्यारजीवविच्छुक्रशनिचन्द्रभुजङ्गमाः ॥५४॥
प्रागादिदिक्षु क्रमशश्चरेयुर्यामसंख्यया ।
प्रागादीशादिशः स्वस्ववारेशाद्या भवन्ति हि ॥५५॥
प्रभाते प्रहरे चाद्ये द्वितीयेऽग्न्यादिकोणतः ।
एवं याम्यतृतीये च क्रमेण परिकल्पयेत् ॥५६॥
भूतं भव्यं वर्तमानं वारेशाद्या भवन्ति च ।
रव्यग्निनिधिषट्केषु मुनिव्योमाम्बुभूषु च ॥५७॥
वस्वाद्यशरयुग्मेषु चारूढे चोदयात्क्रमात् ।
भूतञ्च वर्तमानञ्च भविष्यत्कर्कमादिशेत् ॥५८॥
तद्दिने चन्द्रयुक्तर्क्षं यावद्विकृत्यादिकम् ।
तावद्भिर्वासरैः सिद्धं केचिदंशाधिपाद्विदुः ॥५९॥
सूर्यस्योदयमारभ्य सार्द्धं द्विघटिकाः क्रमात् ।
यल्लग्नं तत्र दृश्येत तल्लग्नेन फलं भवेत् ॥६०॥
प्रश्ननाडीर्विनिश्चित्य सार्द्धं द्विघटिकाः क्रमात् ।
वृषादिगणयेद्धीमान यल्लग्नं तद्वशात्फलम् ॥६१॥
प्रश्ने निश्चित्य घटिकाः सार्द्धं द्विघटिकाः क्रमात् ।
सार्द्धं द्विनाडिपर्यन्तमर्कलग्नं प्रचक्षते ॥६२॥
तद्यथा काललग्नं तु ज्ञात्वा पूर्वादिकं न्यसेत् ।
तद्वशात्प्रष्टुरारूढं ज्ञात्वा चारूढकेश्वरान् ॥६३॥
आरूढाधिपतिर्यत्र प्रभाते नष्टनिर्गमः ।
मेषकर्कितुलानक्राश्चत्वारो धातुराशयः ॥६४॥
कुंभसिंहालिवृषभाः श्रूयन्ते मूलराशयः ।
धनुर्मीननृयुक्कन्या राशयो जीवसंज्ञकाः ॥६५॥
कुजेन्दुसौरिभुजगा धातवः परिकीर्तिताः ।
मूलं भृगुदिनाधीशौ जीवौ धिषणसौम्यजौ ॥६६॥
स्वक्षेत्रभानुश्चन्द्रो धातुरन्यत्र पूर्ववत् ।
स्वक्षेत्रभानुजो मूलं स्वक्षेत्रे धातुरिन्दुजः ॥६७॥
ताम्रो भौमश्चपुर्शश्च काञ्चनं धिषणो भवेत् ।
रौप्यं शुक्रः शशी कांस्यः अयसं मन्दभोगिनौ ॥६८॥
भौमार्कमन्दशुक्रास्तु स्वस्वलोहस्थभे स्थिताः ।
चन्द्रज्ञगुरवः स्वस्वलोहाः स्वक्षेत्रमित्रगाः ॥६९॥

मिश्रे मिश्रफलं ब्रूयात् ग्रहाणाञ्च बलं क्रमात् ।
शिलां भानोर्बुधस्याहुः मृत्पात्रं तुवरं विधोः ॥७०॥
सितस्य मुक्तास्फटिके प्रवालं भूसुतस्य च ।
अयसं भानुपुत्रस्य मन्त्रिणः स्यान्मनःशिला ॥७१॥
नीलं शनेश्च वैडूर्यं भृगोर्मरकतं विदुः ।
सूर्यकान्तो दिनेशस्य चन्द्रकान्तो निशापतेः ॥७२॥
तत्तद्ग्रहवशाद्वर्णं तत्तद्राशिवशादपि ।
बलाबलविभागेन मिश्रे मिश्रफलं वदेत् ॥७३॥
नृराशौ नृलग्ने दृष्टे युक्ते वा मर्त्यभूषणम् ।
तत्तद्राशिवशादन्ये तत्तद्रूपं विनिर्दिशेत् ॥७४॥

इति धातुचिन्ता

अथ मूलकाण्डः

मूलचिन्ताविधौ मूलान्युच्यन्ते मूलशास्त्रतः ।
क्षुद्रसस्यानि भौमस्य सस्यानि बुधशुक्रयोः ॥१॥
कण्टकानि शस्य भानोश्च वृक्षश्चन्द्रस्य वल्लरी ।
गुरोरिक्षुर्भृगोश्चिञ्चा भूरुहाः परिकीर्तिताः ॥२॥
शनिर्भौमोरगाणाञ्च तिक्तकण्टकभूरुहाः ।
अजालिक्षुद्रसस्यानि वृषकर्किनुलाल्लता ॥३॥
कन्यकामिथुने वृक्षाः कण्टकद्रुमे मृगे ।
इक्षुर्मीनझमाश्चैव केचिदाहुर्मनीषिणः ॥४॥
अकण्टकद्रुमाः सौम्याः क्रूराः कण्टकभूरुहाः ।
युग्मकण्टकमादित्यो भूमिजो ह्रस्वकण्टकः ॥५॥
वक्राश्च कण्टकाः प्रोक्ताः शनैश्चरभुजंगयोः ।
पापग्रहाणां क्षेत्राणि तथाकण्टकिनो द्रुमाः ॥६॥
शिष्टक्षत्राणि सौम्यस्य भृगोर्निष्कण्टकद्रुमाः ।
कदली चौषधीशस्य गिरिवृक्षा विवस्वतः ॥७॥
बृहत्पत्रयुता वृक्षा नारिकेलादयो गुरोः ।
तालाशनेश्च राहोश्च सारासारौ तरू वदेत् ॥८॥

साारहीनाः शनीन्द्वर्का अन्तस्सारौ कवीज्यकौ ।
बहिस्साराः स्वराशिस्थशनिज्ञकुजपन्नगाः ॥१॥
अन्तस्साराः स्वराशिस्था बहिस्सारास्तदन्यके ।

इति मूलकाण्डः

अथ मूलधातुकाण्डः

त्वक्कन्दपुष्पकन्दनफलपत्रफलानि च ।
मूलं लता च सूर्याद्याः स्वस्वक्षेत्रेषु ते तथा ॥१॥
मुद्गश्चस्याढकः श्वेतः भृगोश्च चणकं कुजः ।
तिलं शशांको निष्पावं रविर्जीवाऽरुणाढके ॥२॥
माषं शनिभुजंगौ च तथान्यत् धान्यमुच्यते ।
प्रियगुर्भूमिपुत्रस्य बुधस्य व्रीहयः स्मृताः ॥३॥
स्वस्वरूपानुरूपेण तेषां धान्यानि निर्दिशेत् ।
उत्पन्ने भानुकुजयोर्वल्मीके बुधभोगिनोः ॥४॥
सलिले चन्द्रसितयोः गुरोः शैलतटे तथा ।
शनेः कृष्णशिला स्थाने मूलान्येतानि भूमिषु ॥५॥
वर्णं रसं कुलं रत्नमायसं चोक्तमूलिका ।
पत्रं फलं पत्रफलं त्वङ्मूलं पूर्वभाषितम् ॥६॥
प्रहोक्तमालिकां ज्ञात्वा कथयेदुदयादिभिः ।

इति मूलधातुकाण्डः

अथ पञ्चभूतकाण्डः

चन्द्रो माता पितादित्यः सर्वेषां जगतामपि ।
गुरुशुक्रारमन्दज्ञाः पञ्च भूतस्वरूपिणः ॥१॥
श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणाः पञ्चेन्द्रियाण्यमी ।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धश्च विषया अमी ॥२॥
ज्ञानं गुर्वादिपञ्चानां ग्रहाणां कथयेत् क्रमात् ।
गुरोः पञ्च भृगोश्चाब्धिः ज्ञस्य त्रिभिः कुजस्य च ॥३॥
एकं ज्ञानं शनेरुक्तं शास्त्रे ज्ञान-प्रदीपके ।

बुधवर्गा इमे प्रोक्ताः शंखशुक्तिवराटकाः ॥४॥
मत्कुणाः शिथिलीयूकमक्षिकाश्च पिपीलिकाः ।
भौमवर्गा इमे प्रोक्ताः षट्पदा ये भृगास्तथा ॥५॥
देवा मनुष्याः पशवो भुजंगविहगा गुरोः ।
तथैकजानिनो वृक्षाः शनिवर्गाः प्रकीर्त्तिताः ॥६॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगगनादिगुणाः स्मृताः ।
देहो जीवस्सितो जिह्वा बुधोनासेक्षणं कुजः ॥७॥
श्रोत्रं शनैश्चरश्चैव ग्रहावयव ईरितः ।
द्विपाच्चतुष्पाद्बहुपाद्विहगा भानुगाः क्रमात् ॥८॥
शङ्खशम्बूकसन्धांश्च पादहीनान विनिर्दिशेत् ।
यूकमत्कुणमुख्याश्च बहुपादा उदाहृताः ॥९॥
गोधाः कमठमुख्याश्च तथा चंक्रमगोचिताः ।

इति पञ्चभूतकाण्डः

——:※:——

अथ पक्षिकाण्डः

मृगमीनौ तु खचरौ तत्रस्थौ मन्दभूमिजौ ।
वनकुक्कुटकाको च चिन्तिताविति कीर्तयेत् ॥१॥
तद्राशिस्थे भृगौ हंसः शुकः सौम्ये विधौ शिखी ।
वीक्षिते च तदा ब्रूयात् ग्रहे राशौ विचक्षणः ॥२॥
तद्राशिस्थे रवौ तेन दृष्टे ब्रूयात्खगेश्वरम् ।
बृहस्पतौ सितबकौ भारद्वाजस्तु भोगिनि ॥३॥
कुक्कुटो ह्यस्य शुक्रस्य दिवान्धः परिकीर्त्तितः ।
अन्यराशिस्थखेटेषु तत्तद्राशिफलं भवेत् ॥४॥
सौम्ये खेटेऽण्डजाः सौम्या क्रूराः क्रूरग्रहैः खगाः ।

इति पक्षिकाण्डः

——:※:——

अथ मनुष्यकाण्डः

उच्चराश्युदये सूर्ये दृष्टे भूपास्तदाश्रिताः ।
उच्चस्थाने स्थिते राजा नेता स्वक्षेत्रगे स्थिते ॥१॥

राजाश्रिता मित्रभस्ते वीक्षिते समभे भटः ।
चरराश्युदये सूर्ये नृपाद्याश्च बलान्विते ॥२॥
अन्यराशिषु युक्ते वा दृष्टे वा संकरान्वदेत् ।
कांस्यकारः कुलालश्च कांसविक्रयिणस्तथा ॥३॥
शंखच्छिद्रो धातुचूर्णान्वेत्तिणश्चूर्णकारिणः ।
नृराशौ जीवदृष्टे वा भानुवद्ब्राह्मणादयः ॥४॥
कुजयुक्तेऽथवा दृष्टे तत्तद्रूपास्तपस्विनः ।
बुधयुक्तेऽथवा दृष्टे तत्तद्रूपास्तपस्विनः ॥५॥
तद्वच्छुक्रे च वृषलान शंकरान् शशिभोगिनः ।
किञ्चिदस्मिन् विशेषोऽस्ति जनहारकशंकरः ॥६॥
चन्द्रस्य मित्रजा श्चस्य वैश्यश्चोरगणाः स्मृताः ।
राहोर्गरदश्चाण्डालस्तस्कराः परिकीर्तिताः ॥७॥
शनेस्तक्षच्छिद्रः प्रोक्ताः राहोर्धीवरजालिनः ।
शंखच्छेदी नटः कारुनर्तकः शिल्पिनस्तथा ॥८॥
चूर्णकृन्मौक्तिकग्राही शुक्रस्य परिकीर्तितः ।
तत्तद्राशिवशाज्जातिस्तत्तद्राशिगतैर्ग्रहैः ॥९॥
तत्तद्राशिस्थखेटानां बलात्त् नष्टनिर्गमौ ।

इति मनुष्यकाण्डः

अथ मृगादिजीवकाण्डः

मेषराशिस्थिते भौमे मेषमाहुर्मनीषिणः ।
तस्मिन्नर्के स्थिते व्याघ्रं गोलाङ्गूलं बुधे स्थिते ॥१॥
शुक्रे गौवृषभश्चन्द्रे गुरावश्वः ततः परम् ।
महिषी सूर्यतनये करणौ गवय उच्यते ॥२॥
वृषभस्थे भृगौ धेनुः कुजेऽन्यं कुक्कुटाह्वतः ।
बुधे कपिर्गुरावश्वः शशांके धेनुरुच्यते ॥३॥
आदित्ये शरभः प्रोक्तो महिषी शनिसर्पयोः ।
कर्किस्थे च करो भौमे; महिषी नक्रश्च कुजे ॥४॥
वृषभस्थे हरियुग्मकन्ययोः श्वा च केशवः ।

हरिस्थे भूमिजे व्याघ्रं रवीन्द्वोस्तत्र केशरी ॥५॥
शुक्रे श्वा वासरः सौम्ये त्वन्ये श्वाकृतयो मृगाः ।
तुलागते भृगावत्सश्चन्द्रे गौः परिकीर्त्तिता ॥६॥
धनुः स्थितेषु जीवेन्दुकुजेषु तुरगो भवेत् ।
मन्दादित्यस्थितौ तत्र मतङ्गज उदाहृतः ॥७॥
सर्पस्थे तत्र महिषो वानरो बुधशुक्रयोः ।
शुक्रामृतांशुसौम्येषु स्थितेषु पशुरुच्यते ॥८॥
जीवार्किभुजगे गर्भं वन्ध्या स्त्री च शनीक्षिते ।
अंगारकेक्षिते शुक्रस्तत्र ज्ञात्वा वदेत् सुधीः ॥९॥

इति मृगादिजीवकाण्डः

अथ चिन्तनकाण्डः

वक्ष्येऽहं चिन्तनां सूक्ष्मां जनैस्तु परिचिन्तिताम् ।
धिषणे कुंभराशिस्थे त्रिकोणे वाथ पश्यति ॥१॥
मृगराजे स्थिते सौम्ये धनुषि वीक्षिते शुभे ।
स्मृतो गजस्तनो मीनधनुषि वीक्षिते शुभैः ॥२॥
स्मृतः कपिर्मेषगते भानौ ब्रूयान्मतङ्गजम् ।
कुजे मेषगते ज्ञागं बुधे नर्तकगायकान् ॥३॥
गुरुशुक्रविनेशेषु वणिजं वस्त्रजीविनम् ।
चन्द्रे तथा वदेन्मन्दे सिंहस्थे रिपुचिन्तनम् ॥४॥
वृषस्थे महिषी तौलि चक्रिणं वृश्चिके गदम् ।
मेषगे मृपतनये मृत्युः क्रोशादयस्तथा ॥५॥
मित्रारिपक्षवर्गश्च ज्ञात्वा ब्रूयात्पुराविदः ।

इति चिन्तनकाण्डः

अथ धातुकाण्डः

धातुराशौ धातुखगे दृष्टे तच्छशमंयुते ।
धातुचिन्ता भवेत्तद्वत् मूलजीवौ तथा भवेत् ॥१॥

धातुस्थस्थे मूलखेटे जीवमाहुर्विपश्चितः ।
जीवराशौ धातुखगे दृष्टे वा जीवमूलका ॥२॥
मूलराशौ जीवखगे धातुचिन्ता प्रकीर्त्तिता ।
त्रिवर्गखेटकैर्दृष्टे युक्ते बलवशाद्वदेत् ॥३॥
पश्यन्ति चन्द्रं चेदन्ये वदेत्तत्तद्ग्रहाकृतम् ।
धातुमूलञ्च जीवञ्च वंशं वर्णं स्मृतिं वदेत् ॥४॥
उदयारूढयोश्छत्रे ग्रहयोगेक्षणे तथा ।
ज्ञात्वा नष्टञ्च मुष्टिञ्च चिन्तनां क्रमशो वदेत् ॥५॥
कण्टकादिचतुष्केषु स्वोच्चमित्रग्रहैर्युते ।
दृष्टे वा सर्वकार्याणां सिद्धिं ब्रूयाच्च चिन्तनम् ॥६॥
उदये धातुचिन्तास्यादारूढे मूलचिन्तनम् ।
छत्रे तु जीवचिन्ता स्यादिति केश्चिदुदाहृतम् ॥७॥
केन्द्रं पणपरं प्रोक्तमापो क्लीबं क्रमात्त्रयम् ।
चिन्ता तु मुष्टिनष्टानि कथयेत् कार्यसिद्धये ॥८॥

इति धातुकाण्डः

अथारूढकाण्डः

उदयारूढगे चन्द्रे न नष्टा शाश्वती स्थितिः ।
आरूढाद्दशमे वृद्धिश्चतुर्थे पूर्ववद्वदेत् ॥१॥
नष्टद्रव्यस्य लाभः स्याद्रोगहानिश्च सप्तमे ।
उदयाद्द्वादशे षष्ठे अष्टमारूढगे सति ॥२॥
चिन्तितार्थो न भवति धनहानिरियं फलम् ।
तनुं कुटुम्बं सहजं मातरं तनयं रिपुम् ॥३॥
कलत्रनिधनञ्चैव गुरुकर्मफलं व्ययम् ।
उदयादिक्रमाद्भावस्तस्य तस्य फलं वदेत् ॥४॥
रवीन्दुशुक्रजीवज्ञा नृराशिषु यदि स्थिताः ।
मर्त्यचिन्ता ततः शौरिदृष्टे नष्टं भवेत्तथा ॥५॥
कुजस्य कलहः शौरेस्तस्करं गलितं भवेत्

रविदृष्टेऽथवा युक्ते चिन्तना देवभूपतेः ॥६॥
शुभचिन्ता गुरौ ज्ञेया विवाहो गुरुशुक्रयोः ।

इत्यारूढकाण्डः

—:*:—

अथ छत्रकाण्डः

द्वितीये द्वादशे छत्रे सर्वकार्यं विनश्यति ।
गुरौ पश्यति युक्ते वा तत्र कार्यं शुभं वदेत् ॥१॥
तृतीयैकादशे छत्रे सर्वकार्यं शुभं भवेत् ।
तस्मिन्पापयुते दृष्टे विनाशो भवति ध्रुवम् ॥२॥
तस्मिन् सौम्ययुते दृष्टे सर्वकार्यं शुभं वदेत् ।
मिश्रे मिश्रफलं ब्रूयात् शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥३॥
पञ्चमे नवमे छत्रे सर्वसिद्धिर्भविष्यति ।
तद्वच्छुभाशुभे दृष्टे मिश्रे मिश्रफलं वदेत् ॥४॥
द्वितीये चाष्टमे षष्ठे द्वादशे छत्रसंयुते ।
नष्टद्रव्यागमो नास्ति न व्याधिशमनं भवेत् ॥५॥
न कार्यसिद्धिर्नष्टे वशांतिग्रहवशाद्वदेत् ।

इति छत्रकाण्डः

—०:*:०—

अथ उदयारूढकाण्डः

बृहस्पत्युदये श्रेयो धनं विजयमागमः ।
रुग्शांतिः सर्वकार्यसिद्धिरेव न संशयः ॥१॥
सौम्योदये रगोद्योगो जित्वा तद्धनमाहरेत् ।
पुनरेष्यति सिद्धिः स्यात् छत्रसंदर्शने तथा ॥२॥
व्यवहारस्य विजयं छत्रेऽप्येवमुदाहृतम् ।
चन्द्रोदयेऽर्थलाभश्चेत् प्रयाणे गमनं भवेत् ॥३॥
चिंतितार्थस्य सिद्धिःस्याच्छत्रारूढस्थितेऽपि च ।
शुक्रोदयेऽर्थलाभः स्यात् स्त्रीलाभो व्याधिमोचनम् ॥४॥

जयाद्यान्त्यरयः स्नेहं छत्रारूढस्थितेऽपि वा ।
उदयारूढछत्रेषु शून्यकांगारका यदि ॥५॥
अर्थनाशं मनस्तापं मरणं व्याधिमादिशेत् ।
एतेषु फणियुक्तेषु वदेच्चौरभयं परम् ॥६॥
मरणं चैव दैवज्ञो न सन्दिग्धो वदेत्सुधीः ।
निधनाधिधनस्थेषु पापेष्वशुभमादिशेत् ॥७॥
एषु स्थानेषु केन्द्रेषु शुभाः स्युश्चेच्छुभं वदेत् ।
तन्वादिभावा नश्यन्ति पापदृष्टियुता यदि ॥८॥
शुभदृष्टियुतोवापि वृद्धिं भावा व्रजन्ति च ।
मेषोदये तुलारूढे नष्टं द्रव्यं न सिध्यति ॥९॥

इति उदयारूढकाण्डः

—:*:—

अथ नष्टकाण्डः

तुलोदये क्रियारूढे नष्टसिद्धिर्न संशयः ।
विपरीते न नष्टामिवृषारूढेऽलिमोदये ॥१॥
नष्टसिद्धिर्महालाभो विपरीते विपर्ययः ।
चापारूढे नष्टसिद्धिर्भविता मिथुनोदये ॥२॥
विपरीते न सिद्धिः स्यात् कर्कारूढे मृगोदये ।
सिद्धिश्च विपरीते तु न सिध्यति न संशयः ॥३॥
सिंहोदये घटारूढे नष्टसिद्धिर्न संशयः ।
विपरीते न सिद्धिः स्यात् झषारूढेऽगनोदये ॥४॥
नष्टसिद्धिर्विपर्यासे दृष्टादृष्टे निरूपणम् ।
स्थिरोदये स्थिरारूढे स्थिरच्छत्रे च सत्यपि ॥५॥
न मृतिर्न च नष्टश्च न रोगशमनं तथा ।
द्विदेहवोधयारूढे छत्रे नष्टं न सिध्यति ॥६॥
न व्याधिशमनं शत्रोः सिद्धिर्विद्या न च स्थिरा ।
चरराश्युदयारूढछत्रेषु यदि सिध्यति ॥७॥
नष्टसिद्धिश्च भवति व्याधिशान्तिश्च जायते ।
सर्वागमनकार्याणि भवन्त्येव न संशयः ॥८॥

ग्रहस्थितिबलेनैव सर्वं ब्रूयात् शुभाशुभम् ।
चराभयस्थिराः सौम्याः सर्वकामार्थसाधकाः ॥९॥
आरूढछत्रलग्नेषु क्रूरेष्वस्तं गतेषु च ।
परेणापहृतं ब्रूयात् तन्सिध्यति शुभेषु च ॥१०॥
पञ्चमो नवमस्तेन नष्टलाभः शुभोदये ।
येषु पापेन नष्टानिरुद्याद्दिति :केषु च ॥११॥
भ्रातृस्थानयुते पापे पञ्चमे वाऽशुभस्थिते ।
नष्टद्रव्याणि केनापि दीयन्ते स्वयमेव च ॥१२॥
प्रश्नकाले शक्रचापे धूमेन परिवेष्टिते ।
दृष्टनष्टं न भवति तत्तद्राशास्तु तिष्ठति ॥१३॥
पृष्ठोदये शशांकस्थे नष्टं द्रव्यं न गच्छति ।
तद्राशिः शनिदृष्टश्चेन्नष्टं स्यात्मि कुजेऽग्निना ॥१४॥
बृहस्पत्युदये स्वर्णं नष्टं नास्ति विनिर्दिशेत् ।
शुक्रे चतुर्थके रौप्यं नष्टं नास्ति वदेद्ध्रुवम् ॥१५॥
सप्तमस्थे शनौ कृष्णलोहं नष्टं न जायते ।
बुधोदये त्रपुर्नष्टं नास्ति चन्द्रे चतुर्थके ॥१६॥
कांसं नष्टं न भवति अंगना चैव सप्तमे ।
आरे भानौ दशमगे ताम्रं रीतिर्न नश्यति ॥१७॥
दशमे पापसंयुक्ते न नष्टं च चतुष्पदम् ।
चतुष्पादुदये राहौ स्थिते नष्टाश्चतुष्पदाः ॥१८॥
बन्धनस्था भवेयुस्ते तद्वद्द्विपदराशयः ।
बहुपादुदये राहौ बहुपान्नष्टमादिशेत् ॥१९॥
पक्षिराशौ तथा नष्टे पतंगं बन्धमादिशेत् ।
कर्कवृश्चिकयोर्लग्ने नष्टं सद्मनि कीर्त्तयेत् ॥२०॥
मृगमीनोदये नष्टं कपातान्तरयोर्वदेत् ।
कलशे भूमिजे सौम्ये घटे रक्तघटे गुरौ ॥२१॥
शुक्रे च करके भग्नघटे भास्करनन्दने ।
आरनालघटे भानौ चन्द्रे लवणभाण्डके ॥२२॥
नष्टद्रव्याश्रितस्थानं सद्मनीति विनिर्दिशेत् ।
पुंराशौ पुंग्रहैर्दृष्टे पुरुषस्तस्करो भवेत् ॥२३॥

स्त्रीराशौ स्त्रीग्रहैर्दृष्टे तस्करी च वधू भवेत् ।
उदयादोजराशिस्थे पुंग्रहे पुरुषो भवेत् ॥२४॥
समराश्युदयं चोरी समस्तैः स्त्रीग्रहैर्वधूः ।
उदयारूढयोश्चैव बलाबलवशाद्वदेत् ॥२५॥
कर्किनक्रधुरंध्रेषु नष्टद्रव्यं न सिध्यति ।
तुलावृषभकुंभेषु नष्टद्रव्यन्तु सिध्यति ॥२६॥
जीवं विना सर्वखगे समभस्थे न सिध्यति ।
पश्यन्ति ये ग्रहाश्चन्द्रं चौरास्तद्वत्स्वरूपिणः ॥२७॥
द्रव्याणि च तथैव स्युरिति ज्ञात्वा वदेत्सुधीः ।
यस्यामारूढयो याति तस्यां दिशि गतं वदेत् ॥२८॥
तत्तद्ग्रहांशुसंख्याभिस्तत्तत्संख्यादिनाडिकाः ।
भावाधिपवशादेव अन्यदृष्टिवशाद्वदेत् ॥२९॥
चन्द्रस्थानादुदयभं यावत्तावद्दिनं भवेत् ।
चरस्थिरोभयवशादेकद्वित्रिगुणान् वदेत् ॥३०॥

इति नष्टकाण्डः

—— :*: ——

अथ लाभालाभकाण्डः ।

सुवस्तुलाभं रम्यञ्च राष्ट्रं ग्रामं स्त्रिया यतिः ।
उपायनं स्वकार्याणि लाभालाभान् वदेत्सुधीः ॥१॥
उदयात्त्रित्रिकान् खेटाः पश्यन्त्युच्चेश्वरा यदि ।
चिन्तितार्थागमश्चैव स्त्रीलाभो राज्यसिद्धयः ॥२॥
ताश्चोचाद्विपदः खेटाः पश्यन्ति यदि नाशयेत् ।
एवं विवाहकार्याणां शुभाशुभनिरूपणम् ॥३॥
उदयारूढक्षत्राणि पश्यन्ति सुहृदो यदि ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति रिपुः पश्यति चेद्रिपुम् ॥४॥
उदयं चन्द्रलग्नं चेद्रिपुः पश्यति वा युतः ।
आयुर्हानी रिपुस्थानं गतश्चेद्बंधनं भवेत् ॥५॥
गतो नायाति नष्टं चेद्बहिरेव गतिं वदेत् ।
बलवच्चन्द्रजीवाभ्यां केन्द्रेषु सहितेषु च ॥६॥

नष्टप्रश्ने न नष्टं स्यात् मृत्युप्रश्ने न नश्यति ।
पापदृष्टियुते केन्द्रे भूयात्तस्य विपर्ययः ॥७॥
शत्रोरागमनं नास्ति चतुर्थे पापसंयुते ।
इति केन्द्रफलं सौम्याः स्थिताश्चेत्सर्वसिद्धयः ॥८॥
उदयारूढछत्रेषु केन्द्रेषु भुजगो यदि ।
दूरस्थितो न चायाति तत्र बद्धो भविष्यति ॥९॥
विषादिपीडा-प्रश्ने तु रोगिणां मरणं भवेत् ।
गमने चिन्तिते प्रष्टुर्नास्तीति कथयेद्बुधः ॥१०॥
प्रारब्धकार्यहानिश्च धनस्याहृतिरीरिता ।
चन्द्रात्सप्तमस्थिते शुक्रे जीवात्सप्तमस्थिते रवौ ॥११॥
तल्लग्ने कार्यसिद्धिः स्यात् पृच्छतां नात्र संशयः ।
उदयात्सप्तमे व्याप्ति शुक्रश्चेत् स्त्रीसमागमः ॥१२॥
धनागमश्च सौख्यश्च चन्द्रे त्वेवं प्रकीर्तितम् ।
मित्रः स्वात्सुखमायान्ति यदा खेटास्तथैव ताः ॥१३॥
नीचारिमूढमापन्नाः .: सर्वकार्यविनाशिनः ।

इति लाभालाभकाण्डः

अथ रोगकाण्डः ।

पूर्वशास्त्रानुसारेण मृत्युव्याधिनिरूपणम् ।
उदयात् षष्ठमे व्याधिः अष्टमे मृत्युरुच्यते ॥१॥
षष्ठारूढे व्याधिचिन्ता निधने मृत्युचिन्तनम् ।
तत्तद्ग्रहयुते दृष्टे व्याधिं मृत्युं वदेत् क्रमात् ॥२॥
पापनीचारयः खेटाः पश्यन्ति यदि संयुताः ।
न व्याधिशमनं मृत्युमविचार्य वदेत् सुधीः ॥३॥
एतयोश्चन्द्रभुजगौ तिष्ठतो यदि चोदये ।
गरादिना भवेद् व्याधिः न शाम्यति न संशयः ॥४॥
पृष्ठोदयर्क्षे तच्छत्रे व्याधिर्मोक्षो न जायते ।
व्याधिस्थानानि चैतानि मूर्धा वक्त्रं भुजः करः ॥५॥

वक्षःस्थलं स्तनौ कुक्षिः कटि-मूलं च मेहनम् ।
ऊरू पादौ च मेषाद्या राशयः परिकीर्त्तिताः ॥६॥
कुजो मूर्ध्नि मुखे शुक्रः कन्धरे भुजयोर्बुधः ।
चन्द्रो वक्षसि कुक्षौ च भानुर्नाभेरधोगुरुः ॥७॥
उर्वोः शनिरहिः पादे ग्रहाणां स्थानमीरितम् ।
स्थानेष्वेतेषु नष्टश्च भवेदेतेषु राशिषु ॥८॥
पापयुक्तेषु दृष्टेषु नीचारिष्टेषु सम्भवेत् ।
पश्यन्ति चेद्ग्रहाश्चन्द्रं व्याधिस्थानावलोकनम् ॥९॥
पूर्वोक्तमासवर्षाणि दिनानि च वदेत्सुधीः ।
षष्ठाष्टमे पापयुते रोगशान्तिर्न जायते ॥१०॥
षष्ठाष्टमे शुभयुते रोगः शाम्यति सर्वथा ।
कश्चित्तत्र विशेषोऽस्ति रोगमृत्युस्थले शुभम् ॥११॥
यावद्भिर्दिवसैर्यान्ति तावद्भिर्व्याधिमोचनम् ।
रोगस्थानं भवेद्रन्ध्रे पापखेटयुते तथा ॥१२॥
तत्षष्ठे चन्द्रसंयुक्ते रोगिणां मरणं भवेत् ।
रोगस्थानं कुजः पश्येच्छिरोविभ्रो ज्वरं भवेत् ॥१३॥
भृगुर्विसूच्यां सौम्यश्चेत् कक्षग्रन्थिर्भविष्यति ।
तथा चेद्गुरुव्याधिः शनिर्वातश्च पङ्गुता ॥१४॥
राहुर्विषं शशी पश्येन्नेत्ररोगो भविष्यति ।
मूलव्याधिर्गुरुः पश्येच्चन्द्रवत् स्याद्भृगोः फले ॥१५॥
परिधाविन्द्रकोदण्डे पश्ये लग्ने युते क्षिते ।
कुष्ठव्याधिरिति ब्रूयात् धूमे भूताहतं भवेत् ॥१६॥
सर्वापस्मारमादित्ये पिशाचपरिपीडनम् ।
श्वासः काशश्च शूलश्च शनौ शीतज्वरं कुजे ॥१७॥
कार्मुके दण्डपरिधौ दृष्टे प्रश्ने तु रोगिणाम् ।
न व्याधिशमनं किञ्चिल्लग्नं पश्यन्ति चेत् शुभाः ॥१८॥
रोगशान्तिर्भवेच्छीघ्रं सितस्वान्युग्मसंस्थिताः ।
शिरोललाटं भ्रू नेत्रं नासाश्रुत्यधराः स्मृताः ॥१९॥
चिबुकश्चाङ्गुलिश्चैव कृत्तिकाद्युडवो नव ।
कण्ठवक्षःस्तनं नेत्रोदरमध्यनितम्बकाः ॥२०॥

शिश्नमन्दोदयः प्रोक्ता उत्तराद्या नवोडवः ।
जानुजंघापादसन्धिपृष्ठान्तस्तलगुल्फकम् ॥२१॥
पादाग्रं नखरांगुल्यो वैश्वाद्याश्चोडवो नव ।
उदयर्क्षवशादेवं ज्ञात्वा तत्र गदं वदेत् ॥२२॥
अंगनक्षत्रकं ज्ञात्वा नष्टद्रव्यं तथा वदेत् ।
त्रिकोणलग्नदशमे शुभश्चेद् व्याधयो नहि ॥२३॥
नेषु नीचारियुक्तेषु देहपीडा भवेन्नृणाम् ।

इति रोगकाण्डः

अथ मरणकाण्डः ।

मरणस्य विधानानि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ।
वृषस्य वृषभच्छत्रं सिंहच्छत्रं हरेर्भवेत् ॥१॥
अलिनो वृश्चिकच्छत्रं कुम्भच्छत्रं घटस्य च ।
उच्चस्थानमिति ज्ञात्वा रुद्धः स्यादुदये यदि ॥२॥
मरणं न भवेत्तस्य रोगिणो नात्र संशयः ।
तुलायाः कार्मुकच्छत्रं नीचो मृत्युर्विपर्यये ॥३॥
मेषस्य मिथुनच्छत्रं नीचो मृत्युर्विपर्यये ।
नक्रस्य मीनच्छत्रं च नीचो मृत्युर्विपर्यये ॥४॥
कन्याच्छत्रं कुलीरस्य नीचो मृत्युर्विपर्यये ।
नीचश्चेद् व्याधिमोक्षो न मृत्युर्मरणमादिशेत् ॥५॥
ग्रहेषु बलवान् भानुर्यदि मृत्युस्तदाग्निना ।
मन्दः क्षुधा जलेनेन्दुः शीतेन कविरुच्यते ॥६॥
बुधस्तुषारवाताभ्यां शस्त्रेणारो बली यदि ।
राहुर्विषेण जीवस्तु कुक्षिरोगेण नश्यति ॥७॥
विधोः षष्ठाष्टमे पापः सप्तमे वा यदि स्थितः ।
रोगमृत्युस्तुलाभ्यां वा रोगिणां मरणं भवेत् ॥८॥
आरूढान्मरणस्थानं तस्मादष्टमगः शशी ।
पापाः पश्यन्ति चेन्मृत्युं रोगिणां कथयेत्सुधीः ॥९॥

द्वितीये भानुसंयुक्ते दशमे पापसंयुते ।
दशाहान्मरणं ब्रूयात् शुक्रजीवौ तृतीयगौ ॥१०॥
सप्ताहान्मरणं ब्रूयात् रोगिणामपि बुद्धिमान् ।
उदये चतुरस्रे वा पापाः षष्ठदिनान्मृतिः ॥११॥
लग्नद्वितीयगाः पापाश्चतुर्दशदिनान्मृतिः ।
लग्नद्विनिधने पापा दशमे पापसंयुते ॥१२॥
त्रिदिनान्मरणं किन्तु दशमे पापसंयुते ।
तस्मात्सप्तमगे पापे दशाहान्मरणं भवेत् ॥१३॥
निधनारूढगे पापे दृष्टे वा मरणं भवेत् ।
तत्तद्ग्रहवशादेवं दिनमासादिनिर्णयः ॥१४॥
इति मरणकाण्डः

अथ स्वर्गकाण्डः ।

ग्रहोच्चैः स्वर्गमायाति रिपौ मृगकुले भवः ।
नीचे नरकमायाति मित्रे मित्रकुलोद्भवः ॥१॥
स्वक्षेत्रे स्वजनं जन्म मृतानां तु वदेत् सुधीः ।
इति स्वर्गकाण्डः

अथ भोजनकाण्डः ।

कथयामि विशेषेण भुक्तद्रव्यस्य निर्णयम् ।
पाकभाण्डानि भुक्तानि व्यंजनानि रसं तथा ॥१॥
सहभोक्तन् भोजनानि तद्दातृस्ते हितान् रिपून् ।
मेषराशौ भवेच्छागं वृषभे गव्यमुच्यते ॥२॥
धनुर्मिथुनसिंहेषु मत्स्यमांसादिभोजनम् ।
नक्रालिकर्किमीनेषु फलभक्ष्यफलादिकम् ॥३॥
तुलाकन्यामेषेष्वेवं शुद्धान्नमिति कीर्तितम् ।
भानोरम्लकटुक्षारमिश्रं भोजनमुच्यते ॥४॥

उष्णाम्लक्षारसंयुक्तं भूमिपुत्रस्य भोजनम्।
भर्जितान्युपत्रं सौरेः सौम्यस्याहुर्मनीषिणः ॥५॥
पायसान्नं घृतैर्युक्तं गुरोर्भोजनमुच्यते।
भृगोर्नानारससयुतं शुद्धशाल्यन्नमीरितम् ॥६॥
सतैलं कोद्रवान्नञ्च प्राचीनान्नं शनैर्वदेत्।
राहोस्तुभिः सहान्नं स्याद्रसवर्ग उदाहृतः ॥७॥
जीवस्य माषवटकं नूनं मित्रस्य भोजनम्।
चन्द्रस्य कन्दप्रसवौ मत्स्यार्यं भोजनं भवेत् ॥८॥
सौद्रापूपपयोयुग्भिर्भोजनं व्यंजनैर्भृगोः।
ओजराशौ शुभैर्दृष्टे तृष्णाया भोजनं भवेत् ॥९॥
समराशौ शुभैर्दृष्टे उष्णं स्वादु च भोजनम्।
ओजराशौ दुष्टदृष्टे दुष्टभोजनमादिशेत् ॥१०॥
समराशौ शुभैर्दृष्टे उष्णं स्वादु च भोजनम्।
समराशौ मन्दतृष्णौ भुङ्क्तेऽयं पापवीक्षिते ॥११॥
केचित्पश्यन्ति पापश्चेत् पुराणान्नं क्षुधार्दितः।
अर्कारौ मांसभोक्तारौ उशनाश्चन्द्रभोगिनौ ॥१२॥
नवनीतघृतक्षीरदधिभिर्भोजनं भवेत्।
जलराशिषु पापेषु ससौम्येष्वीक्षितेषु च ॥१३॥
सतैलं भोजनं ब्रूयादिति ज्ञात्वा विचक्षणः।
पूर्वोक्तधातुवर्गेण भोजनानि विनिर्दिशेत् ॥१४॥
मूलवर्गेण शाकादीनुपदंशान् वदेद्बुधः।
जीववर्गेण भुक्त्वा च मत्स्यमांसादिकानपि ॥१५॥
सर्वमालोड्य निश्चित्य वदेन्नृणां विचक्षणः।

इति भोजनकाण्डः।

——:*:——

अथ स्वप्नकाण्डः।

स्वप्ने यानि च पश्यन्ति तानि वक्ष्यामि सर्वदा।
शिरोदये देवगृहं प्रासादादीन् प्रपश्यति ॥१॥

पृष्ठोदये दिनाधीशे विधौ मानुष्यदर्शनम् ।
मेषोदये दिनाधीशे ज्ञातदेहस्य दर्शनम् ॥२॥

वृषभस्योदयेऽर्कारौ व्याकुलान्मृतदर्शनम् ।
मिथुनस्योदये विप्रान् तपस्विवदनानि च ॥३॥

कुलीरस्योदये क्षेत्रं शस्यं दृष्ट्वा पुनर्गृहम् ।
तृणान्यादाय हस्ताभ्यां गच्छन्तीति विनिर्दिशेत् ॥४॥

सिंहोदये किरातश्च महिषीं गिरिपन्नगम् ।
कन्योदयेऽपि चारूढे मुग्धस्त्रीकन्यकाबधूः ॥५॥

तुलोदये नृपान् स्वर्गं वणिजश्च स पश्यति ।
वृश्चिकस्योदये स्वप्ने पश्यन्त्यलिमृगानपि ॥६॥

वृषाश्वौ च तथा ब्रूयात् स्वप्ने दृष्ट्वा न शंकितः ।
उदये धनुषः पश्येत् पुष्पं पत्रं फलाफले ॥७॥

मृगोदये नदीनारीपुंसः स्वप्नेषु पश्यति ।
कुम्भोदये च मकरं मीने स्वर्णं जलाशयम् ॥८॥

चतुर्थे तिष्ठति भृगौ राजतं वस्तु पश्यति ।
कुजश्चेन्मांसरक्तांश्च सशुक्रस्त्वंगनाः ॥९॥

मृगाः शनिश्चेत् सौम्यश्चेत् पशून् स्वप्ने तु पश्यति ।
आदित्यश्चेन्मृतान् पुंसः पतनं शुष्कशाखिनाम् ॥१०॥

चन्द्रश्चेन्नूतनं सिन्धौ राहुमध्यविषं भवेत् ।
अत्र कश्चिद्विशेषोऽस्ति ह्यारूढोदयेषु च ॥११॥

शुक्रस्थितश्चेत् सुश्वेतसौधसौम्यामराम्वदेत् ।
चतुर्थस्य वशात्स्वप्नं ब्रूयात् ग्रहनिरीक्षणैः ॥१२॥

तत्रानुक्तं यदखिलं ब्रूयात् पूर्वोक्तवस्तुना ।

इति स्वप्नकाण्डः ।

अथ निमित्तकाण्डः ।

अथोभयत्रे पथिको दुर्निमित्तानि पश्यति ।
स्थिरोदये निमित्तानां विरोधेन न गच्छति ॥१॥
चरोदये निमित्तेन समायातानि निर्दिशेत् ।
चन्द्रोदये दिवाभीतशशपारावतादयः ॥२॥
शकुनं भवता दृष्टमिति ब्रूयाद्विचक्षणः ।
राहूदये तथा काकभारद्वाजादयः खगाः ॥३॥
मन्दोदये कुलिङ्गः स्यात् सौम्योदये पिंगलस्तथा ।
सूर्योदये च गरुडः शुक्रः सव्यवशाद्वदेत् ॥४॥
स्थिरराशौ स्थिरान् पश्येत् चरे तिर्यग्गतांस्तथा ।
उभयेऽध्वनि वृद्धिः स्यात् ग्रहस्थितिवशाद्वदेत् ॥५॥
राहोर्गौलिविधोश्चात्र ज्ञस्य च्छुच्छुन्दरी भवेत् ।
रविशुक्रस्य जीवस्य तारमार्जारकं वदेत् ॥६॥
भानोश्च श्वेतगरुडः शिवा भौमस्य कीर्तिता ।
शनैश्चरस्य वह्निश्च निमित्तं दृष्टमादिशेत् ॥७॥
शुक्रस्य पक्षिणो ब्रूयात् गमने शरटान् बकान् ।
जीवकाण्डप्रकारेण पक्षिणोऽन्यान्विचारयेत् ॥८॥

इति निमित्तकाण्डः

अथ विवाहकाण्डः ।

प्रश्ने वैवाहिके लग्ने कुजसूर्यावुभौ यदि ।
वैधव्यं शीघ्रमायाति सा वधूर्नेति संशयः ॥१॥
उदये मन्दगे नारी रिक्ता मृतसुता भवेत् ।
चन्द्रोदये तु मरणं दम्पत्योः शीघ्रमेव च ॥२॥
शुक्रजीवबुधा लग्ने यदि तौ दीर्घजीविनौ ।
द्वितीयस्थे निशानाथे बहुपुत्रवती भवेत् ॥३॥
स्थिता यद्यर्कमन्दारा मनः शोको दरिद्रता ।
द्वितीये राहुसंयुक्ते सा भवेत् व्यभिचारिणी ॥४॥

शुभग्रहा द्वितीयस्था माङ्गल्यायुष्यवर्द्धना ।
तृतीये रविराहू चेत्सा वन्ध्या भवति ध्रुवम् ॥५॥
अन्ये तृतीयराशिस्था धनसौभाग्यवर्द्धना ।
चतुर्थेऽर्कनिशानाथौ तिष्ठतो यदि पापिनौ ॥६॥
शनिश्च स्तन्यहीना स्याद्दृहिः सा पत्नवत्यसौ ।
बुधजीवारशुक्राश्चेत् अल्पजीवनवत्यसौ ॥७॥
पंचमे यदि सौरिः स्याद् व्याधिभिः पीडिता भवेत् ।
शुक्रजीवबुधाः स्युश्चेद्बहुपुत्रवती भवेत् ॥८॥
चन्द्रादित्यौ तु वन्ध्या स्यात् अहिश्चेन्मरणं भवेत् ।
आरश्चेत्पुत्रनाशः स्यात् प्रश्ने दारिग्रहादिने ॥९॥
षष्ठे शशी चेद्विधवा बुधः कलहकारिणी ।
षष्ठे तिष्ठति शुक्रश्चेज्जीवेमाङ्गल्यधारिणी ॥१०॥
अन्ये तिष्ठन्ति चेन्नारी सुखिनी वृद्धिमिच्छति ।
सप्तमस्थे शनौ नारी तस्मा विधवा भवेत् ॥११॥
परेणापहृता यानि कुजे तिष्ठति सप्तमे ।
बुधजीवौ सन्मतिः स्याद्राहुश्चेद्विधवा भवेत् ॥१२॥
व्याधिग्रस्ता भवेन्नारी सप्तमस्थो रविर्यदि ।
सप्तमस्थे निशानाथे स्वर्णालंकारिणी भवेत् ॥१३॥
शुक्रश्चेत्पुत्रसिद्धिः स्यात्सा वधूमरणं व्रजेत् ।
अष्टमस्थाः शुक्रगुरुभुजगा नाशयन्ति च ॥१४॥
शनिज्ञौ वृद्धिदौ भौमचन्द्रौ नाशयतः स्त्रियम् ।
आदित्यार्गो पुनर्भूः स्यात्प्रश्ने वैवाहिके वधूः ॥१५॥
नवमे यदि सोमः स्यात् व्याधिलीना भवेद्वधूः ।
जीवचन्द्रौ यदि स्यातां बहुपुत्रवती वधूः ॥१६॥
अन्ये तिष्ठन्ति नवमे यदि वन्ध्या न संशयः ।
दशमे स्थानके चन्द्रो वन्ध्या भवति भामिनी ॥१७॥
भार्गवो यदि वेश्या स्यात् विधवार्किकुजाबुभौ ।
रिक्ता गुरुश्चेज्ज्ञादित्यौ यदि तस्याः शुभं वदेत् ॥१८॥
लाभस्थानगताः सर्वे पुत्रसौभाग्यवर्द्धकाः ।
लग्नद्वादशगश्चन्द्रो यदि स्यान्नाशमाविशेत् ॥१९॥

शनिभौमौ यदि स्यातां सुरापानवती भवेत् ।
बुधः पुत्रवती जीवो धनधान्यवती वधूः ॥२०॥
सर्पादित्यौ स्थितौ वन्ध्या शुक्रे सुखतरो भवेत् ।

इति विवाहकाण्डः

——:o:——

अथ कामकाण्डः ।

स्त्रीपुंसोरतिभेदाश्च स्नेहाऽस्नेहः पतिव्रता ।
शुभाशुभौ क्रमात्प्रोक्तौ शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥१॥
पृच्छतामुदयारूढकेन्द्रेषु भुजगा यदि ।
तेषां दुष्टस्त्रियः प्रोक्ता देवानामप्यसंशयः ॥२॥
लग्नादेकादशस्थाने तृतीये दशमे शशी ।
जीवदृष्टियुतश्चित्तेन् यदि भार्या पतिव्रता ॥३॥
चन्द्रं पश्यन्ति पुंखेटाश्चेन युक्ता भवन्ति चेत् ।
तद्भार्या दुर्जनां ब्रूयादिति शास्त्रविदो विदुः ॥४॥
सप्तमस्थो द्विपञ्चखेटः पुर्नाचारिगः शशी ।
बन्धुविद्वेषिणां लोके भ्रष्टा सा तु शुभाशुभैः ॥५॥
भानुजीवौ निशाधीशं पश्यन्तौ वा युतौ यदि ।
पतिव्रता भवेन्नारी रूपिणीति वदेद्बुधः ॥६॥
शुक्रेण युक्तो दृष्टो वा भौमश्चेत्परगामिनी ।
बृहस्पतिबुधाभ्यां युक्तश्चेत्कन्यकारतिः ॥७॥
शुक्रवर्गयुते भौमे भौमवर्गयुते भृगौ ।
पृच्छकस्य विधवा भर्त्ता तस्या दारो भवेद्ध्रुवम् ॥८॥
भानुवर्गयुते शुक्रे राजस्त्रीणां रतिर्भवेत् ।
जीववर्गयुते चन्द्रे स्नेहेन रतिमान् भवेत् ॥९॥
चन्द्रस्त्रिवर्गयुतश्चेत् स्त्री स्वातन्त्र्यवर्ती भवेत् ।
पुंराशौ पुरुषैर्दृष्टे युक्ते वा पुरुषाकृतिः ॥१०॥
शनिश्चन्द्रेण युक्तश्चेदतीव व्यभिचारिणी ।
पापवर्गयुते दृष्टे शुक्रश्चेद्व्यभिचारिणी ॥११॥

अहिवर्गयुतश्चन्द्रो नीचस्त्रीभोगवान्भवेत् ।
मित्रवर्गयुतश्चन्द्रो मित्रवर्गवधूरतिः ॥१२॥
स्वक्षेत्रे यदि शीतांशुः स्वभार्यायां रतिर्भवेत् ।
उच्चवर्गयुतश्चन्द्रः स्वकुलवंशस्त्रियां रतिः ॥१३॥
उदासीनग्रहयुता दृष्टोवा यदि चन्द्रमाः ।
उदासीनवधूभोगमितिप्राहुर्मनीषिणः ॥१४॥
लग्ने च दशमस्थेऽत्र पञ्चमे शनियुक् शशी ।
चोररूपेण कथयेत् रात्रौ स्वप्ने वधूरतिः ॥१५॥
ओजोदयस्तदधिपे ओजस्थे त्वेकमैथुनम् ।
समोदये तदधिपे समस्थे द्विस्त्रियो रतिः ॥१६॥
लग्नेश्वरबलं ज्ञात्वा तेषां किरणसंख्यया ।
अथवा कथयेत् द्विद्विसंदृष्टग्रहसंख्यया ॥१७॥
चन्द्रे भौमयुते दृष्टे कलहेन पृथक् शयः ।
भृगौ सौरियुते दृष्टे स्वस्त्रीकलह उच्यते ॥१८॥
चतुर्थे च तृतीये च पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।
चन्द्रे शुक्रयुते दृष्टे स्वस्त्रिया कलहो भवेत् ॥१९॥
तद्वीयवसनच्छेदं रचितं परिकीर्तयेत् ।
सप्तमे पापसंयुक्ते दशमे पापसंयुते ॥२०॥
तृतीये बुधसंयुक्ते स्त्रीविवादस्तले शयः ।
लग्ने चन्द्रयुते भौमे त्रितीयस्थे तथा निशि ॥२१॥
जागरश्चोरभीत्या च राशिनक्षत्रसन्धिषु ।
पृष्ठभ्वेद्विधयाभोगमकरोदिति कीर्तयेत् ॥२२॥
तत्सन्धौ शुक्रसौम्यौ चेत् तस्यज्ञातिपतिं वदेत् ।
यत्र कुत्रापि शशिनं पापाः पश्यन्ति चेत्तथा ॥२३॥
पुंसि न प्रीयति वधूः शुभश्चेत्पुरुषप्रिया ।
सात्त्विकाश्चन्द्रजीवार्का राजसौ भृगुसोमजौ ॥२४॥
तामसौ शनिभूपुत्रौ एवं स्त्रीपुंगणाः स्मृताः ।

इति कामकाण्डः ।

अथ पुत्रोत्पत्तिकाण्डः ।

पुत्रोत्पत्तिनिमित्तेषु प्रश्ने स्त्रीभिः कृते सति ।
छत्रारूढोदये जीवो राहुश्चेद्गर्भमादिशेत् ॥१॥
लग्नाद्वा चन्द्रलग्नाद्वा त्रिकोणे सप्तमेऽपि वा ।
बृहस्पतिः स्थितो वापि यदि पश्यति गर्भिणी ॥२॥
शुभवर्गेण युक्तश्चेत् सुखप्रसवमादिशेत् ।
अरिनीचग्रहैर्युक्ते सुतारिष्टं भविष्यति ॥३॥
प्रश्नकाले तु परिघौ दृष्टे गर्भवती भवेत् ।
तदन्तस्थग्रहवशात् पुंस्त्रीभेदं वदेद्बुधः ॥४॥
यत्र तत्र स्थितश्चन्द्रः शुभयुक्ते तु गर्भिणी ।
लग्नात्त्रिनवभूतेषु शुक्रादित्येन्दवः क्रमात् ॥५॥
तिष्ठन्ति चेन्न गर्भः स्यादेकस्मिन् स्थितान् च ।
स्त्रीपुंविवेके गर्भिण्याः पृष्टे वा तत्कालिके ॥६॥
परिवेषादिकैः दृष्टे तस्या गर्भो विनश्यति ।
लग्नादोजस्थिते चन्द्रे पुत्रं सूते समे सुताम् ॥७॥
वशान्नक्षत्रवर्णानां यथा योगं सुतं सुताम् ।
लग्नतृतीयनवमे सप्तमैकादशेऽपिवा ॥ ८ ॥
भानुः स्थितश्चेत् पुत्रः स्यात्तथैव च शनैश्चरः ।
ओजस्थानगताः सर्वे ग्रहाश्चेत्पुत्रसंभवः ॥९॥
समस्थानगताः सर्वे यदि पुत्री न संशयः ।
आरूढात्सप्तमं राशिं यावच्छीतांशुरेष्यति ॥१०॥
तावन्नक्षत्रसंख्याकैः सा सूते दिवसे सुतम् ॥

इति पुत्रोत्पत्तिकाण्डः ।

अथ सुतारिष्टकाण्डः ।

सुतारिष्टमथो वक्ष्ये सद्यः प्रत्ययकारणम् ।
लग्नषष्ठे स्थिते चन्द्रे तदस्ते पापसंयुते ॥१॥
मातुः सुतस्य मरणं किन्तु पञ्चमषष्ठयोः ।

पापास्तिष्ठन्ति चेन्मातुर्मरणं भवति ध्रुवम् ॥२॥
पञ्चमे यदि पापाः स्युर्जातः पुत्रो विपद्यते ।
द्वादशे चन्द्रसंयुक्ते पुत्रवामादिनाशनम् ॥३॥
व्ययस्थे भास्करे नश्येत् पुत्रदृग्गालोचनम् ।
पापाः पश्यन्ति भानुं चेत् पितुर्मरणमादिशेत् ॥४॥
चन्द्रेण युक्ते दृष्टे वा मातुर्मरणमादिशेत् ।
चन्द्रादित्यौ गुरुः पश्येत् पित्रोः स्थितिमितीरयेत् ॥५॥
यदि लग्नगतो राहुर्जीवदृष्टिविवर्जितः ।
जातस्य मरणं शीघ्रं भवेद्वत्र न संशयः ॥६॥
द्वादशस्थौ अर्कचन्द्रौ नेत्रयुग्मं विनश्यति ।
षष्ठे वा पञ्चमे पापाः पश्यन्तीन्दुदिवाकरौ ॥७॥
पित्रोर्मरणमेवास्ति तयोर्मन्दः स्थितो यदि ।
भ्रातृनाशं तथा भौमे मातुलस्य मृतिं वदेत् ॥८॥
उदयादित्रिकस्थेषु कण्टकेषु शुभा यदि ।
मित्रस्वान्युग्मवर्गेषु सर्वारिष्टं विनश्यति ॥९॥
लग्नञ्च चन्द्रलग्नञ्च जीवो यदि न पश्यति ।
पापाः पश्यन्ति चेत्पुत्रा व्यभिचारेण जायते ॥१०॥
इति ज्ञात्वा वदेद्धीमान् शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ।
इति सुतारिष्टकाण्डः ।

अथ क्षुरिकाकाण्ड ।

क्षुरिकालक्षणं सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथा तथा ।
राहुणा सहिते चन्द्रे शस्त्रभंगो भविष्यति ॥१॥
नीचारिस्थास्तु पश्यन्ति यदि खड्गस्य भंजनम् ।
शुभग्रहयुते चन्द्रे दृष्टे शास्त्रं शुभं वदेत् ॥२॥
पापग्रहसमे तेषु छत्रारूढोदयेषु च ।
तेषु दृष्टः स्थितः किन्तु तत्रलग्ने हतो भवेत् ॥३॥
अथवा कलहः खड्गः परेणापहतो भवेत् ।
तेषु स्थानेषु सौम्येषु खड्गस्तु शुभदो भवेत् ॥४॥

प्रदर्शितस्य खड्गस्य लग्ने वा पापसंयुते।
खड्गस्यादावृणं ब्रूयात् त्रिकोणे पापसंयुते ॥५॥
शस्त्रभङ्गस्थितो व्योम्नि चतुर्थे पापसंयुते।
खड्गस्य भंगो मध्ये स्यादिति ज्ञात्वा वदेत्सुधीः ॥६॥
एकादशे तृतीये च पापे शस्त्राग्रभंजनम्।
मित्रस्वाम्युच्चनीचादिवर्गानधिगताग्रहाः ॥७॥
तत्तद्वर्गस्थलायातं शस्त्रमित्यभिधीयते।
सम्मुखे यदि खड्गः स्यात्तदीयं खड्गमुच्यते ॥८॥
तिर्यग्मुखश्चेत्तत्कलत्रमन्यशस्त्रं वदेत्सुधीः।
अधोमुखश्चेत्संग्रामेच्युतमाहृतमुच्यते ॥ ९ ॥
तत्तच्चेष्टानुरूपेण स्यात्याहरणादिस्मृतिः।
ग्रहपाकोणभेदेन शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥१०॥

इति छुरिकाकाण्डः

——:*:——

अथ शल्यकाण्डः।

शल्यप्रश्ने तु तत्काले पादभावतुनेत्रयुक्।
अर्कवीता नृपैभक्ता शेषाणां फलमुच्यते ॥१॥
कपालास्थीष्टकालोष्ठा काष्ठैर्दविसृतयः।
सर्वाङ्गारकधान्यानि स्वर्णपाषाणदर्दुराः ॥२॥
गोऽस्थिश्वास्थिपिशाचादिकमात्स्यल्यानि षोडश।
येषु शल्येषु मणङ्कस्वर्णगोस्थिमधान्यकाः ॥३॥
इष्टाश्चेदुत्तमं चान्ये सर्वे स्युरशुभाः स्थिताः।
अष्टाविंशतिकोष्ठेषु वह्निदिष्ट्यादिकं न्यसेत् ॥४॥
यत्र भे तिष्ठति शशी तत्र शल्यमुदाहृतम्।
उदयर्तादिकं न्यस्येदष्टाविंशतिकोष्ठके ॥५॥
गणयेच्चन्द्रनक्षत्रं तत्र शल्यं प्रकीर्त्तितम्।
शंकास्थलस्य विस्तारौ यामावन्योन्यताडितौ ॥६॥
विशल्यापहृतं शिष्टमरत्निरिति कीर्त्तितम्।

रश्मिर्गुणित्वा नवभिर्नखातं तालमुच्यते ॥७॥
तत्प्रादेशं प्रगुणयांङ्गैश्च तं विंशतिभिर्यदि।
शेषमङ्गुलमेवोक्तं रश्मिप्रादेशमङ्गुलम् ॥८॥
एवं क्रमेणरश्म्याद्यमगाधं कथयेद्बुधः।
केन्द्रेषु पापयुक्तेषु पृष्टं शल्यं न दृश्यते ॥९॥
शुभग्रहयुतेष्वेषु शल्यं तत्र प्रजायते।
पापसौम्ययुते केन्द्रे शल्यमस्तीति निर्दिशेत् ॥१०॥
रविः पश्यति नेद्देश्यं कुजश्चेद्ग्रहराक्षसान्।
केन्द्रे चन्द्रारसहिते कुजनक्षत्रकोष्ठके ॥११॥
श्वशल्यं विद्यते तत्र केन्द्रे जीवेन्दुसंयुते।
जीवस्थांशुगते कोष्ठे स्वर्णगोपुरवास्थिनी ॥१२॥
केन्द्रे बुधेन्दुसंयुक्ते बुधनक्षत्रकोष्ठके।
श्वशल्यं विद्यते तत्र केन्द्रे शुक्रेन्दुसंयुते ॥१३॥
शुक्रस्थितर्क्षके कोष्ठे रौप्यं श्वेतशिलापि वा।
बुधारूढकेन्द्रेषु स्वर्भानुर्यदि तिष्ठति ॥१४॥
राहुताराशुते कोष्ठे वल्मीकं समुदीरयेत्।
शुभाः केन्द्रगताः पापैः पश्यन्ति बलिभिर्यदि ॥१५॥
तदा नीचारियुक्ताश्चेत्तत्र शल्यं न विद्यते।
शुक्रेन्दुजीवसौम्याश्च केन्द्रस्थानगता यदि ॥१६॥
तत्रैव दृश्यते शल्यं कण्टकस्थाः शुभं वदेत्।
स्वक्षेत्रोच्चगताः सौम्याः लग्नकेन्द्रगता यदि ॥१७॥
तत्क्षेत्रे विद्यते शल्यं तेषु पापा यदि स्थिताः।
देवपत्तिपिशाचाद्यास्तत्र तिष्ठन्त्यसंशयम् ॥१८॥
ग्रहांशुसंख्यया तेषां खातमानं वदेत् सुधीः।
पञ्चषट्सप्तभूतानि सपादैकं तथैव च ॥१९॥
सार्धरूपाश्चीत्र्ययः सूर्यादीनां कराः स्मृताः।
स्वशल्यगाधमनेनैव करेण परिमाणयेत् ॥२०॥

इति शल्यकाण्डः।

अथ कूपकाण्डः ।

अथ वक्ष्ये विशेषेण कूपखातविनिर्णयम् ।
आयामे चाष्टरेखाः स्युस्तीर्यग्रेखास्तु पञ्च च ॥१॥
एवं कृते भवेत्कोष्ठा अष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
प्रभाते प्राङ्मुखो भूत्वा कोष्ठेष्वेतेषु बुद्धिमान् ॥२॥
चक्रमालोकयेद्विद्वान् रात्रावुदुत्तराननः ।
मध्याह्ने मुखमारभ्य मैत्रभाद्यं निशामुखे ॥३॥
ईशकोष्ठद्वयं त्यक्त्वा तृतीयादिविषु क्रमात् ।
कृतिकादित्रयं न्यस्य तद्धो रौद्रभं न्यसेत् ॥४॥
तदुत्तरं त्रयेष्वेव पुनर्वस्वादिकं त्रयम् ।
तत्पश्चिमादियाम्येषु मघाचित्रावसानकम् ॥५॥
तत्पूर्वकोष्ठयोः स्वातीविशाखे न्यस्य तत्परम् ।
प्रदक्षिणक्रमाद्वह्निनक्षत्रान्ताश्च तारकाः ॥६॥
मध्याह्ने दक्षिणाशास्यः पश्चिमास्यो निशामुखे ।
अर्द्धरात्रे धनिष्ठाद्यं पूर्ववत् गणयेत् क्रमात् ॥७॥
आग्नेय्यां दिशि नैऋत्यां वायव्यां कोष्ठकद्वयम् ।
त्यक्त्वा प्रत्येकमेवं हि तृतीयाद्यं विलेखयेत् ॥८॥
दिनार्धं समभिह्वत्य तल्लब्धं नाडिकादिकम् ।
ज्ञात्वा तत्तत्प्रमाणेन कृतिकादीनि विन्यसेत् ॥९॥
यन्नक्षत्रं तदा सिद्धं प्रश्नकाले विशेषतः ।
कृतिकास्थानमारभ्य पूर्ववद्गणयेत्सुधीः ॥१०॥
यत्कोष्ठे चन्द्रनक्षत्रं तत्रादयनमालिखेत् ।
तदादीनि क्रमेणैव पूर्ववद्गणयेत्सुधीः ॥११॥
यत्रेन्दुर्दृश्यते तत्र सम्पूर्णमुदकं भवेत् ।
जीवनक्षत्रकोष्ठेषु जलमस्तीत्युदाहरेत् ॥१२॥
तुलावृषककुम्भालिमीनकर्यालिराशयः ।
जलरूपास्तदुदये जलमस्तीति निर्दिशेत् ॥१३॥
तत्रस्थौ शुक्रचन्द्रौ चेदस्ति तत्र बहूदकम् ।
बुधजीवोदये तत्र किञ्चिज्जलमितीरयेत् ॥१४॥
एतान् राशीन् प्रपश्यन्ति यदि शन्यर्कभूमिजाः ।

जलं न विद्यते तत्र फणिदृष्टे बहूदकम् ॥१५॥
अधस्तादुदयारूढे तच्छत्रे चोपरि स्थिते ।
जलग्रहयुते दृष्टे अधस्तात्स्यादधोजलम् ॥१६॥
उच्चे दृष्टे ग्रहे राशौ उच्चमेवोदकं भवेत् ।
ऊर्ध्वाधस्थलयोः पापाः तिष्ठन्ति यदि नोदकम् ॥१७॥
अधोजलं चतुःस्थाने नाधस्ताद्यागमं वदेत् ।
दशमे नवमे वर्गे केचिदाहुर्मनीषिणः ॥१८॥
जलाजलग्रहवशात् जलनिर्णयमादिशेत् ।
केन्द्रेषु तिष्ठतश्चन्द्रो जीवो यदि शुभोदकम् ॥१९॥
चन्द्रशुक्रयुते केन्द्रे पर्वतेऽपि जलं भवेत् ।
चन्द्रसौम्ययुते केन्द्रे जीर्णं स्याल्लवणोदकम् ॥२०॥
आरूढात्केन्द्रके चन्द्रे परिख्यातिभिरान्विते ।
अधोजलं ततोऽगाधं पूर्वोक्तग्रहरश्मिभिः ॥२१॥
शुक्रेण सौम्ययुक्तेन कषायजलमादिशेत् ।
कन्यामिथुनगः सौम्यो जलं स्यादन्तरालकम् ॥२२॥
भास्करे क्षारसलिलं परिचेयं धनुर्यदि ।
राहुणा संयुते मन्दे जलं स्यादन्तरालकम् ॥२३॥
बृहस्पतौ राहुयुते पाषाणो जायतेतराम् ।
शुक्रे चन्द्रयुते राहौ अगाधजलमेधते ॥२४॥
अर्कस्योन्नतभूमिः स्यात् पाषाणा कण्टकस्थली ।
नालिकेरादिपुंनागपूगयुक्ता क्षमा गुरोः ॥२५॥
शुक्रस्य कदली वल्ली बुधस्य पनसं वदेत् ।
बल्लिका केतकी राहोरिति ज्ञात्वा वदेद्बुधः ॥२६॥
शनिराहुद्वयं काष्ठोरगवल्मीकदर्शनम् ।
स्वामिदृष्टियुते वापि स्वकीयमिति कीर्तयेत् ॥२७॥
अन्यैः युक्तेऽथवा दृष्टे परकीयस्थलं वदेत् ।

इति कूपकाण्डः ।

इस काण्ड का श्लोकक्रम "भवन" की प्रति के अनुकूल है ।

अथ सेनाकाण्डः ।

सेनस्यागमनं वक्ष्ये शत्रोरागमनं तथा ।
चरोदये चरारूढे पापाः प्रश्नमगा यदि ॥१॥
सेनागमनमस्तीति कथयेच्छास्त्रवित्तमः ।
चतुष्पादुदये जाने युग्मे राश्युदयेऽपि वा ॥२॥
लग्नस्याधिपतौ वक्रे सेना प्रतिनिवर्तते ।
आरूढादुदयाः कुम्भकुलीरालिझषा यदि ॥३॥
चरोदये चरारूढे भौमार्किगुरवो यदि ।
चतुर्थकेन्द्रे बलिनो यदि सेना निवर्तते ॥४॥
तिष्ठन्ति यदि पश्यन्ति सेना याति महत्तरा ।
आरूढे स्वामिमित्रोच्चग्रहयुक्तेऽथ वीक्षिते ॥५॥
स्थायिनो विजयं ब्रूयात् यायिनश्च पराजयम् ।
एवं छत्रे विशेषोऽस्ति विपरीते जयो भवेत् ॥६॥
आरूढे बलसंयुक्ते स्थायी विजयमाप्नुयात् ।
यायी विजयमाप्नोति छत्रे बलसमन्विते ॥७॥
आरूढे नीचरिपुभिर्ग्रहैर्युक्तेऽथ वीक्षिते ।
स्थायी परगृहीतस्य छत्रेऽप्येवं विपर्यये ॥८॥
शुभोदये तु पूर्वाह्णे यायिनो विजयो भवेत् ।
शुभोदये तु सायाह्ने स्थायी विजयमाप्नुयात् ॥९॥
छत्रारूढोदये वापि पुंराशौ पापसंयुते ।
तत्काले पृच्छकानां सद्यः कलहो जायते महान् ॥१०॥
पृष्ठोदये तथारूढे पापैर्युक्तेऽथ वीक्षिते ।
दशमे पापसंयुक्ते चतुष्पादुदयेऽपि वा ॥११॥
कलहो जायते शीघ्रं सन्धिः स्याच्छुभवीक्षिते ।
दशमाद्राशिषट्केषु शुभराशिषु चेत् स्थिताः ॥१२॥
स्थायिनो विजयं ब्रूयात् तद्भावे चेन्द्रियोर्जयम् ।
पापग्रहयुते तद्वन्मिश्रे सन्धिः प्रजायते ॥१३॥
उभयत्र स्थिताः पापाः बलवन्तः समो जयः ।
तुर्यादिराशिभिःषड्भिरागतस्य फलं वदेत् ॥१४॥
(तदन्य राशिभिः षड्भिः स्थायिनः फलमादिशेत्)

एवं ग्रहस्थितिवशात् पूर्ववत् कथयेद्बुधः।
ग्रहोदये विशेषोऽस्ति शन्यर्काङ्गारकोदये ॥१५॥
आगतस्य जयं ब्रूयात् स्थायिनो भंगमादिशेत्।
बुधशुक्रोदये सन्धिः जयी स्थायी गुरूदये ॥१६॥
पंचमद्यूलाभरिस्फेषु तृतीयेऽर्किः स्थितो यदि।
आगतः स्त्रीधनादीनि हृत्वा वस्तूनि गच्छति ॥१७॥
द्वितीये दशमे सौरिः यदि सेनासमागमः।
यदि शुक्रस्थितः षष्ठे यांम्यसन्धिर्भविष्यति ॥१८॥
चतुर्थे पञ्चमे शुक्रो यदि तिष्ठति तत्क्षणात्।
स्त्रीधनादीनि वस्तूनि यायी हृत्वा प्रयास्यति ॥१९॥
सप्तमे शुक्रसंयुक्ते स्थायी भवति दुर्लभः।
नवाष्टसप्तसहजान् विनान्यत्र कुजो यदि ॥२०॥
स्थायी विजयमाप्नोति परसेनासमागमे।
चन्द्रे षष्ठे स्थितो यदि परसेनासमागमः ॥२१॥
चतुर्थे पञ्चमे चन्द्रे यदि स्थायी जयी भवेत्।
तृतीये पञ्चमे भानुः यदि सेनासमागमः ॥२२॥
मित्रस्थानस्थितः सन्धिर्नीचेत् स्थायी जयी भवेत्।
चतुर्थे विपदः स्थायी रिस्फे तु स्थायिनो मृतिः ॥२३॥
उदयात् सहजे सौम्ये द्वितीये यदि भास्करः।
स्थायिनो विजयं ब्रूयात् व्यत्यये यायिनो जयम् ॥२४॥
ससौम्ये भास्करे युक्ते स्मरं युद्धं वदेद्बुधः।
लग्नात्पञ्चमगे सौम्ये यायी भवति चार्थदः ॥२५॥
द्वित्रिस्थे सोमजे यायी विजयी भवति ध्रुवम्।
दशमैकादशे रिस्फे स्थायी विजयमेष्यति ॥२६॥
अर्कलाभस्थिते यायी हतशत्रुः सबान्धवः।
शत्रुनीचस्थिते सूर्ये स्थायिनो भङ्गमादिशेत् ॥२७॥
उदयात्पञ्चमे भ्रातृव्ययेषु धिषणो यदि।
यायी भंगं समायाति द्वितीये सन्धिरुच्यते ॥२८॥
दशमैकादशे जीवो यदि यात्यर्थदो भवेत्।
चन्द्रादित्यौ समस्थाने सन्धिः स्यात्तिष्ठतो यदि ॥२९॥

विपरीतेषु युद्धं स्यात् भानौ द्वादशके विधौ।
तत्र युद्धं न भवति शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥३०॥
चरराशिस्थिते चन्द्रे चरराश्युदयेऽपि वा।
आगतारिर्हि सन्धानं विपरीते विपर्ययः ॥३१॥
युग्मराशिगते चन्द्रे युग्मराश्युदयेऽपि वा।
अर्धमार्गं समागत्य सेना प्रतिनिवर्तते ॥३२॥
सिंहाद्या राशयः षट् च स्थायिनो भास्करात्मकाः।
कर्काद्विलोमाः षट् च यायिनश्चन्द्ररूपिणः ॥३३॥
स्थायी यायी क्रमेणैवं ब्रूयाद्ग्रहवशात् फलम्।

इति सेनाकाण्डः।

——:*:——

अथ यात्राकाण्डः।

यात्राकाण्डं प्रवक्ष्यामि सर्वेषां हितकाङ्क्षया।
गमनागमनञ्चैव लाभालाभौ शुभाशुभौ ॥१॥
विचार्य कथयेद्विद्वान् पृच्छतां शास्त्रवित्तमः।
मित्रक्षेत्राणि पश्यन्ति यदि मित्रग्रहास्तदा ॥२॥
मित्रस्यागमनं ब्रूयात् नीचान्नीचग्रहा यदि।
नीचाय गमनं ब्रूयात् उच्चःतुच्चग्रहाणि च ॥३॥
स्वाधिकागमनं ब्रूयात् पुंराशि पुंग्रहा यदि।
पुरुषागमनं ब्रूयात् स्त्रीराशि स्त्रीग्रहा यदि ॥४॥
स्त्रीणामागमनं ब्रूयादन्येष्वेवं विचारयेत्।
चरराश्युदयारूढे तत्तद्ग्रहविलोकने ॥५॥
तत्तद्दाशासु गच्छन्ति पृच्छतां शास्त्रनिर्णयः।
स्थिरराश्युदयारूढे शन्यर्काङ्गारकाः स्थिताः ॥६॥
अथवा दशमे वा चेद् गमनागमने न च।
शुक्रसौम्येन्दुजीवाश्च तिष्ठन्ति स्थिरराशिषु ॥७॥
विद्यते स्वेष्टसिद्ध्यर्थं गमनागमने तथा।
स्थितिप्रश्ने स्थितिं ब्रूयान्मस्तकोदयराशिषु ॥८॥

पृष्ठोदये तु गमनं क्रमेण शुभदं वदेत् ॥९॥
द्वितीये च तृतीये च तिष्ठन्ति यदि पुंग्रहाः ।
त्रिदिनात्पत्रिकायाति दूतो वा प्रेषितस्य च ॥१०॥
लग्नार्थे सहजव्योमलाभेष्विन्दुज्ञभार्गवाः ।
तिष्ठन्ति यदि तत्काले चावृत्तिः प्रोषितस्य च ॥११॥
शुभदृष्टे शुभयुते जीवे वा केन्द्रमागते ।
बुधजीवौ त्रिकोणे वा प्रोषितागमनं वदेत् ॥१२॥
चतुर्थे द्वादशे वापि तिष्ठन्ति चेच्छुभग्रहाः ।
पत्रिका प्रोषिताद्वार्ता समायाति न संशयः ॥१३॥
षष्ठे वा पञ्चमे वापि यदि पापग्रहाः स्थिताः ।
प्रोषितो व्याधिपीडार्थं समायाति न संशयः ॥१४॥
चापोक्षनागसिंहेषु यदि तिष्ठति चन्द्रमाः ।
चिन्तितस्तत्तदायाति चतुर्थे चेत्तदागमः ॥१५॥
स्वोच्चस्वक्षेत्रेषु तिष्ठन्ति शुक्रजीवेन्दुसोमजाः ।
प्रयाणागमनं ब्रूयात् तत्तद्दशासु सर्वदा ॥१६॥
ग्रहाः स्वक्षेत्रमायान्ति यावत्तावत्फलं वदेत् ।
ग्रहगृहं प्रविष्टे वा पृष्टतोऽपि ग्रहं गतः ॥१७॥
चतुर्थान्तान्तरगतः मार्गमध्ये फलं वदेत् ।
मध्यान्तरगतैर्वाच्यं गजदेशे शुभावहम् ॥१८॥
शुभग्रहवशात्सौख्यं पीडां पापग्रहैर्वदेत् ।
सप्तमाष्टमयोः पापास्तिष्ठन्ति यदि च ग्रहाः ॥१९॥
प्रोषितो हृतसर्वस्वस्तत्रैव मरणं व्रजेत्
षष्ठे पापयुते मार्गगामी बद्धो भविष्यति ॥२०॥
जलराशिस्थिते पापे चिरेणायाति चिन्तितः ।
इति ज्ञात्वावदेद्धीमान् शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ॥२१॥

इति यात्राकाण्डः ।

अथ वृष्टिकाण्डः ।

जलराशिषु लग्नेषु जलग्रहनिरीक्षणे ।
कथयेद्वृष्टिरस्तीति विपरीते न वर्षति ॥१॥
जलराशिषु शुक्रेन्दू तिष्ठतो वृष्टिरुत्तमा ।
जलराशिषु तिष्ठन्ति शुक्रजीवसुधाकराः ॥२॥
आरूढोदयराशी चेत् पश्यन्त्यधिकवृष्टयः ।
एते स्वक्षेत्रमुच्चं वा पश्यन्ति यदि केन्द्रभम् ॥३॥
त्रिचतुर्दिवसादन्तर्महावृष्टिर्भविष्यति ।
लग्नाच्चतुर्थे शुक्रःस्यात्तद्दिने वृष्टिरुत्तमा ॥४॥
तत्र पृष्ठोदये जाते पृष्ठोदयग्रहेक्षिते ।
तत्काले परिवेषादिदृष्टे वृष्टिर्महत्तरा ॥५॥
केन्द्रे षु मन्दभौमज्ञराहवो यदि संस्थिताः ।
वृष्टिर्नास्तीति कथयेदथवा चण्डमारुतः ॥६॥
पापसौम्यविमिश्रैश्च अल्पवृष्टिः प्रजायते ।
चापस्थौ मन्दराहू चेत् वृष्टिर्नास्तीति कीर्तयेत् ॥७॥
शुक्रकार्मुकसन्धिश्चेद्धारावृष्टिर्भविष्यति ।

इति वृष्टिकाण्डः ।

अथ अर्घ्यकाण्डः ।

उच्चेन दृष्टे युक्ते वात्यर्घ्यं वृद्धिर्भविष्यति ।
नीचेन युक्ते दृष्टे वा स्यादर्घ्यक्षय ईरितः ॥१॥
मित्रस्वामिवशात् सौम्यामित्रं ज्ञात्वा वदेत्सुधीः ।
शुभग्रहयुते वृद्धिरशुभै रर्घ्यनाशनम् ॥२॥
पापग्रहयुते दृष्टे त्वर्घ्यावृद्धिक्षयो भवेत् ॥

इति अर्घ्यकाण्डः ।

—:o:—

अथ नौकाण्डः ।

जलराशिषु लग्नेषु शुक्रजीवेन्दवो यदि ।
पोतस्यागमनं ब्रूयादशुभश्चेन्न सिद्ध्यति ॥१॥
आरूढछत्रलग्नेषु वीक्षितेष्वशुभग्रहैः ।
पोतभंगो भवेन्नीचशत्रुभिर्वा तथा भवेत् ॥२॥
पृष्ठोदयग्रहैर्लग्ने संदृष्टे नौर्व्रजेत्स्थलम् ।
तद्ग्रहे तु यथा दृष्टे तथा नौदर्शनं वदेत् ॥३॥
चरराश्युदये क्रूरे दूरमायाति नौस्तथा ।
चतुर्थे पञ्चमे चन्द्रो यदि नौः शीघ्रमेष्यति ॥४॥
द्वितीये वा तृतीये वा शुक्रश्चेन्नौसमागमः ।
अनेनैव प्रकारेण सर्वं वीक्ष्य वदेद्बुधः ॥५॥

इति नौकाण्डः ।

इति ज्ञानप्रदीपिकानाम ज्यौतिषशास्त्रम् सम्पूर्णम् ।

ज्ञान-प्रदीपिका

(ज्योतिषशास्त्रम्)

श्रीमद्वीरजिनाधीशं सर्वज्ञं त्रिजगद्गुरुम् ।
प्रातीहार्याष्टकोपेतं प्रकृष्टं प्रणमाम्यहम् ॥१॥

त्रैलोक्यनायक, सर्वज्ञ, 'अशोक वृक्षादि आठ प्रातिहार्यों से युक्त, प्रकृष्ट श्रीमहावीर-स्वामी को मैं प्रणाम करता हूं।

स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मायां भारतीमार्हतीं सतीम् ।
अतिपूतामद्वितीयामहर्निशमभिष्टुवे ॥२॥

स्थिति, उत्पत्ति, और प्रलयस्वरूपिणी, पूज्या सती, अत्यन्त पवित्र और अद्वितीय श्रीजिनवाणी देवी को मैं (ग्रन्थकार) रातदिन स्तुति करता हूं।

ज्ञानप्रदीपकं नाम शास्त्रं लोकोपकारकम् ।
प्रश्नादर्शं प्रवक्ष्यामि पूर्वशास्त्रानुसारतः ॥३॥

पहले के कहे हुए शास्त्रोंके अनुसार लोक के उपकारक ज्ञानप्रदीपिका नामक प्रश्नतंत्र के आदर्श शास्त्र को कहूंगा।

भूतं भव्यं वर्तमानं शुभाशुभनिरीक्षणम् ।
पंचप्रकारमार्गं च चतुष्केन्द्रबलाबलम् ॥४॥
आरूढछत्रवर्गं चाभ्युदयादिबलाबलम् ।
क्षेत्रं दृष्टिं नरं नारीं युग्मरूपं च वर्णकम् ॥५॥
मृगादिनररूपाणि किरणान्योजनानि च ।
आयूरसोदयाद्यञ्च परीक्ष्य कथयेद् बुधः ॥६॥

भूत, भविष्य, वर्तमान, शुभाशुभ दृष्टि, पाँच मार्ग, चार केन्द्र, बलाबल, आरूढ़, छत्र, वर्ग, उदय बल, अस्तबल, क्षेत्र, दृष्टि, नर, नारी, नपुंसक, वर्ण, मृग तथा नर आदि रूप किरण, योजन, आयु, रस, उदय आदि की परीक्षा करके बुद्धिमान् को फल कहना चाहिये।

चरस्थिरोभयान् राशीन् तत्प्रदेशस्थलानि च।
निशादिवससंध्याश्च कालदेशस्वभावतः ॥७॥

चर, स्थिर, द्विस्वभाव राशियाँ, उनके प्रदेश, दिन, रात, सन्ध्या का कालादेश, राशियों का स्वभाव:—

धातुमूलं च जीवं च नष्टं मुष्टिं च चिन्तनम्।
लाभालाभं गदं मृत्युं भुक्तं स्वप्नं च शाकुनम् ॥८॥

धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन और शकुन सम्बन्धी प्रश्न —

जातकर्मायुधं शल्यं कोपं सेनागमं तथा।
सरिदागमनं वृष्टिमध्यां नौसिद्धिमादितः ॥९॥

जन्म कर्म, अस्त्र, शल्य (हड्डी), कोप, सेना का आगमन, नदियों की बाढ़, वर्षा, अवर्षण, नौकासिद्धि आदि.—

क्रमेण कथयिष्यामि शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके।

इन बातों को इस ज्ञानप्रदीपक शास्त्र में क्रमशः कहूंगा।

इत्युपोद्घातकाण्डः

अथ वक्ष्ये विशेषेण ग्रहाणां मित्रनिर्णयम् ॥१०॥

अब ग्रहोंकी मैत्री का वर्णन करेंगे।

भौमस्य मित्रं शुक्रज्ञौ भृगोर्ज्ञारार्किमंत्रिणः।
आदित्यस्य गुरुर्मित्रं शनेर्विद्गुरुभार्गवाः ॥१॥
भास्करेण विना सर्वे बुधस्य सुहृदस्तथा।
चन्द्रस्य मित्रं जीवज्ञौ मित्रवर्गमुदाहृतम् ॥२॥

मंगल के मित्र शुक्र और बुध, शुक्र के बुध, मंगल, शनि और बृहस्पति; सूर्य के बृहस्पति, शनि के बुध, बृहस्पति और शुक्र, बुध के मित्र सूर्य को छोड़ कर सभी तथा चन्द्रमा के मित्र बृहस्पति और बुध हैं।

सिंहस्याधिपतिः सूर्यः कर्कटस्य निशाकरः।
मेषवृश्चिकयोर्भौमः कन्यामिथुनयोर्बुधः ॥३॥
धनुर्मीनयोर्मंत्री तुलावृषभयोर्भृगुः।
शनिर्मकरकुंभयोश्च राशीनामधिपा इमे ॥४॥

सिंह राशि का स्वामी सूर्य, कर्क का चन्द्रमा, मेष वृष का मंगल, कन्या और मिथुन का बुध, धनु और मीन का बृहस्पति, तुला और वृष का शुक्र, मकर और कुंभ का स्वामी शनि हैं।

धनुर्मिथुनपाठीनकन्योक्षाणां शनिः सुहृत्।
रविश्चापान्त्ययोरारः तुलायुग्मोक्षयोषिताम् ॥५॥

धनु, मिथुन, मीन, कन्या, वृष राशियों का मित्र शनि है। धनु मीन का मित्र रवि है। तुला, मिथुन, वृष और कन्या का मित्र मंगल है।

कोदण्डमीनमिथुनकन्यकानां शशी सुहृत्।
बुधस्य चापनक्रालिकक्र्यजोक्षतुलाघटाः ॥६॥

धनु, मीन, मिथुन और कन्या का मित्र चन्द्रमा है। धनु, मकर, वृश्चिक, कर्क मेष, वृष, तुला और कुंभ का मित्र बुध है।

क्रियामिथुनकोदण्डकुंभालिमकरा भृगोः।
गुरोः कन्या तुला कुंभमिथुनोक्षमृगेश्वराः ॥७॥
राशिमैत्रं ग्रहाणां च मैत्रमेवमुदाहृतम्।

मेष, मिथुन, धनु, कुंभ वृश्चिक, मकर का मित्र शुक्र तथा कन्या, तुला, कुंभ, मिथुन, वृष, और मकर का मित्र गुरु है। इस प्रकार राशि और ग्रहों की मैत्री बताई गयी है।

सूर्येन्द्वोः परिधेर्जीवा धूमज्ञशनिभोगिनाम् ॥८॥
शक्रचापकुजेणानां शुक्रस्योच्चास्त्वजादयः।

सूर्य का मेष, चन्द्रमा का वृष, परिधि का मिथुन, बृहस्पति का कर्क, धूमका सिंह, बुध का कन्या, शनि का तुला, राहु का वृश्चिक, इन्द्र धनु का धन, मंगल का मकर, केतुका कुम्भ और शुक्र का मीन यह उच्च राशियां क्रमसे होती हैं ।

अत्युच्चं दर्शनं वह्निर्मनुयुक् युक् च तिथीन्द्रियैः ॥९॥
सप्तविंशतिकं विंशद्भागाः सप्तग्रहाः क्रमात् ।

सूर्य मेष में दश अंश पर, चन्द्रमा वृष में ३ अंश पर, मंगल मकर में २८ अंश पर, बुध कन्या में १५ अंश पर, बृहस्पति कर्क में ५ अंश पर, शुक्र मीन में २७ अंश पर, और शनि तुला में २० अंश पर उच्च के होते हैं ।

बुधस्य वैरी दिनकृत् चन्द्रादित्यौ भृगोररी ॥१०॥
बृहस्पते रिपुर्भौमः शुक्रसोमात्मजौ विना ।
शनेश्च रिपवः सर्वे तेषां तत्तद्ग्रहाणि च ॥११॥

बुध का वैरी सूर्य, शुक्र के शत्रु सूर्य और चन्द्र, बृहस्पति के मंगल, शनि के शत्रु बुध, शुक्र को छोड़कर सभी ग्रह हैं ।

रवेर्वणिगलिस्त्विन्दोः कुलीरोऽगारकस्य च ।
बुधस्य मीनोऽजः सौरेः कन्या शुक्रस्य कथ्यते ॥१२॥
सुराचार्यस्य मकरस्त्वेतेषां नीचराशयः ।

रवि की नीच राशि तुला, चन्द्रमा की वृश्चिक, मंगल की कर्क, बुध की मीन, बृहस्पति की मकर, शुक्र, की कन्या और शनि की मेष नीच राशि है ।

राहोर्वृषयुगशाक्रधनुष्केण मृगेश्वराः ॥१३॥
परिवेशस्य कोदण्डः कुंभो धूमस्य नीचभूः ।
मित्रस्तुला नक्रकन्यायुग्मचापझषास्त्वहेः ॥१४॥
कुंभक्षेत्रमहेः शत्रुः कुलीरो नीचभूः क्रियाः ।

राहु का वृष, इन्द्र धनु का सिंह, परिवेशका धनु धूम्र का कुम्भ ये नीच राशियाँ होती हैं । राहु के लिये तुला मकर कन्या मिथुन धनु और मीन ये मित्र राशियां होती हैं और कुंभ राशि शत्रु राशि कही जाती है तथा कर्क मेष ये नीच राशियां होती हैं ।

उदयादिचतुष्कं तु जलकेन्द्रमुदाहृतम् ॥१५॥
तच्चतुर्थं चास्तमयं तत्तुर्यं वियदुच्यते ।
तत्तुर्यमुदयं चैव चतुष्केन्द्रमुदाहृतम् ॥१६॥

लग्न से चौथे स्थान को जलकेन्द्र कहते हैं। चतुर्थ स्थान से जो स्थान चौथे हैं उसे अस्तमय कहते हैं। सप्तम स्थान से चतुर्थ स्थान को 'वियत' यानी दशम कहते हैं। उससे भी चौथे को उदय या लग्न कहा जाता है। ये चारों स्थान केन्द्र कहे जाते हैं।

चिन्तनायां तु दशमे हिबुके स्वप्नचिन्तनम् ।
छत्रे मुष्टिं चयं नष्टमाल्यश्चारूढतोऽपि वा ॥१७॥

चिन्ता के कार्य में दशम स्थान से और स्वप्नचिन्तन में चतुर्थ स्थान से तथा छत्र मुष्टि वृद्धि नष्टप्राप्ति इत्यादि बातों का ज्ञान लग्न से होता है।

चापोक्षकर्किनक्रास्ते पृष्ठोदयराशयः ।
तिर्यग्दिनबलाः शेषा राशयो मस्तकोदयाः ॥१८॥

धनु, वृष, कर्क, मकर—ये राशियाँ पृष्ठोदय हैं। और दिवाबली अर्थात् सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और कुंभ ये शीर्षोदय हैं। शेष राशियाँ भी शीर्षोदय हैं। बृहज्जातक के अनुसार मीन और मिथुन उभयोदय हैं।

अर्काङ्गारकमन्दास्तु सन्ति पृष्ठोदया ग्रहाः ।
राहुजीवभृगुज्ञाश्च ग्रहाः स्युर्मस्तकोदयाः ॥१९॥
उद्यतस्तिर्यगेवेन्दुः केतुस्तत्र प्रकीर्तितः ।

सूर्य, मंगल और शनि पृष्ठोदय ग्रह, राहु, बृहस्पति, शुक्र और बुध मस्तकोदय तथा केतु और चंद्र तिर्यगुदय ग्रह हैं।

उदये बलिनौ जीवबुधौ तु पुरुषौ स्मृतौ ॥२०॥
अन्ते चतुष्पदौ भानुभूमिजौ बलिनौ ततः ।
चतुर्थे शुक्रशशिनौ जलराशौ बलोत्तरौ ॥२१॥
अस्यहो बलिनौ चास्ते कीटकाश्च भवन्ति हि ।

बुध और बृहस्पति पुरुष ग्रह हैं और लग्न में बलवान् होते हैं। सूर्य और मंगल चतुष्पद ग्रह हैं और अस्त में बलवान् होते हैं। शुक्र और चन्द्र जलचर हैं और चतुर्थ तथा जल राशि में (कर्क मीन) बलवान् होते हैं। शनि और राहु कीट ग्रह हैं और अस्त यानी सप्तम में बलवान् होते हैं।

युग्मकन्याधनुःकुंभतुला मानुषराशयः ॥२२॥
अन्त्योदयौ मीनमृगौ अन्ये तत्तत्स्वभावतः।

मिथुन, कन्या, धनु, कुम्भ और तुला ये मनुष्य राशि हैं; मकर और मीन अन्त्योदय राशि हैं। शेष अपने अपने स्वभाव के अनुसार हैं।

चतुष्पादौ मेषवृषौ सिंहचापौ भवंति हि ॥२३॥
कुलीशाली बहुपादौ प्रक्षीणौ मृगमीनभौ।
द्विपादाः कुंभमिथुनतुलाकन्या भवंति हि ॥२४॥

मेष, वृष, सिंह और धनु ये चतुष्पद, कर्क और वृश्चिक ये बहुपाद, मकर और मीन ये क्षीण-पाद तथा कुंभ, मिथुन, तुला और कन्या ये द्विपाद राशि हैं।

द्विपादा जीववित्शुक्राः शन्यर्काराश्चतुष्पदाः।
शशिसर्पौ बहुपादौ शनिसौम्यौ च पक्षिणौ ॥२५॥
शनिसर्पौ जानुगतौ पद्भ्यां यान्तीतरे ग्रहाः।

बृहस्पति बुध शुक्र इनकी द्विपद संज्ञा है तथा शनि सूर्य मंगल इन ग्रहों की चतुष्पद संज्ञा कही गई है, चन्द्रमा राहु ये बहुपद तथा शनि बुध ये पक्षिसंज्ञक कहे जाते हैं, शनि और राहु की जानु गति होती है और इन से भिन्न ग्रह पैर से चलते हैं।

उदीयंतेऽजवीथ्यां तु चत्वारो वृषभादयः ॥२६॥
युग्मवीथ्यामुदीयन्ते चत्वारो वृश्चिकादयः।
उक्षवीथ्यामुदीयन्ते मीनमेषतुलास्त्रियः ॥२७॥

वृष, मिथुन, कर्क, सिंह ये मेष-वीथी में; वृश्चिक, धन मकर और कुंभ मिथुन-वीथी में; और मीन, मेष तुला और कन्या, वृष वीथी में कहे गये हैं।

राशिचक्रं समालिख्य प्रागादि वृषभादिकम् ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव द्वादशारूढसंज्ञितम् ॥२८॥
वृषश्चैव वृश्चिकस्य मिथुनस्य शरासनम् ।
मकरश्च कुलीरस्य सिंहस्य घट उच्यते ॥२९॥
मीनस्तु कन्यकायाश्च तुलाया मेष उच्यते ।

राशिचक्र लिख कर उसमें पूर्वादि क्रम से वृषादि राशियों को लिखे। वृष के दाहिने मिथुन और मिथुन के दाहिने कर्क इत्यादि। इस पर से क्रम से आरूढ़ इस प्रकार समझे। वृष का वृश्चिक, मिथुन का धनु, कर्क का मकर, सिंह का कुंभ, कन्या का मीन और तुला का मेष।

प्रतिसूत्रवशादेति परस्परनिरीक्षिताः ॥३०॥
गगनं भास्करः प्रोक्तो भूमिश्चन्द्र उदाहृतः ।

ग्रह एक सूत्रस्थ एक दूसरे को देखते हैं। सूर्य को आकाश और भूमि को चन्द्रमा समझना चाहिये।

पुमान् भानुर्वधूश्चन्द्रः खचक्रप्रणवादिभिः ॥३१॥
भूचक्रदेहश्चन्द्रः स्यादिति शास्त्रविनिश्चयः ।

सूर्य पुरुष ग्रह, चन्द्रमा स्त्री ग्रह, सूर्य खचक्र और चन्द्रमा भूमिचक्र देह कहा जाता है, यह निर्णय शास्त्र का निर्णय है।

रवेः शुक्रः कुजस्यार्कः गुरोरिन्दुरहेर्विदुः ॥३२॥
उदयादिक्रमेणैव तत्तत्कालं विनिर्दिशेत् ।

सूर्य के लिये शुक्र, मङ्गल के लिये सूर्य, बृहस्पति के लिये चन्द्रमा और राहु के लिये बुध लग्नादि क्रम से तात्कालिक आरूढ़ होते हैं, ऐसा आदेश करना।

इत्यारूढचक्राः

प्रष्टुरारूढभं ज्ञात्वा तद्विथ्यामवलोक्य च ।
आरूढाद्यावति विथिस्तावती रुदयादिका ॥१॥

पूछने वाले की आरूढ़ राशि का ज्ञान कर के फिर उसकी विद्या का ज्ञान करना चाहिये, आरूढ़ पर से उदय आदि का यथोक्त फल कहना चाहिये।

तद्राशिच्छत्रमित्युक्तं शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके।
आरूढां भानुगां वीथीं परिगण्योदयादिना ॥२॥

इसी को इस शास्त्र में राशि छत्र कहते हैं। लग्न (उदय) से सूर्य को जाने वाली वीथी की गणना करके—

तावता राशिना छत्रमिति केचित् प्रचक्षते।

जितनी राशि आये उसी को छत्र कहते हैं ऐसा किसी किसी का मत है।

मेषस्य वृषभं छत्रं मेषच्छत्रं वृषस्य च ॥३॥
युग्मकर्कटसिंहानां मेषच्छत्रमुदाहृतम्।
कन्यायाश्च परं छत्रं तुलाया वृषभस्तथा ॥४॥
वृषभस्य युगच्छत्रं धनुषो मिथुनं तथा।
नक्रस्य मिथुनच्छत्रम् मेषः कुंभस्य कीर्तितम् ॥५॥
मीनस्य वृषभच्छत्रं छत्रमेवमुदाहृतम्।

मेष का छत्र वृष, वृष का मेष मिथुन कर्क और सिंह का मेष, कन्या और तुला का मेष, वृश्चिक और धनु का मिथुन, मकर का भी मिथुन, कुंभ का मेष और मीन का वृष छत्र राशि है।

उदयात् सप्तमे पूर्णं अर्धं पश्येत्त्रिकोणभे ॥६॥
चतुरस्त्रे त्रिपादं च दशमे पादमेव च ॥

अपने से सप्तम स्थानीय ग्रह को ग्रह पूर्ण दृष्टि से देखता है, चतुरस्त्र का अर्थ केन्द्र है। पर, यहां केवल चतुर्थ मात्र में तात्पर्य है। तीन चरण से त्रिकोण (५, ९,) को आधा यानी दो चरण से और दशम को एक ही चरण से देखता है।

एकादशे तृतीये च पदार्धं वीक्षणं भवेत् ॥७॥

ग्यारहवें और तीसरे स्थान को ग्रह आधे चरण से देखता है।

रवीन्दुसितसौम्यास्तु बलिनः पूर्णवीक्षणे ।
अर्धेक्षणे सुराचार्य्यस्त्रिपादपादार्धयोः कुजः ॥८॥
पादेक्षणे बली सौरिः वीक्षणे बलमीरितम् ।

सूर्य, चंद्र, शुक्र और बुध पूर्ण दृष्टि में बली होते हैं, बृहस्पति आधी में, मंगल त्रिपाद और अर्द्ध में तथा शनि पाद दृष्टि में बली होते हैं —ऐसा दृष्टिबल कहा गया है।

तिर्यक् पश्यन्ति तिर्यञ्चो मनुष्याः समदृष्टयः ॥९॥
ऊर्द्ध्वेक्षणे पत्ररथाः अधोनेत्रं सरीसृपः ।

तिर्यग् योनि के ग्रह तिरछे देखते हैं, मनुष्यसंज्ञक ग्रह समदृष्टि अर्थात् सामने देखने वाले होते हैं। पत्ररथ ऊपर की ओर देखते हैं और सरीसृप संज्ञक ग्रह नीचे देखते हैं। ग्रहों की इस प्रकार की संज्ञायें पहले ही बता दी गयी हैं।

अन्योऽन्यालोकितौ जीवचन्द्रौ ऊर्द्ध्वेक्षणो रविः ॥१०॥
पश्यत्यरः कटाक्षेण पश्यतोऽथ कवीन्दुजौ ।
एकदृष्ट्यार्कनन्दौ च ग्रहाणामवलोकनम् ॥११॥

बृहस्पति और चंद्र एक दूसरे को देखते हैं। सूर्य ऊपर को देखता है। मंगल, शुक्र और बुध कटाक्ष से देखते हैं, सूर्य और शनि एक दृष्टि से देखते हैं–इस प्रकार ग्रहों का अवलोकन है।

मेषः प्राच्यां धनुःसिंहावग्नौ वृषश्च दक्षिणे ।
मृगकन्ये च नैऋत्यां मिथुनः पश्चिमे तथा ॥१२॥
वायुभागे तुलाकुम्भौ उदीच्यां कर्क उच्यते ।
ईशभागेऽलिमीनौ च नष्टद्रव्यादिसूचकाः ॥१३॥

नष्ट द्रव्यादि के सूचन के लिये राशियों की दिशायें इस प्रकार हैं। मेष पूर्व, धनु और सिंह अग्नि कोण, वृष दक्षिण, मकर और कन्या नैऋत्य कोण में, मिथुन पश्चिम, तुला, कुंभ वायव्य कोण, कर्क उत्तर तथा वृश्चिक और मीन ईशान में।

अर्कशुक्रारराह्वर्किचन्द्रज्ञगुरवः क्रमात् ।
पूर्वादीनां दिशामीशाः क्रमान्नष्टादिसूचकाः ॥१४॥

सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु, शनि, चंद्रमा, बुध और बृहस्पति ये ग्रह क्रमशः पूर्वादि-दिशाओं के स्वामी हैं।

मेषयुग्मधनुःकुम्भतुलासिंहाश्च पुरुषाः।
राशयोऽन्ये स्त्रियः प्रोक्ता ग्रहाणां भेद उच्यते ॥१५॥

मेष, मिथुन, धनु, कुंभ, तुला और सिंह ये पुरुषराशियाँ हैं बाकी स्त्रीराशि।

पुमान्सोऽर्कारगुरवः शुक्रेन्दुभुजगाः स्त्रियः।
मन्दज्ञकेतवः क्लीबा ग्रहभेदाः प्रकीर्तिताः ॥१६॥

ग्रहों में सूर्य, मंगल, बृहस्पति, ये पुरुषग्रह, शुक्र, चंद्र और राहु स्त्रीग्रह तथा शनि बुध और केतु ये क्लीब ग्रह हैं।

तुलाकोदण्डमिथुना घटयुग्मं नराः स्मृताः।
एकाकिनौ मेषसिंहौ वृषकर्कालिकन्यकाः ॥१७॥
एकाकिनः स्त्रियो प्रोक्ताः स्त्रीयुग्मौ मकरान्तिमौ।
एकाकिनोऽर्केन्दुकुजाः शुक्रज्ञार्काहिमन्त्रिणः ॥१८॥
एते युग्मग्रहाः प्रोक्ताः शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके।

तुला, धनु, मिथुन, कुंभ, मिथुन (?) ये पुरुषग्रह हैं, मेष सिंह ये एकाकी पुरुष हैं। वृष कर्क वृश्चिक कन्या ये एकाकी स्त्रीराशि हैं। मकर और मीन ये स्त्रीयुग्म कहे जाते हैं।

सूर्य चन्द्रमा मंगल ये एकाकी ग्रह हैं और शुक्र बुध शनि राहु बृहस्पति ये ग्रहयुग्म ग्रह के नाम से इस ज्ञान प्रदीपक में कहे गये हैं।

विप्राः कर्क्यालिमीनाश्च धनुःसिंहक्रिया (?) नृपाः ॥१९॥
तुलायुग्मघटा वैश्याः शूद्रा नक्रोक्षकन्यकाः।

कर्क, वृश्चिक, और मीन ये ब्राह्मण, धनु: सिंह और मेष ये क्षत्रिय, तुला मिथुन और कुंभ ये वैश्य तथा वृष मकर और कन्या ये शूद्रराशियाँ हैं।

नृपौ अर्ककुजौ विप्रौ बृहस्पतिनिशाकरौ ॥२०॥
बुधो वैश्यो भृगुः शूद्रो नीचावर्कभुजङ्गमौ।

ग्रहों में भी सूर्य मंगल क्षात्रय, बृहस्पति, और चंद्र ब्राह्मण, बुध वैश्य, शुक्र शूद्र और शनि तथा राहु नीच हैं।

रक्ताः मेषधनुःसिंहाः कुलीरोक्षतुलास्सिताः ॥२१॥
कुम्भालिमीनाः श्यामाः स्युः कृष्णयुग्मांगनामृगाः।

मेष, धनु और सिंह ये लाल, कर्क, वृष और तुला ये सफेद, कुंभ वृश्चिक और मीन ये श्याम तथा मिथुन कन्या और मकर ये कृष्ण वर्ण के हैं

शुक्रः सितः कुजो रक्तः पिङ्गलाङ्गो बृहस्पतिः ॥२२॥
बुधः श्यामः शशी श्वेतः रक्तः सूर्योऽसितः शनिः।
राहुस्तु कृष्णवर्णः स्यात् वर्णभेदा उदाहृताः ॥२३॥

शुक्र का वर्ण श्वेत, मंगल का लाल, गुरु का पिंगल, बुध का श्याम, चंद्रका श्वेत, सूर्य का लाल, शनि का कृष्ण, राहु का वर्ण काला है।

चतुरस्रं च वृत्तं च कृशमध्यंत्रिकोणकः।
दीर्घवृत्तं तथाष्टास्रं चतुरस्रायतं तथा ॥२४॥
दीर्घायतं क्रमादेते सूर्याद्याः क्रमशो मताः।

सूर्य आदि नव ग्रहों का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—चौकोना, वृत्ताकार, बीच में पतला, त्रिभुज, दीर्घवृत्त (अंडाकार) अष्टभुज, चौकोना आयत और लंबा।

पञ्चैकविंशयो द्वष्टौ नवदिक् षोडशाब्धयः ॥२५॥
भास्करादिग्रहाणां च किरणाः परिकीर्तिताः।

५, २१, २, ८, १०, १६ और ४ ये क्रमशः सूर्यादि ग्रहों की किरणें हैं।

वसु रुद्राश्च रुद्राश्च वह्निषट्कं चतुर्दशम् ॥२६॥
विश्वाशा शतवेदाश्च चतुस्त्रिंशदजादिना।
कुलीराजतुलाकुम्भकिरणा वसुसंख्यया ॥२७॥
मिथुनोक्षमृगाणां च किरणा ऋतुसंख्यया।
सिंहस्य किरणाः सप्त कन्याकार्मुकयोस्तथा ॥२८॥
चत्वारो वृश्चिकस्योक्ताः सप्तविंशत् झषस्य च।

८, ११, ११, ३, ६, १४, १३, १० १००, ४, ४ और ३० ये संख्यायें क्रमशः मेषादि राशियों की किरणों की द्योतक हैं। किसी के मन में कर्क, मेष तुला और कुंभ इनकी

किरणों की संख्या ८ हैं। मिथुन वृष और मकर को ६, सिंह कन्या और मकर को ७ वृश्चिक की ४ और मीन की किरणसंख्या २७ हैं।

सप्ताष्टशरवह्न्यद्रिरुद्रयुग्माब्धिषड्वसु ॥२९॥
सप्तविंशतिसंख्याश्च मेषादीनां परे विदुः ।

कुछ आचार्य ऐसा भी मानते हैं कि मेषादि राशियों की संख्या क्रमशः, ७ ८ ५ ३ ७ ११ २ ४ ४ ६ ८ और २७ ये हैं।

कुजेन्दुशनयो ह्रस्वा दीर्घा जीवबुधोरगाः ॥३०॥
रविशुक्रौ समौ प्रोक्तौ शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ।

मंगल चन्द्रमा और शनि ये ह्रस्व, बृहस्पति बुध राहु ये लंबे कदके तथा सूर्य शुक्र ये समान कदके इस ज्ञानप्रदीपक में कहे गये हैं।

आदित्यशनिसौम्यानां योजनं चाष्टसंख्यया ॥३१॥
शुक्रस्य षोडशोक्तानि गुरोश्च नवयोजनम् ।

सूर्य, शनि और बुध इनके योजन की संख्या ८ होती है। शुक्र की योजन संख्या १६ और गुरु की नव है।

भूमिजः षोडशवयाः शुक्रः सप्तवयास्तथा ॥३२॥
त्रिंशद्वयाश्चन्द्रसुतः गुरुस्त्रिंशद्वयाः स्मृतः ।
शशांकः सप्ततिवयाः पञ्चाशद् भास्करस्य वै ॥३३॥
शनैश्चरस्य राहोश्च शतसंख्यं वयो भवेत् ।

मंगल की अवस्था १६ वर्ष की, शुक्र की सात की, बुध की बीस की, गुरु की तीस की, चन्द्रमा की सत्तर की, सूर्य की पचास की, शनि और राहु की अवस्था सौ वर्ष की है।

तिक्तौ शनैश्चरो राहुः मधुरस्तु बृहस्पतिः ॥३४॥
अम्लं भृगुर्विधुः क्षारं कुजस्य क्रूरजा रसाः ।
तवरः (?) सोमपुत्रस्य भास्करस्य कटुर्भवेत् ॥३५॥

शनि और राहु तिक्त, बृहस्पति मधुर, शुक्र अम्ल, मंगल खारा, बुध कसैला और रवि कटु-ग्रह हैं।

वृषसिंहालिकुंभाश्च तिष्ठन्ति स्थिरराशयः।
कर्किनक्रतुलामेषाश्चरन्ति चरराशयः ॥३६॥
युग्मकन्याधनुर्मीनराशयो द्विस्वभावतः।

वृष, सिंह, वृश्चिक और कुंभ ये स्थिर राशियाँ हैं। कर्क, मकर, तुला और मेष ये चर राशियां हैं। मिथुन कन्या धनु और मीन ये द्विस्वभाव हैं।

धनुर्मेषवनं प्रोक्तं कन्यका मिथुनं पुरे ॥३७॥
हरिर्गिरौ तुलामीनमकराः सलिलेषु च।

धनु और मेष इनका स्थान वन है, कन्या और मिथुन का ग्राम, सिंह का पर्वत और तुला मीन और मकर का स्थान जल में है।

नद्यां कुलीरः कुल्यायां वृषः कुंभः पयोघटे ॥३८॥
वृश्चिकः कूपसलिले राशीनां स्थितिरीरिता

कर्क का स्थान नदी में, वृष का कुल्या (क्षुद्रजलाशय) में कुंभ का जल के घड़े में, वृश्चिक का स्थान कुएं के पानी में है—यही राशियों की स्थिति है।

वनकेदारकोद्यानकुल्याद्रिवनभूमयः ॥३९॥
आपगादिसरिद्वापि तटाकाः सरितस्तथा।

वन, क्यारी, बगीचा, कुल्या (क्षुद्रजलाशय) पर्वत, वन, भूमि जलाशय या नदी, तड़ाग (तालाब) तथा नदियाँ—

जलकुंभश्च कूपश्च नष्टद्रव्यादिसूचकौ ॥४०॥
घटककन्या युग्मतुला ग्रामेऽजालिधनुर्हरिः।

जल कुंभ, कूप, ये ऊपर के बताये अनुसार स्थान नष्ट वस्तु के सूचक हैं। कुंभ कन्या, मिथुन और तुला राशियाँ गाँव में—

वने चापि कुलिंगोक्षनक्रमीनाः जलस्थिताः ॥४१॥
विपिने शनिभौमार्कि भृगुचन्द्रौ जले स्थितौ।

मेष, वृश्चिक, धनु और सिंह वन में तथा, कर्क वृष, मकर और मीन ये जल में रहते हैं। इसी प्रकार शनि, भौम और सूर्य वन में, शुक्र और चंद्रमा जल में—

बुधजीवौ च नगरे नष्टद्रव्यादिसूचकौ ॥४२॥
भौमे भूमिर्जलं काव्ये शशिनो बुधभागिनः।

बुध और बृहस्पति नगर में नष्ट द्रव्य के सूचक होते हैं। इसी तरह मंगल के बलवान होने पर भूमि, शुक्र के बली होने पर जल चंद्रमा और बुध के बलवान होने पर—

निष्कुटश्चैव रंध्रश्च गुरुभास्करयोर्नभः ॥४३॥
मंदस्य युद्धभूमिश्च बलोत्तरखगे स्थिते (?)।

गृहोद्यान, बृहस्पति से छिद्र, सूर्य से आसमान, शनि के बलवान होने पर युद्ध की भूमि—ये नष्ट द्रव्य के सूचक होते हैं।

सूर्यार्कारबले भूमौ गुरुशुक्रबले खगे ॥४४॥
चंद्रसौम्यबले मध्ये केश्चिदेवमुदाहृतम्।

सूर्य, मंगल और शनि के बलवान होने पर भूमि में गुरु और शुक्र के बली होने पर आकाश में चन्द्रमा और बुध के बली होने पर बीच—ये किन्हीं किन्हीं का मत है।

निशादिवससन्ध्याश्च भानुयुग्राशिमादिनः ॥४५॥
चरराशिवशादेर्वामिति केचित्प्रचक्षते।

कुछ लोग चर, स्थिर और द्विस्वभाव राशियों के वश से रात, दिन और सन्ध्या का क्रमशः निर्देश करते हैं।

ग्रहेषु बलवान्यस्तु तद्वशाद्बलमीरयेत् ॥४६॥
शनेर्वर्षं तदर्धं स्याद्भानोर्मासद्वयं विदुः।

ग्रहों का बल विचार करते समय जो बलवान हो उसी के अनुसार उसका बल कहना चाहिये। शनि का डेढ़ वर्ष काल है, सूर्य का दो मास—

शुक्रस्य पक्षो जीवस्य मासो भौमस्य वासरः ॥४७॥
इंदोर्मुहूर्तमित्युक्तं ग्रहाणां बलतो वदेत्।

शुक्र का एक पक्ष, बृहस्पति का एक मास, मंगल का एक दिन; चंद्रमा का एक मुहूर्त काल है। प्रश्न विचारते समय ग्रहों का बलाबल विचार कर तदनुसार फल कहना चाहिये।

एतेषां घटिका प्रोक्ता उच्चस्थानजुषां क्रमात् ॥४८॥
स्वगृहेषु दिनं प्रोक्तं मित्रभे मासमादिशेत् ।

यदि ग्रह अपने उच्च के हों तो घटिका, स्वगृही हों तो दिन, मित्र गृह हों तो मास का आदेश करना—

शत्रुस्थानेषु नीचेषु वत्सरानाहुरुत्तमाः ॥४९॥

शत्रु गृही होने पर या नीच राशि में होने पर एक वर्ष होते हैं ऐसा उत्तमों का कहना है

सूर्यारजीवविच्छुक्रशनिचन्द्रभुजंगमाः ।
प्रागादिदिक्षु क्रमशश्चरेयुर्यामसंख्यया ॥५०॥
प्रागादीशानपर्यन्तं वारेशाद्यंतगा ग्रहाः ।

सूर्य, मंगल, बृहस्पति, बुध, शुक्र, शनि, चंद्र राहु ये आठ ग्रह क्रमशः पूर्वादि दिशाओं के स्वामी होते हैं ।

प्रभाते प्रहरे चान्ये द्वितीयेऽग्न्यादिकोणतः ॥५१॥
एवं याम्यतृतीये च क्रमेण परिकल्पयेत् ।

कुछ लोगों की राय में दिन के आठ पहरों में प्रथम प्रहर में पूर्व की ओर उसी दिन का वारेश रहता है, द्वितीय में अग्नि कोण में उससे दूसरा, तृतीय में दक्षिण में तीसरा इस प्रकार से दिगीश रहते हैं ।

भूतं भव्यं वर्तमानं वारेशाद्या भवंति च ॥५२॥
तद्दिने चंद्रयुक्तर्क्षं यावद्भिरुदयादिकम् ।
तावद्भिर्वासरैः सिद्धं केचिदंशाधिपाद्विदुः ॥५३॥

उक्त प्रकार से भूत भविष्य और वर्तमान फल द्योतक वारेश होते हैं । प्रश्न के दिन चांद्र नक्षत्र जितने अंशादि से उदित हुआ है उतने ही दिन में कार्य सिद्ध होता है । पर दूसरों के मत से नवमांश के स्वामी के अंशादि पर से इसे निकालते हैं ।

सार्धद्विनाडिपर्यंतमंकलग्नं प्रचक्षते ।
प्रश्ने निश्चित्य घटिकाः सार्धद्विघटिकाः क्रमात्॥५४॥
तद्यथाकाललग्नं तु तदा पूर्वां दिशां न्यसेत् ।
तद्वशात्प्रष्टुरारूढं ज्ञात्वा चारूढकेश्चरात् ॥५५॥
आरुढाधिपतिर्यत्र प्रभाते नष्टनिर्गमः ।

मेषकर्कितुलानक्राः धातुराशय ईरिताः ॥५६॥
कुंभसिंहालिवृषभाः श्रूयंते मूलराशयः ।
धनुर्मीननृयुक्कन्या राशयो जीवसंज्ञकाः ॥५७॥

मेष, कर्क, तुला और मकर ये धातुराशियाँ हैं । कुंभ, सिंह, वृश्चिक और वृष ये मूलराशियाँ हैं । धनु, मीन, मिथुन और कन्या ये जीवराशियाँ हैं ।

कुजेंदुसौरिभुजगा धातवः परिकीर्तिताः ।
मूलं भृगुदिनाधीशौ जीवौ धिषणसौम्यजौ ॥५८॥

इसी प्रकार मंगल, चन्द्रमा, शनि और राहु ये धातु ग्रह, शुक्र और सूर्य मूल ग्रह बुध और बृहस्पति ये जीव ग्रह हैं ।

स्वक्षेत्रे भानुरुच्चेंद्रो धातुरन्यश्च पूर्ववत् ।
स्वक्षेत्रे भानुजो वल्ली स्वक्षेत्रधातुरिन्दुजः ॥५९॥ (?)

विशेषता यह है कि, सूर्य अपने गृह का, और चन्द्रमा उच्च का धातु होते हैं । शनि स्वक्षेत्र में मूल और बुध स्वक्षेत्र में धातु होता है, शेष ग्रह पूर्ववत् ही रहते हैं ।

ताम्रं भौमस्त्रपुश्चैव कांचनं धिषणो भवेत् ।
रौप्यं शुक्रः शशी कांस्यः अयसं मंदभोगिनौ ॥६०॥

मंगल, तामा, बुध त्रपु (पीतल ?), गुरु सोना, शुक्र चाँदी, चंद्रमा कांसा, शनि और राहु लोहे होते हैं ।

भौमार्कमंदशुक्रास्तु स्वस्वलोहस्वभावकाः ।
चन्द्रज्ञगुरवः स्वस्वलोहाः स्वक्षेत्रमित्रपाः ॥६१॥
मिश्रे मिश्रफलं ज्ञात्वा ग्रहाणां च फलं क्रमात् ।

मंगल सूर्य शनि शुक्र ये अपने २ भाव में लोहकार के होते हैं, चन्द्रमा बुध बृहस्पति अपने क्षेत्र तथा मित्र क्षेत्र में होने से लोहकारक कहे गए हैं । मिश्र में मिश्रित फल का आदेश क्रम से करना चाहिये ।

शिला भानोर्बुधस्याहुः मृत्पात्रं चोपरं विदुः ॥६२॥
सितस्य मुक्तास्फटिके प्रवालं भूसुतस्य च ।
अयसं भानुपुत्रस्य मंत्रिणः स्यान्मनःशिला ॥६३॥
नीलं शनेश्च वैडूर्यं भृगोर्मरकतं विदुः ।
सूर्यकान्तो दिनेशस्य चंद्रकान्तो निशापतेः ॥६४॥
तत्तद्ग्रहवशान्नित्यं तत्तद्राशिवशादपि ।

सूर्य को शिला, बुध का मृत्पात्र और उपर, शुक्र का मोती और स्फटिक मणि, मंगल का मूंगा, शनि का लोहा, गुरु का मनःशिला (धातु विशेष) शनि का नीलम और वैडूर्य, शुक्र का मरकत, सूर्य का सूर्यकान्त, चंद्र का चंद्रकांत ये रत्न प्रश्न विचारते समय तत्तद्राशि और ग्रह पर से बताने चाहिये ।

बलाबलविभागेन मिश्रे मिश्रफलं भवेत् ॥६५॥
नृराशौ नृग्रहैर्दृष्टे युक्ते वा मर्त्यभूषणम् ।
तत्तद्राशिवशादन्यत् तद्रूपं विनिर्दिशेत् ॥६६॥

बला, निर्बल का विचार करके दृढ़ और अदृढ़ फल बताना चाहिये । यदि मिश्रबल हो तो फल भी मिश्र होता है । यदि नरराशि मनुष्यग्रह-द्वारा दृष्ट किंवा युक्त हो तो धातुसंबंधी प्रश्न में मानवभूषण बताना चाहिये । शेष राशि और ग्रह के स्वरूपवश × × × × ।

इति धातुचिन्ता

मूलचिन्ताविधौ मूलान्युच्यन्ते पूर्वशास्त्रतः ।

अब पूर्वशास्त्रानुसार मूलचिन्ता का वर्णन करते हैं ।

क्षुद्रसस्यानि भौमस्य सस्यानि बुधजीवयोः ॥६७॥
कक्षाणि ज्ञस्य भानोश्च वृक्षश्चन्द्रस्य वल्लरी ।
गुरोरिक्षुर्भृगोश्चिञ्चा भूरुहाः परिकीर्तिताः ॥६८॥
शनेर्दारुरगस्यापि तीक्ष्णकण्टकभूरुहाः ।

मङ्गल के छोटे सस्य, बुध और बृहस्पति के बड़े सस्य, × × × × सूर्य का वृक्ष, चन्द्रमा की लतायें, बृहस्पति की ईख, शुक्र की इमली, शनि का दारु, राहु के तीखे कांटेदार वृक्ष ये वृक्ष कहे गये हैं ।

अजालिक्षुद्रसस्यानि वृषकर्कितुलालता ॥६९॥
कन्यकामिथुने वृक्षे कण्टद्रुमघटे मृगे।
इक्षुर्मीनधनुःसिंहाः सस्यानि परिकीर्तिताः ॥७०॥

मेष वृश्चिक इनके क्षुद्र सस्य, वृष कर्क और तुला इनकी लतायें, कन्या और मिथुन इनके वृक्ष, कुंभ और मकर इनके काँटेदार वृक्ष, मीन, धनु और सिंह इनके सस्य ईख हैं।

अकंटद्रुमः सौम्यस्य क्रूराः कण्टकभूरुहाः।
युग्मकण्टकमादित्ये भूमिजे ह्रस्वकण्टकाः ॥७१॥
वक्राश्च कण्टकाः प्रोक्ताः शनैश्चरभुजंगमौ।
पापग्रहाणां क्षेत्राणि तथाकण्टकिनो द्रुमाः ॥७२॥

बुध के बिना काँटे के वृक्ष, क्रूर ग्रहों के भी काँटेदार वृक्ष सूर्य का दो काँटों वाला, मंगल का छोटे कांटों वाला, शनि राहु का टेढ़े कांटों वाला वृक्ष कहा गया है × × × ×।

सूक्ष्मकक्षाणि सौम्यस्य भृगोर्निष्कंटकद्रुमाः।
कदली चौषधीशस्य गिरिवृक्षा विवस्वतः ॥७३॥
बृहत्पत्रयुता वृक्षा नारिकेलादयो गुरोः।
तालाः शनैश्चराहोश्च सारसारो तरू वदेत् ॥७४॥
सारहीनशनीन्द्वकैरन्तरसारौ कपित्थकौ।
बहुसाराः स्वराशिस्थशनिज्ञकुजपन्नगाः ॥७५॥

बुध का सूक्ष्म वृक्ष, शुक्र का निष्कंटक वृक्ष चंद्र का कदली वृक्ष, सूर्य का पर्वत वृक्ष, बृहस्पति का नारियल आदि बड़े पत्तों वाले वृक्ष, शनि का ताल वृक्ष और राहु का सारवान् वृक्ष कहा गया है × × × × अपने राशिस्थ शनि, बुध मंगल और राहु के बहुसार वृक्ष कहे गये हैं।

अन्तस्सारो ह्यरिस्थाने बहिस्सारस्तु मित्रगे।
त्वक्कन्दपुष्पछदनाः फलपक्वफलानि च ॥७६॥
मूलं लता च सूर्याद्याः स्वक्षेत्रेषु ते तथा।

शत्रुस्थानस्थ ग्रह अन्तःसार वृक्ष और मित्रस्थानस्थ बहिः सार वृक्ष को कहते हैं। अपनी अपनी राशि में स्थित सूर्य आदि ग्रह क्रमशः त्वक्, मूल, पुष्प, छाल, फल, पके फल, मूल, और लता इनके बोधक होते हैं।

मुद्गंज्ञस्याढकः श्वेतः भृगोश्च चणकं कुजे ॥७७॥
तिलं शशांके निष्पावं रवेर्जीवोऽरुणाढकः।
माषं शनेर्भुजंगस्य कुधान्यं धान्यमुच्यते ॥७८॥

बुध का मूंग, शुक्र का सफेद अरहर, मंगल का चना, चंद्रमा का तिल, सूर्य का मटर, बृहस्पति का लाल अरहर, शनि का उड़द और राहु का कुलथी धान्य है।

प्रियंगुर्भूमिपुत्रस्य बुधस्य निहगस्तथा।
स्वस्वरूपानुरूपेण तेषां धान्यानि निर्दिशेत् ॥७९॥

मंगल का प्रियंगु (टांगुन) बुध का निहग धान्य होता है। ग्रहों का धान्य उनके रूप के अनुसार ही बताना चाहिये।

उन्नते भानुकुजयोर्वल्मीके बुधभोगिनोः
सलिले चन्द्रसितयोः गुरोः शैलतटे तथा ॥८०॥
शनेः कृष्णशिलास्थाने मूलान्येतासु भूमिषु।

सूर्य मंगल का उन्नत स्थान में, बुध और राहु का बिल में, चन्द्र शुक्र का पानी में, बृहस्पति का पर्वततल में और शनि का कृष्ण शिलातल में स्थान है। इन्हीं भूमियों में मूल की चिन्ता करना।

वर्णं रसं फलं रत्नमायुधं चान्नमूलिका ॥८१॥ (?)
पत्रं फलं पक्वफलं त्वङ्मूलं प्रवभाषितम्।

वर्ण, रस, फल, रत्न, अस्त्र, मूल, पत्र त्वक् आदि का विचार पूर्व कथित रीति से करना चाहिये।

इति मूलकाण्डः

चन्द्रो माता पिताऽऽदित्यः सर्वेषां जगतामपि ।
गुरुशुक्रारमंदज्ञाः पंच भूतस्वरूपिणः ॥१॥

सारे जगत् को माता चन्द्रमा और पिता सूर्य हैं। बृहस्पति शुक्र मंगल शनि और बुध ये पांचो पंच महाभूत हैं।

श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणाः पञ्चेंद्रियाण्यमी ।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधश्च विषया अमी ॥२॥

श्रोत्र (कान) त्वक् (चर्म) आंख, जीभ, घ्राण (नाक) ये पांच इन्द्रिय हैं। और शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये क्रमशः इनके विषय हैं।

ज्ञानं गुर्वादिपंचानां ग्रहाणां कथयेत्क्रमात् ।
गुरोः पञ्च भृगोश्चाब्धिः त्रयं ज्ञस्य कुजस्य द्वे ॥३॥
एकं ज्ञानं शनेरुक्तं शास्त्रे ज्ञानप्रदीपके ।

गुरु, शुक्र, मंगल, बुध और शनि इनका ज्ञान क्रमशः ५, ४, २, १, और ३ हैं। ऐसा ज्ञान प्रदीपक शास्त्र का कहना है।

भौमवर्गा इमे प्रोक्ताः शंखशुक्तिवराटकाः ॥४॥
मत्कुणाः शिथिलायूकमक्षिकाश्च पिपीलिकाः ।

शंख, शुक्ति, कौड़ी, खटमल, जू, मक्खियां, चीटियां—ये भौमवर्ग अर्थात् मंगल के जीव हैं।

बुधवर्गा इमे प्रोक्ताः षट्पदा ये भृगास्तथा ॥५॥
देवा मनुष्याः पशवो विहगाः गुरोः । (?)
तथैकज्ञानिनः वृक्षाः शनिवृक्षाः प्रकीर्तिताः ॥६॥
एकद्वित्रिचतुःपंचगगनादिगणाः स्मृताः ।

और बुधवर्ग में, देव मनुष्य शुक्र वर्ग में, पशु और पक्षी गुरु वर्ग में, और वृक्ष शनिवर्ग में कहे गये हैं × × × × ×।

देहो जीवस्सितो जिह्वा बुधो नासेक्षणं कुजः ॥७॥
श्रोत्रं शनैश्चरश्चैव ग्रहावयवमीरितम् ।

बृहस्पति देह, शुक्र जीभ, बुध नाक, मंगल आँख, और शनि कान ये ग्रहों के शारीरिक अवयव हैं।

द्विपाच्चतुष्पाद् बहुपाद्विहगो जानुगः क्रमात् ॥८॥
शंखशंबूकसंधश्च बाहुहीनान् विनिर्दिशेत् ।

दो पैर वाला, चार पैर वाला, बहुत पैर वाला, पक्षी, जंघा से चलने वाला, शंख, घोंघा संध और बाहुहीन ये सूर्यादि ग्रह के भेद हैं।

यूकमत्कुणमुख्याश्च बहुपादा उदाहृताः ॥९॥
गोधाः कमठमुख्याश्च बहुपादा उदाहृताः ।

यूक (जूं) मत्कुण (खटमल) वगैरह ये बहुपाद कहे जाते हैं, सर्पिणी, कच्छप आदि भी इसी तरह से बहुपाद कहे जाते हैं।

मृगमीनौ तु खचरौ नत्रस्थौ मंदभूमिजौ ॥१०॥
वनकुक्कुटकाकौ च चिंतिताविति कीर्तयेत् ।
तद्राशिस्थे भृगौ हंसः शुकः सौम्यो विधौ शिखी ॥११॥
वीक्षिते च तदा ब्रूयात् ग्रहे राहौ विचक्षणः ।

प्रश्न लग्न यदि मकर या मीन हो और उस पर शनि या मंगल हो तो क्रमशः वनकुक्कुट और काक कहना। अपने राशि पर शुक्र हो तो हंस, बुध हो तो शुक, चंद्रमा हो तो मोर कहना चाहिये × × × × × × × × × ×।

तद्राशिस्थे रवौ तेन दृष्टे ब्रूयात् खगेश्वरं ॥१२॥
बृहस्पतौ सितबका भारद्वाजस्तु भोगिनि ।
कुक्कुटा ज्ञस्य भौमस्य दिवांधः परिकीर्तितः ॥१३॥
अन्यराशिस्थखेटेषु तत्तद्राशिस्थलं भवेत् ।

अपने राशि पर सूर्य हो तो गरुड़, बृहस्पति हो तो श्वेत बक तथा राहु हो तो भरदूल पक्षी कहना। बुध अपनी राशि पर हो तो मुर्गा, मंगल हो तो उल्लू और अन्य राशिस्थ ग्रहों के लिये उन राशियों का स्थल कहना चाहिये।

सौम्ये खेटेऽडजाः सौम्याः क्रूरगाः इतरे खगाः ॥१४॥
उच्चराश्युदये सूर्ये दृष्टे भूपास्तदाश्रिताः ।
उच्चस्थाने स्थिते राजा मंत्री स्वक्षेत्रगे स्थिते ॥१५॥
राजाश्रिता मित्रभरा (?) वीक्षिते समये भटः ।
अन्यराशिषु युतेषु दृष्टे वा संकरान्वदेत् ॥१६॥

सौम्य ग्रह में सौम्यपक्षी और क्रूर ग्रह में क्रूर जानना चाहिये। सूर्य अपनी उच्च राशि में उदित हो, और शुभ ग्रह से दृष्ट हो तो सम्राट्—उच्च में राजा, स्वक्षेत्रग होने से मंत्री, मित्रगृह में मित्र दृष्ट होने से राजाश्रित योद्धा कहना चाहिये। अन्य राशि से युक्त और दृष्ट होने से संकर बताना चाहिये।

कंस-कारकुलालश्च कंसविक्रयिणस्तथा ।
शंखच्छेदी धातुपूर्णान्वेक्षिणश्चूर्णकारिणः ॥१७॥

कांसे का काम करने वाला, कुम्हार, कांसा का बेचने वाला; शंखछेदी, धातु छूने या देखने वाला, चूर्ण करने वाला—

नृराशौ जीवदृष्टे च भानुवद् ब्राह्मणादयः ।
कुजयुक्तेऽथवा दृष्टे वणिजः परिकीर्तिताः ॥१८॥
बुधयुक्तेऽथवादृष्टे तद्वद्ब्रूयात् तपस्विनः ।
तद्वच्छुक्रेषु वृषलाः शंकरा शशिभोगिनौ ॥१९॥
किञ्चिदत्र विशेषोक्तिर्मीनभारकर्किंकराः ।

यदि मनुष्य राशि में सूर्य हो और बृहस्पति से दृष्ट हो तो ब्राह्मण बताना। कुज (मंगल) से युक्त किंवा दृष्ट हो तो बनिया बताना, बुध से युत या दृष्ट हों तो तपस्वी शुक्र से युक्त या दृष्ट हो तो शूद्र और वर्णसंकर। मीन राशि चंद्र और राहु से युक्त या दृष्ट हो तो भारवाहक और किंकर बताना।

चन्द्रस्य भिषजो ज्ञस्य वैश्यश्चोरगणाः स्मृताः ॥२०॥

नर राशि में सूर्य यदि चंद्र से दृष्ट या युक्त हो तो वैद्य और बुध से वैश्य और चोर बताना चाहिये।

राहोर्गरजचांडालस्तस्कराः परिकीर्तिताः ।

राहु से युक्त या दृष्ट होने पर विष देने वाला चाण्डाल बताना × × × × ।

शनेस्तरुच्छिदः प्रोक्तः राहोर्धीवरनापितौ ॥२१॥
शंखच्छेदो नटः कारुर्नर्तकः शशिनस्तथा ।

इसके अतिरिक्त शनि से वृक्ष काटने वाला, राहु से धीवर या नाई, चंद्र से शंखछेदी, कारीगर, नर्तक आदि कहना चाहिये। यह ग्रहों का बली होना बताया गया है।

चूर्णकृन्मौक्तिकग्राही शुक्रस्य परिकीर्तितः ॥२२॥
तत्तद्राशिवशातीततत्तद्राशिस्थितं ग्रहम् ।
तत्तद्राशिस्थखेटानां बलात्तु नष्टनिर्गमौ ॥२३॥

इसी प्रकार शुक्र के बली होने से चूना बनाने वाला, मोती का ग्रहण करने वाला बताना चाहिये। लग्न की राशि जितनी बीत चुकी हो जितनी बाकी हो, उस पर ग्रह जैसा हो उसके अनुसार नष्ट निर्गम का अतीत आदि कहना।

इति मनुष्यकाण्डः

मेषराशिस्थिते भौमे मेषमाहुर्मनीषिणः ।
तस्मिन्नर्के स्थिते व्याघ्रं गोलांगूलं बुधे स्थिते ॥२४॥
शुक्रेण वृषभश्चन्द्रगुरवश्च ततः परं ।
महिषीसूर्यतनये फणी गवय उच्यते ॥२५॥

मेष राशि में मंगल हो तो मेष, सूर्य हो तो व्याघ्र, बुध हो तो गोलांगूल, शुक्र हो तो वृष (बैल), × × × × × शनि हो तो भैंस, राहु हो तो गवय (घोड़परास) बताना चाहिये

वृषभस्थे भृगौ धेनुः कुजेन्यं कुरुदाहृताः । (?)
बुधे कपिगुरावश्च (?) शशांके धेनुरुच्यते ॥२६॥
आदित्ये शरभः प्रोक्तो महिषा शनिसर्पयोः ।

वृष में शुक्र हो तो गाय, मंगल हो तो कृष्णमृग, बुध हो तो बन्दर और ऊद बिलार, चन्द्र हो तो गाय, सूर्य हो तो बारह सिंगा, शनि हो तो भैंस, और राहु हो तोभी भैंस बताना चाहिये।

कर्किस्थे च करो भौमे महिषी नक्रगे कुजे ॥२७॥
वृषभस्थे हरिर्युग्मकन्ययोः श्वा च फेरवः ।
हरिस्थे भूमिजो व्याघ्रो रवींद्वास्तत्र केसरी ॥२८॥
शुक्रो जीवा कटः सौम्ये त्वन्ये स्वाकृतयो मृगाः ।

मंगल यदि कर्क में हो तो कर, मकर में हो तो भैंस, वृष में हो तो सिंह, मिथुन में हो तो कुत्ता, कन्या में हो तो शृगाल, सिंह में हो तो व्याघ्र, उसी में रवि चन्द्र हों तो सिंह कहना चाहिये × × × × × × ।

तुलागने भृगोर्वत्सश्चंन्द्रे गौः परिकीर्तिता ॥२९॥
धनुस्थितेषु जीवेषु कुजेषु तुरगो भवेत् ।
शनौ वक्रे स्थिते तत्र मत्तो गज उदाहृतः ॥३०॥

शुक्र तुला में हो तो बछड़ा और चन्द्रमा तुला में हो तो गाय, धनु में बृहस्पति या कुज हों तो घोड़ा और शनि यदि वक्री होकर उसी में हो तो मत्त हस्ती बताना चाहिये ।

सर्पस्थे तत्र महिषो वानरो बुधजीवदोः ।
शुक्रामृतांशुसौम्येषु स्थितेषु पशुरुच्यते ॥३१॥
जीवसूर्येक्षिते गर्भे वंध्यास्त्री च शनीक्षिते ।
अंगारकेक्षिते शुक्रस्तत्र ज्ञात्वा वदेत्सुधीः ॥३२॥
वक्ष्येऽहं चिंतनां सूक्ष्मजनैस्तु परिचिंतिताम् ।

उसी (धनु) राशि में यदि राहु हो तो भैंस, बुध और बृहस्पति हो तो वानर, शुक्र चन्द्र और बुध साथ ही हों तो पशु बताना चाहिये । उक्त राशि को यदि बृहस्पति और सूर्य देखते हों तो गर्भ तथा शनि देखता हो तो वन्ध्या बताना × × × × × × ।

धिषणे कुंभराशिस्थे त्रिकोणस्थे वा स पश्यति ॥३३॥
मृगराजे स्थिते सौम्ये धनुषि वीक्षिते शुभे ।
स्मृतः कपिर्मेषगते शनौ ब्रूयान्मतङ्गजम् ॥३४॥

कुम्भ राशि का बृहस्पति हो या त्रिकोण में बैठ कर देखता हो, अथवा चन्द्रमा कुम्भ राशि में बैठा हो और धनु राशिस्थ शुभ ग्रह देखता हो तो वानर और मेष में शनि बैठा हो तो हाथी होता है ।

कुजे मेषगते व्यंगं बुधे नतकगायकौ।
गुरुशुक्रदिनेशेषु वणिजा वस्त्रजीवितः ॥३५॥
चन्द्रे तथागते मन्दे सिंहस्थे रिपुचिंतनम्।
वृषस्थे महिषी तौले वक्रेण वृश्चिके गतम् (?) ॥३६॥

मेष में कुज हो तो अंगहीन, बुध हो तो नतक और गायक, गुरु हो तो वणिक्, शुक्र हो तो वस्त्रजीवी. × × × × चन्द्र हो तोभी वही. शनि यदि सिंह में हो तो शत्रु, वृष में हो तो भैंस. × × × × × × × ×

मेषगे सूर्यतनये मृत्युः क्लेशादयस्तथा।
मित्रादिपञ्चवर्गश्च ज्ञात्वा ब्रूयात्पुरोक्तितः ॥३७॥

शनि मेष में हो तो, मृत्यु तथा कष्ट होता है। ग्रहों का फल मित्रादि पंचवर्ग का बल बना के कहना चाहिये।

इति चिन्तनकाण्डः

धातुराशौ धातुखगे दृष्टे नक्षत्रसंयुते।
धातुचिंता भवेत्तद्वत् मूलजीवौ तथा भवेत् ॥१॥
धात्वृक्षस्थे मूलखगे जीवमाहुर्विपश्चितः।
जीवराशौ धातुखगे दृष्टे वा यदि मूलिका ॥२॥
मूलराशौ जीवखगे धातुचिंता प्रकीर्तिता।

× × × × × × × × ×

धातु राशि में यदि मूल ग्रह हो तो जीव, जीव राशि में धातु ग्रह हो या उससे दृष्ट हो तो मूल और मूल राशि में जीव ग्रह हो तो धातु की चिन्ता कहनी चाहिये

धातु राशि यदि धातु खग से दृष्ट हो और धातु छत्र से युक्त हो तो धातु चिन्ता कहनी चाहिये, इसी प्रकार जीव और मूल चिन्ता भी जाननी चाहिये।

त्रिवर्गखेटकैर्दृष्टे युक्ते बलवशाद्वदेत्।
पश्यन्ति चन्द्रं चेदन्ये वदेत्तत्तद्ग्रहाकृतिम् ॥३॥

धातुमूलश्च जीवञ्च वंशं वर्णं स्मृतिं वदेत्।
कंटकादिचतुष्केषु स्याच्छत्रुमित्रग्रहैर्युते ॥४॥
दृष्टे वा सर्वकार्याणां सिद्धिं ब्रूयाच्च चिंतनम्।

× × × × × × × × × × × × × × × × ×

धातु, मूल और जीव राशियों पर से वंश, वर्ण और स्मृति बताना चाहिये। विचार करते समय कण्टकादिलग्न चतुष्टय आदि तथा शत्रु मित्र राशि और ग्रह का पूर्ण विचार कर सिद्धि बतानी चाहिये।

उदये धातुचिंता स्यादारूढे मूलचिंतनम् ॥५॥
छत्रे तु जीवचिंता स्यादिति केश्चिदुदाहृतम्।
केन्द्रं फणपरं प्रोक्तमापोक्लीबं क्रमात्त्रयम् ॥६॥
चिन्ता तु मुष्टिनष्टानि कथयेत्कार्यसिद्धये ॥७॥

लग्न से धातु-चिन्ता, आरूढ़ से मूलचिन्ता और छत्र से जीवचिन्ता की जाती है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। केन्द्र, (१, ४, ७, १०) पणफर (२, ५, ८, ११) आपोक्लीव (३, ६, ९, १२,) ये क्रम से हैं, इन पर से नष्टमुष्टि आदि का विचार किया जाता है।

इति धातुकाण्डः

तत आरूढगे चन्द्रे न नष्टं रुक् च शाम्यति।
आरूढाद्दशमे वृद्धिश्चतुर्थे पूर्ववद्वदेत् ॥१॥
नष्टद्रव्यस्य लाभश्च सर्वहानिश्च सप्तमे।
उदयाद्द्वादशे षष्ठे अष्टमारूढगे सति ॥२॥
चिंतितार्थो न भवति धनहानिर्हि पदबलम्।
तनुं कुटुम्बं सहजं मातरं जनकं रिपुम् ॥३॥
कलत्रं निधनं चैव गुरु कर्म फलं व्ययम्।
दृष्टे विधिक्रमाद्भावं तस्य तस्य फलं वदेत् ॥४॥

चन्द्रमा यदि आरूढ़ राशि में होतो उत्तर इस प्रकार देना वस्तु नष्ट नहीं हुई, रोग शान्त है,—आरूढ़ से दशम में हो तो बढ़ गया है, चतुर्थ में हो तो नष्ट वस्तु मिल गई, या स्थिति

पूर्ववत् है, सप्तम में हो तो सब नष्ट हो गया। यदि आरूढ लग्न से द्वादश, षष्ठ और अष्टम में हो तो—जिसकी चिन्ता है वह नहीं होगा, धनहानि, शत्रुबल, अपना, कलत्र का माता का, पिता का, निधन अनिष्ट व्यय आदि फल कहना। ग्रहों की शुभाशुभ दृष्टि आदि का विचार भी करना।

रवीन्दुशुक्रजीवज्ञा नृराशिषु यदि स्थिताः।
मर्त्यचिन्ता ततः शौरिर्दृष्टेऽर्थे कुजे(?) तथा ॥५॥
कुजस्य कलहः शौरेस्तस्करं गरलं भवेत्।
रविदृष्टेऽथवा युक्ते चिन्तनादेव भूपतेः ॥६॥

यदि, रवि, चन्द्र, शुक्र, बृहस्पति और बुध मनुष्य राशि पर हों तो मत्य की चिंता, शनि यदि देखता हो तो अर्थ चिन्ता कहना। मनुष्यराशि पर मंगल हो तो कलह, शनि हो तो चोर या जहर की चिन्ता, रवि से दृष्ट अथवा युक्त हो तो राजा की चिन्ता कहनी चाहिये।

इत्यारूढकाण्डः

द्वितीये द्वादशे छत्रे सर्वकार्यं विनश्यति।
गुरौ पश्यति युक्ते वा तत्र कार्यं शुभं वदेत् ॥१॥
तस्मिन्पापयुते दृष्टे विनाशो भवति ध्रुवम्।
तस्मिन्सौम्ययुते दृष्टे सर्वं कार्यं शुभं वदेत् ॥२॥
मिश्रे मिश्रफलं ब्रूयात् [illegible] ज्ञानप्रदीपके।

यदि छत्र द्वितीय किंवा द्वादश हो तो सारा कार्य नष्ट होता है। किन्तु यदि बृहस्पति से युक्त किंवा दृष्ट हो तो सिद्धि होती है। पापग्रह से दृष्ट किंवा युक्त होने से विनाश तथा सौम्य ग्रह से दृष्ट अथवा युक्त होने पर शुभ कार्य होता है। पापग्रह से नाश शुभ-ग्रह से सिद्धि होती है। दोनों हों तो मिश्रफल होता है।

पञ्चमे नवमे छत्रे सर्वसिद्धिर्भविष्यति।
तस्मिन् शुभाशुभे दृष्टे मिश्रं मिश्रफलं वदेत् ॥३॥

पञ्चम और नवम छत्र में सब कार्यों की सिद्धि होती है। शुभ से दृष्ट या युक्त होने पर शुभ, पाप ग्रह से अशुभ और मिश्र से मिश्र फल होता है।

चतुर्थे चाष्टमे षष्ठे द्वादशे छत्रसंयुते।
नष्टद्रव्यागमो नास्ति न व्याधिशमनं भवेत् ॥४॥

न कार्यसिद्धिः सर्वेषां शनिग्रहवशाद् वदेत् ।
बृहस्पत्युदये स्वर्णाधनं विजयमागमः ॥५॥
द्वेषशांतिः सर्वकार्यसिद्धिरेव न संशयः ।

यदि छत्र ४, ८, ६, या १२ वां हो तो नष्ट वस्तु नहीं मिली, रोग शान्त नहीं हुआ, कार्य सिद्धि नहीं हुई इत्यादि फल शनि से युक्त होने पर बताना। बृहस्पति के उदय होने पर स्वर्ण, धन, विजय, द्वेषशान्ति एवं सब कार्यों की सिद्धि निःसन्देह होती है।

सौम्योदये रणोद्योगी जित्वा तद्धनमाहरेत् ॥६॥
पुनरेष्यति सिद्धिः स्यात् छत्रसंदर्शने तथा ।
व्यवहारस्य विजयं छत्रेऽप्येवमुदाहृतम् ॥७॥

छत्र यदि शुभ युक्त या दृष्ट हो तो युद्ध में विजय, कार्य की सिद्धि आदि शुभ फल कहना चाहिये। × × × × × × × × × × ×

चन्द्रोदयेऽर्थलाभश्चेत् प्रयाणे गमने तथा ।
चिंतितार्थस्य लाभश्च चन्द्रारूढे स्थिरेऽपि च ॥८॥
शुक्रोदये बुधोऽपि स्यात् स्त्रीलाभो व्याधिमोचनम् ।
जयो यान्त्यरयः स्नेहं चन्द्रेऽप्येवमुदाहृतम् ॥९॥

चंद्रमा लग्न में हो तो यात्रा आदि में मांगी हुई वस्तु मिल जाती है। यह बात तब भी संभव है जब चन्द्रमा आरूढ़ में हो। शुक्र या बुध लग्न में हों तो स्त्रीलाभ, जय, और व्याधि नाश एवं शत्रु का स्नेहपात्र होना बताना चाहिये। लग्नस्थ चन्द्रमा होने पर भी यही फल कहना चाहिये।

उदयारूढछत्रेषु शन्यर्कांगारका यदि ।
अर्थनाशं मनस्तापं मरणं व्याधिमादिशेत् ॥१०॥

उदय, आरूढ़ और छत्र में यदि शनि सूर्य और मंगल हों तो अर्थ (धन) का नाश मानसिक व्यथा, मरण और व्याधि बताना चाहिये।

एतेषु फणियुक्तेषु बुधश्चोरभयं ततः ।
मरणं चैव दैवज्ञो न संदिग्धो वदेत् सुधीः ॥११॥

इन्हीं स्थानों (लग्न, आरूढ़ और छत्र में) में यदि राहु के साथ बुध बैठा हो तो निश्शंक होकर विद्वान् ज्योतिषी को चोर का भय और मरण बताना चाहिये।

निधनारिधनस्थेषु पापेष्वशुभमादिशेत्।
तन्वादिभावः पापैस्तु युक्तो दृष्टो विनश्यति ॥१२॥

अष्टम, षष्ठ, द्वितीय में पाप ग्रह हों तो फल अशुभ होता है। पापग्रहाक्रान्त तन्वादि भाव अशुभ फल दायक हैं।

शुभदृष्टो युतो वापि तत्तद्भावादि भूषणम्।
मेषोदये तुलारूढे नष्टं द्रव्यं न सिध्यति ॥१३॥

शुभ से दृष्ट किंवा युक्त होने पर भाव शुभ फलद होते हैं। मेष लग्न हो और तुला आरूढ़ हो तो नष्ट द्रव्य की सिद्धि नहीं होती।

तुलोदये क्रियारूढे नष्टसिद्धिर्न संशयः।
विपरीते न नष्टाप्तिर्वृषारूढेऽलिभोदये ॥१४॥

किन्तु यदि तुला लग्न और मेष आरूढ़ हो तो अवश्य सिद्धि होती है। वृष आरूढ़ और वृश्चिक लग्न हो तो महा लाभ होताहै।

नष्टसिद्धिर्महालाभो विपरीते विपर्ययः।
चापारूढे नष्टसिद्धिर्भविता मिथुनोदये ॥१५॥
विपरीते न सिद्धिः स्यात् कर्कारूढे मृगोदये।
सिद्धिश्च विपरीते तु न सिध्यति न संशयः ॥१६॥

किन्तु यदि वृष लग्न और वृश्चिक आरूढ़ हो तो सिद्धि नहीं होती। मिथुन लग्न में हो धनु आरूढ हो तो नष्ट सिद्धि होती है। उल्टा होने से फल उल्टा होता है। कर्क आरूढ़ हो मकर का उदय हो तो सिद्धि होता है। उल्टा होने से सिद्धि नहीं होती।

सिंहोदये घटारूढे नष्टसिद्धिर्न संशयः।
विपरीते न सिद्धिःस्यात् झषारूढेऽगनोदये ॥१७॥
नष्टसिद्धिर्विपर्ये (?) स्यात् दृष्टादृष्टैर्निरूपणम्।

लग्न सिंह हो आरूढ़ कुंभ हो तो सिद्धि और उल्टा होने से असिद्धि होती हैं। मीन आरूढ़ हो और कन्या लग्न हो तो नष्ट सिद्धि नहीं होती है।

स्थिरोदये स्थिरच्छत्रे स्थिरलग्नो भवेद्यदि ।
न मृतिर्न च नष्टं च न रोगशमनं तथा ॥१८॥

स्थिर लग्न हो और स्थिर छत्र हो और स्थिर उदय हो तो फल 'नहीं' कहना चाहिये। अर्थात् 'मृत्यु नहीं हुई' 'नष्ट नहीं हुआ' 'रोगशान्ति नहीं हुई' इत्यादि इत्यादि कहना समुचित है।

द्विदेहबोधया (?) रूढं छत्रं नष्टं न सिध्यति ।
न व्याधिशमनं शत्रुः सिद्धिर्विद्या न च स्थिरा ॥१९॥

द्विस्वभाव लग्न, द्विस्वभाव छत्र और द्विस्वभाव आरूढ हो तो 'नष्ट सिद्धि नहीं हुई' 'व्याधि शमन नहीं हुआ' आदि निषेधात्मक उत्तर देना।

चरराश्युदयारूढछत्रेषु स्यादिति स्थिता ।
नष्टसिद्धिर्न भवति व्याधिशांतिर्न विद्यते ॥२०॥
सर्वागमनकार्याणि भवन्त्येव न संशयः ।
ग्रहस्थितिबलेनैव एवं ब्रूयात् शुभाशुभम् ॥२१॥

चर राशि ही लग्न, छत्र और आरूढ हो तो भी नहीं, अर्थात् नष्ट सिद्धि न हुई, रोगशान्ति नहीं हुई, आदि बताना; आगमन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में 'हां' कहना चाहिये। इस प्रकार शुभाशुभ फल ग्रहों पर से कहना चाहिये।

चरोभयस्थिताः सौम्याः सर्वकामार्थसाधकाः ।
आरूढछत्रलग्नेषु क्रूरेष्वस्तं गतेषु च ॥२२॥
परेणापहृतं ब्रूयात् नतु सिध्यति शुभेषु च ॥२३॥

चर और द्विस्वभाव राशियों पर यदि शुभ ग्रह हो तो कार्य सिद्ध होता है। आरूढ छत्र और लग्न में यदि अस्त होकर क्रूर ग्रह पड़े हों तो 'दूसरे ने चुराया है' ऐसा फल कहना। पर, यदि शुभग्रह हों तो 'मिल जायगा' ऐसा कहना।

पंचमो नवमस्तेन नष्टलाभः शुभोदये ।
येषु पापेन नष्टाप्ती लग्नादित्रिकेषु च ॥२४॥

पंचम, नवम और सप्तम (?) शुभ से युक्त हों तो नष्ट वस्तु मिलेगी, अशुभ ग्रह से युक्त हों तो न मिलेगी। यही हाल लग्न, चतुर्थ और दशम का भी जानना।

भ्रातृस्थानयुते पापे पंचमे वाऽशुभस्थिते ।
नष्टद्रव्याणि केनापि दीयन्ते स्वयमेव च ॥२५॥

तृतीय स्थान में पाप ग्रह हों या पंचम में हो पाप ग्रह हों तो कोई स्वयं नष्ट द्रव्य दे जायगा।

प्रश्नकाले शक्रचापे धूमेन परिवेष्टिते ।
ग्रहं द्रष्टुं न भवति तत्तदाशासु तिष्ठति ॥२६॥

× × × × × × × × × × ×

पृष्ठोदये शशांकस्थे नष्टं द्रव्यं न गच्छति ।
तद्राशिः शनिदृष्टश्चेन्नष्टं व्योम्नि कुजे न तत् ॥२७॥

पृष्ठोदय राशि लग्न में हो, उसमें चंद्रमा बैठा हो तो नष्ट द्रव्य कहीं गया नहीं है ऐसा कहना। किन्तु वह पृष्ठोदय राशि यदि शनि से दृष्ट हो × × × × ×

बृहस्पत्युदये स्वर्णं नष्टं नास्ति विनिर्दिशेत् ।
शुक्रे चतुर्थके रौप्यं नष्टं नास्ति वदेद्ध्रुवम् ॥२८॥
सप्तमस्थे शनौ कृष्णलोहं नष्टं न जायते ।
बुधोदये त्रपुनष्टं नास्ति चन्द्रे चतुर्थके ॥२९॥

लग्न में गुरु हो तो सोना नष्ट नहीं हुआ। चतुर्थ में शुक्र हो तो चान्दी नष्ट नहीं हुई। सप्तम में शनि हों तो लोहा नष्ट नहीं हुआ। लग्न में बुध हो तांबा नष्ट नहीं हुआ। चंद्रमा चतुर्थ में हों तो कांसा नष्ट नहीं हुआ ऐसा बताना चाहिये।

कांसं नष्टं न भवति वंगं राहौ च सप्तमे ।
आरकूटं पंचमस्थे भानौ नष्टं न जायते ॥३०॥

राहु सप्तम में हो तो रांगा और कांसा नहीं नष्ट हुए। पंचम में सूर्य हो तो पित्तल नष्ट नहीं हुआ।

दशमे पापसंयुक्ते न नष्टं च चतुष्पदं ।
बन्धनादि भवेयुः स्यात्तत्तद्द्विपदराशयः ॥३१॥

पापग्रह वृशम में हों तो पशु नष्ट नहीं हुआ। यदि यह राशि नरराशि हो तो किसो ने बांध लिया है ऐसा बताना चाहिये।

बहुपादुदये राशौ बहुपान्नष्टमादिशेत्।
पक्षिराशौ तथा नष्टे एतेषां बंधमादिशेत् ॥३२॥

बहुपात् राशि यदि लग्न हो तो बहुपाद जीव नष्ट हुआ है ऐसा बताना। यदि ये पक्षि राशि में नष्ट हुए हैं तो किसी के बन्धन में पड़ गये हैं ऐसा बताना चाहिये।

कर्कवृश्चिकयोर्लग्ने नष्टं सद्मनि कीर्तयेत्।
मृगमीनोदये नष्टं कपोतान्तरयोर्वदेत् ॥३३॥

कर्क और वृश्चिक यदि लग्न हों तो घर में हो नष्ट वस्तु है ऐसा बताना। मकर या मीन होतो कबूतरों के वासस्थल के पास कहीं पड़ा है।

कलशो भूमिजे सौम्ये घटे रक्तघटे गुरुः।
शुक्रश्च करके भग्न घटे भास्करनन्दनः ॥३४॥
आरनालघटे भानुश्चन्द्रो लवणभाण्डके।
नष्टद्रव्याश्रितस्थानं सद्मनीति विनिर्दिशेत् ॥३५॥

मंगलकारक होने से घड़े में और बुध का भी घड़े ही में तथा बृहस्पति का लाल घड़े में, शुक्र, होतो टूटे फूटे करक में, शनिश्चर हो तो घड़े में कमलघट में सूर्य का, चन्द्रमा का नमक के घड़े में अपने घर में नष्ट द्रव्य का स्थान निश्चय करना।

पुंग्रहे संयुते दृष्टे पुरुषस्तस्करो भवेत्।
स्त्रीराशौ स्त्रीग्रहैर्दृष्टे तस्करी च वधूर्भवेत् ॥३६॥

लग्न पुंराशि का हो, पुरुष ग्रह से युक्त और दृष्ट हो तो चोर पुरुष है। पर, यदि स्त्री राशि लग्न हो और स्त्री ग्रह से युत और दृष्ट हो तो स्त्री चोर है।

उदयादोजराशिस्थे पुंग्रहे पुरुषो भवेत्।
समराश्युदये चोरी समस्तैः स्त्रीग्रहैर्वधूः ॥३६॥

लग्न से विषम राशि में यदि पुरुष ग्रह हो तो चोर पुरुष होता है। सम राशि लग्न में हो और उस से समस्थान पर स्त्री ग्रह हो तो स्त्री चोर होगी।

उदयारूढयोश्चैव बलाबलवशाद् वदेत्।
कर्किनक्रपुरंध्रीषु नष्टद्रव्यं न सिध्यति ॥३७॥

लग्न और आरूढ़ पर से जो फल कहा गया है उसे कहते समय बलाबल का विचार करके कहना। कर्क मकर और कन्या में भूला माल नहीं मिलता।

पश्यन्ति खे खगेश्चन्द्रः चौरास्तद्रूतस्वरूपिणः।
द्रव्याणि च तथैव स्युरिति ज्ञात्वा वदेत् सुधीः ॥३८॥

आकाश में जो ग्रह चन्द्र का पूर्ण दृष्टि से देखता हो उसी के स्वरूप का चोर बताना, द्रव्य भी वैसा ही होगा।

यस्य आरूढभं याता तस्यां दिशि गतं वदेत्।
तत्तद्ग्रहांशुसंख्याभिस्तत्तद्दिनाधिकं वदेत् (?) ॥३९॥

जिसके आरूढ़ में वस्तु नष्ट हुई है उसी की दिशा में गई है और उस ग्रह की किरणों के बराबर दिन भी बताना चाहिये।

स्वभावकवशादेवं किंचिद्दृष्टिवशाद् वदेत्।
चन्द्रः स्वर्क्षादुदयभं यावत्तावत् फलं भवेत् ॥४०॥
चरस्थिरोभयः पश्चादेकद्वित्रिगुणान् वदेत्।

स्वभाव और दृष्टि का ध्यान रख कर फल कहना चाहिये। चन्द्रमा के अपनी राशि से जितनी दूर लग्न हो उतना ही फल होता है। चरस्थिर और द्विस्वभाव राशियों से क्रमशः एक दो और तीन गुना काल आदि बताना।

इति नष्टकाण्डः

सुवस्तुलाभं राज्यं च राष्ट्रं ग्रामं स्त्रियस्तथा।
उपायनांशुकोधानलाभालाभान् वदेत् सुधीः ॥१॥

इस प्रकरण में कथित नियमों के अनुसार वस्तुलाभ, राज्य, राष्ट्र, ग्राम, स्त्री, वस्त्र, लाभ, और हानि को बुद्धिमान बतायें।

उदयादित्रिकान् खेटाः पश्यन्त्युच्चक्षगा यदि।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति रिपुः पश्यति चेद्रिपुम् ॥२॥

यदि उच्च ग्रह लग्न द्वितीय और तृतीय को देखते हों तो शत्रु भी मित्र हो जाता है।

उदयं छत्रलग्नं च रिपुः पश्यति वा युतम्।
आयुर्हानिः रिपुस्थानं गतश्चेद् बन्धनं भवेत् ॥३॥

यदि शत्रुग्रह अपने शत्रु को देखता हो अथवा, लग्नेश का शत्रु लग्न या छत्र से युत या दृष्ट हो तो आयु की हानि होगी। रिपुस्थान गत होने से बन्धन भी होता है।

गतो नायाति नष्टं चेद्बहिरेव गतिं वदेत्।
गलवच्चन्द्रजीवाभ्यां खेन्द्रेषु सहितेषु च ॥४॥

अथवा (उसी परिस्थिति में) गया हुआ घर नहीं लौटता अथवा बाहर की ही गति करनी चाहिये। पाप ग्रह से युक्त चन्द्रमा और बृहस्पति का यह फल बताना है।

नष्टप्रश्ने न नष्टं स्यात् मृत्युप्रश्ने न नश्यति।
पापदृष्टियुते खेन्द्रे भानुयुक्ते विपर्ययः ॥५॥

खोये हुए प्रश्न में खोया हुआ नहीं कहना एवं मृत्यु के प्रश्न में भी मरना नहीं। यदि पाप-ग्रह का दृष्टियोग हो तो यह फल होता है, किन्तु सूर्य के दृष्टियोग में इसका उल्टा होता है।

शत्रोरागमनं नास्ति चतुर्थे पापसंयुते।
दशमैकादशे सौम्यः स्थितश्चेत्सर्वकार्यकृत् ॥६॥

यदि लग्न से चौथे स्थान में पाप ग्रह बैठे हों तो शत्रु का आगमन नहीं होता एवं दशम और एकादश में शुभ ग्रह स्थित होतो सब कामों का सिद्ध करता है।

त्रिपपीडा तु प्रश्ने तु रोगिणां मरणं भवेत्।
गमनं विघ्ने प्रष्टुर्नास्तीति कथयेद् बुधः ॥७॥
प्रारब्धकार्यहानिश्च धनस्यायतिरीहिता।

पूर्वोक्त स्थिति में त्रिपपीड़ा हो तो रोगी का मरण हो जाता है और प्रश्नकर्ता की यात्रा नहीं होती तथा प्रारम्भ किये हुए कार्य की हानि तथा धन की हानि होती है ऐसा कहा गया है।

चन्द्राद्व्योमस्थिते शुक्रे जीवाद्व्योमस्थिते रवौ॥८॥
तल्लग्ने कार्यसिद्धिः स्यात् पृच्छतां नात्र संशयः।

चन्द्र राशि से दशम में शुक्र हो और बृहस्पति की राशि से दशम में सूर्य हो तो ऊपर के बताये हुए लग्न में पूछने वाले को निःसन्देह सिद्धि होती है।

उदयात्सप्तमे व्योम्नि शुक्रश्चेत् स्त्रीसमागमः ॥९॥
धनागमं च सौम्ये च चन्द्रेऽप्येवं प्रकीर्तितम्।

लग्न से सप्तम में शुक्र हो तो स्त्रीसमागम, बुध हो तो धनागम और चन्द्रमा भी हों तो धनागम बताना चाहिये। अन्य शुभग्रहों पर से भी यही फल कहा जायगा।

मित्रः स्वाम्युच्चमायाति नता खेटाश्च यष्टिकाः ॥१०॥
शन्यारयोगवेलायां सर्वकार्यविनाशनम् ॥

मित्र स्वामी उच्च का उयोति ग्रह हो तो खींचना है; शनि-मंगल योग बेला में हो तो सम्पूर्ण कार्यों का नाश करता है।

पूर्वशास्त्रानुसारेण मृत्युव्याधिनिरूपणम् ॥११॥

पूर्व कथित शास्त्र के अनुसार मृत्यु और व्याधि का निरूपण करता हूं।

उदयात् षष्ठमे (?) व्याधिः अष्टमे मृत्युसंयुतम्।
तत्रारूढे व्याधिचिन्ता निधने (?) मृत्युचिन्तनम् ॥१२॥

लग्न से षष्ठ स्थान से व्याधि और अष्टम स्थान से मृत्यु का विचार करना चाहिये। इसी प्रकार आरूढ से भी क्रमशः षष्ठ और अष्टम हो तो व्याधि और मृत्यु का विचार करना चाहिये।

तत्तद्ग्रहयुते दृष्टे व्याधिं मृत्युं वदेत् क्रमात्।
पापनीचारयः खेटाः पश्यन्ति यदि संयुताः ॥१३॥
न व्याधिशमनं मृत्युं विचार्यैवं वदेत् क्रमात्।

व्याधि और मृत्यु को इस प्रकार बताना चाहिये—यदि षष्ठ स्थान और अष्टम स्थान पाप ग्रह, नीच ग्रह या शत्रु ग्रह से दृष्ट या युत हों तो व्याधि और मृत्यु बताना चाहिये। इनका शमन नहीं हुआ यह विचार करके बताना चाहिये।

एतयोश्चंद्रभुजगौ तिष्ठतो यदि चोदये ॥१४॥
गरादिना भवेद्व्याधिः न शाम्यति न संशयः ।
पृष्ठोदये क्षेत्रछत्रे व्याधिमोक्षो न जायते ॥१५॥

यदि इन्हीं षष्ठ या अष्टम स्थान में चन्द्रमा और राहु या लग्न में एक हो और अन्य इन स्थानों में तो विष देने से व्याधि हुई है और वह शान्त न होगी। पृष्ठोदय लग्न हो और लग्नेश की राशि ही छत्र हो तो व्याधि का शमन नहीं हुआ है।

व्याधिस्थानानि चैतानि मूर्धा वक्त्रं भुजः करः ।
वक्षःस्थलं स्तनौ कुक्षिः कक्षं मूलं च मेहनं ॥१६॥
उरू पादौ च मेषाद्या राशयः परिकीर्तिताः ।

मेषादि राशियों के लग्न होने से क्रमशः इस प्रकार व्याधि स्थान जानना चाहिये— सिर, मुंह, बाहु, हाथ (हथेली), छाती, स्तन, कोख, कांख, मूल, उपस्थ, जंघा और चरण ।

कुजो मूर्ध्नि मुखे शुक्रौ गण्डयोर्भुजयोर्बुधः ॥१७॥
चन्द्रो वक्षसि कुक्षौ च हनौ नाभौ रविर्गुरुः ।
उर्वोः शनिरहिः पादौ ग्रहाणां स्थानमीरितम् ॥१८॥

ग्रहों का स्थान इस प्रकार है—मंगल मूर्द्धा में, शुक्र मुंह में, गण्डस्थल और भुजा में बुध, चन्द्र वक्षःस्थल में और कोख में, हनु (ढोड़ी) और नाभि में क्रमशः सूर्य और बृहस्पति, जंघों में शनि, चरणों में राहु ।

स्थानेष्वेतेषु नष्टं च भवेदेतेषु राशिषु ।
पापयुक्तेषु दृष्टेषु नीचसक्तेषु सम्भवः ॥१९॥

इन स्थानों में अथवा इन राशियों में पाप ग्रहों का दृष्टियोग हो और उस समय में नष्ट हुआ हो तो तथा नीचासक्त में हो तो रोग का सम्भव जानना चाहिये ।

पश्यंति चेद् ग्रहाश्चंद्रं व्याधिस्थानावलोकनम् ।
पूर्वोक्तमासवर्षाणि दिनानि च वदेत्सुधीः ॥२०॥

यदि व्याधि स्थान को देखने वाले चंद्रमा पर ग्रहों की दृष्टि हो तो पहले बताये हुए दिन, मास और वर्ष का निर्देश करना चाहिये ।

षष्ठाष्टमे पापयुते रोगशान्तिर्न जायते।
षष्ठाष्टमे शुभयुते रोगः शाम्यति सर्वदा ॥२१॥

षष्ठ और अष्टम स्थान यदि पापाक्रान्त हों तो रोगशान्ति नहीं होती पर, यदि शुभ युक्त हों तो होती है।

किंचित्तत्र विशेषोक्तो रोगमृत्युस्थलं शुभम्।
यावद्भिर्दिवसैर्यान्ति तावद्भी रोगमोचनम् ॥२२॥

विशेषता यह है कि, षष्ठ या अष्टम स्थान में जितने दिनों में शुभ ग्रह पहुंचेगा उतने ही दिनों में रोग छूटेगा।

रोगस्थानं भवेदस्ते पापखेटयुतं तथा।
तत्षष्ठचंद्रसंयुक्ते रोगिणां मरणं भवेत् ॥२३।

यदि रोगस्थान अस्त लग्न पाप ग्रह से युक्त हो और उससे भी छठां स्थान चंद्रमा से युक्त हो तो रोगी की मृत्यु निश्चित होगी।

रोगस्थानं कुजः पश्येत् शिरस्तोऽधो ज्वरं भवेत्।
भृगुर्विसूची सौम्यश्चेत् कक्षग्रंथिर्भविष्यति ॥२४॥

मंगल यदि षष्ठ स्थान को देखे तो शिर के नीचे ज्वर, शुक्र देखे तो हैज़ा और बुध देखे तो कक्ष ग्रंथि (प्लेग ?) होगा।

राहुर्विषू शशी पश्येन्नेत्ररोगो भविष्यति।
मूलव्याधिर्भृगुः पश्येच्चंद्रवत् स्याद् भृगोः फलं ॥२५॥

राहु से हैज़ा, चंद्रमा के देखने से नेत्ररोग और चंद्र को भृगु देखता हो तो शुक्र का भी फल चंद्रसा ही होगा।

परिधौ चंद्रको दण्डदृष्टिः प्रश्ने कृते सति।
कुष्ठव्याधिं मृतिं ब्रूयात् धूमे भूताहतं भवेत् ॥२६॥
सर्वापस्मारमादित्ये पिशाचपरिपीड़नं।
श्वासः कासश्च शूलश्च शनौ शीतज्वरं कुजे ॥२७॥

परिधि चन्द्रमा धनुष की दृष्टि में प्रश्न हों तो कुछ रोग किंवा मृत्यु बताना। केतु से भूतबाधा और सूर्य से सब प्रकार की मिरगी या पिशाचबाधा, शनि से श्वास कास और शूल तथा मंगल से शीत ज्वर बताना।

इन्द्रकोदण्डपरिधौ दृष्टे प्रश्ने तु रोगिणां।
न व्याधिशमनं किंचिद्यदि पश्यंति चेत् शुभा॥२८॥

इन्द्र धनुष परिधि दृष्टि में यदि रोगीका प्रश्न हो तो रोग की कुछ भी शांति नहीं हो तो यदि स्थान को कभी राहु नहीं देखता हो यह स्थिति होती है। (?)

रोगशान्तिर्भवेच्छीघ्रं मित्रस्वात्युच्चसंस्थिताः।

यदि शुभ ग्रह उच्च मित्र और स्वगृही हों तो रोगशांति शीघ्र बताना चाहिये।

शिरोललाटे भ्रू नेत्रे नासाश्रुत्यधराः स्मृताः॥२९॥
चिबुकश्चांगुलिश्चैव कृत्तिकाद्युडवो नव।

सिर, ललाट, भौं, आंख, नाक, कान, होंठ, चिबुक और अंगुलि ये कृतिकादि नव नक्षत्रों के स्थान हैं।

कंठवक्षः स्तनं चैव गुदमध्यनितंबकाः॥३०॥
शिश्नमेढ्रोरवः प्रोक्ता उत्तराद्या नवोडवः।

कंठ, छाती, स्तन, गुदा, कटि, नितंब, उपस्थ, मेढ्र और ऊरु ये उत्तरादि नव नक्षत्रों के स्थान हैं।

जानुजंघापादसंधिपृष्ठान्तस्तलगुल्फकं॥३१॥
पादाग्रं नाभिकांगुल्यौ विश्वर्क्षाद्या नवोडवः।

जानु, जंघा पादसंधि, पीठ, अन्तस्तल, गुल्फ, पैर के आगे का भाग, नाभि, अंगुलि ये उत्तराषाढ़ादि नव नक्षत्रों के स्थान हैं।

उदयर्क्षवशादेवं ज्ञात्वा तत्र गदं वदेत्॥३२॥
अंगनक्षत्रकं ज्ञात्वा नष्टद्रव्यं तथा वदेत्।

लग्न में जो नक्षत्र हो उसी के अनुसार इन अंगों में रोग बताना चाहिये। इसी प्रकार शरीर नक्षत्र नक्षत्र के पर से नष्ट द्रव्य भी बताना चाहिये।

त्रिकोणलग्नदशमे शुभश्चेद् व्याधयो नहि ॥३३॥
तेषु नीचारियुक्तेषु व्यधि-पीड़ा भवेन्नृणां।

पंचम नवम, लग्न और दशम में यदि शुभ ग्रह हों तो व्याधि नहीं होती और पाप या शत्रु ग्रह हों तो होती है।

इति रोगकाण्डः

अथ मरणकाण्डः

मरणस्य विधानानि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः।
वृषस्य वृषभच्छत्रं सिंहच्छत्रं हरेर्भवेत् ॥१॥
अलिनो वृश्चिकच्छत्रं कुंभच्छत्रं घटस्य च।

मरण का विधान भी विद्वानों को जानना चाहिये। वृष का छत्र वृष, सिंह का सिंह, वृश्चिक का वृश्चिक, और कुंभ का छत्र कुंभ है।

उच्चस्थानमिति ज्ञात्वा उच्चः स्यादुदये यदि ॥२॥
मरणं न भवेत्तस्य रोगिणो नात्र संशयः।

यदि प्रश्न काल में लग्न (लग्नेश ?) उच्च का हो तो रोगी की मृत्यु नहीं हुई।

तुलायाः कार्मुकच्छत्रं नीचमृत्युविपर्यये ॥३॥
मेषस्य मिथुनच्छत्रं नीचमृत्युविपर्यये।
नक्रस्य मिथुनच्छत्रं नीचमृत्युविपर्यये ॥४॥
कन्याछत्रं कुलीरस्य नीचमृत्युविपर्यये।

तुला का धन, मेष का मिथुन, मकर का मिथुन और कन्या का कर्क छत्र होता है किन्तु नीच मृत्युविपर्य में ही उसका शनि काम करता है।

नीचे चेद् व्याधिमोक्षो न मृत्युर्मरणमादिशेत् ॥५॥
ग्रहेषु बलवान् भानुर्यदि मृत्युस्तदाग्निना।
मंदः क्षुधा जलेनेन्दुः शीतेन कविरुच्यते ॥६॥
बुधस्तुषारवाताभ्यां शस्त्रेणोरो बली यदि।
राहुर्विषेण जीवस्तु कुक्षिरोगेण नश्यति ॥७॥

यदि लग्नेश नीच में हो तो मृत्यु बताना। यदि ग्रहों में बली सूर्य हो तो आग से, शनि हो तो भूख से, चंद्र हो तो जल से, शुक्र हो तो शीत से, बुध हो तो तुषार और वात से केतु हो तो हथियार से राहु होतो विषसे और बृहस्पति हो तो कुक्षिरोग से मृत्यु होती है।

विधोः षष्ठाष्टमे पापः सप्तमे वा यदि स्थितः।
रोगमृत्युस्तलाभ्यां (?) वा रोगिणां मरणं भवेत् ॥८॥

यदि चंद्र के छठे या आठवें स्थान में पाप ग्रह हों तो रोगी की मृत्यु होगी।

आरूढान्मरणस्थानं तस्माद्ष्टमगः शशी।
पापाः पश्यंति चेन्मृत्युं रोगिणां कथयेत्सुधीः ॥९॥

आरूढ़ से अष्टम स्थान को उसमें अष्टम स्थान स्थित चंद्रमा और पाप ग्रह देखते हों, तो रोगी मरेगा।

द्वितीये भानुसंयुक्ते दशमे पापसंयुते।
दशाहान्मरणं ब्रूयात् शुक्रजीवौ तृतीयगौ ॥१०॥
सप्ताहान्मरणं ब्रूयात् रोगिणामाह बुद्धिमान्।

द्वितीय में सूर्य हों, दशम में पाप हो तो दश दिन के भीतर ही रोगी मरेगा। और यदि शुक्र और बृहस्पति हों तो सात दिन के भीतर दिन में ही रोगी मरेगा।

उदये चतुरस्रे वा पापास्त्वष्टदिनान्मृतिः ॥११॥
लग्नद्वितीयगाः पापाश्चतुर्दशदिनान्मृतिः।
त्रिदिनान् मरणं किन्तु दशमे पापसंयुते ॥१२॥
तस्मात्सप्तगे पापे दशाहान्मरणं भवेत्।

उदय या चतुरस्र में यदि पाप ग्रह हों तो आठ दिन में, लग्न और त्रितीय में हों तो १४ दिन में, दशम में पाप ग्रह स्थित हों तो ३ दिन में और चतुर्थ में हों तो दश दिन में मृत्यु होगी।

निधनारूढगे पापदृष्टे वा मरणं भवेत्।
तत्तद्ग्रहवशादेव दिनमासादिनिर्णयम् ॥१३॥

मृत्यु और आरूढ़ स्थान यदि पाप ग्रहों से दृष्ट हो तो मरण बताना। दिन महीने आदि का निर्णय ग्रहों पर से कर लेना।

इति मरणकाण्डः

ग्रहोच्चैः स्वर्गमायाति रिपौ मृगकुले भवः।
नीचे नरकमायाति मित्रे मित्रकुलोद्भवः ॥१॥
स्वक्षेत्रे स्वजने जन्म मित्रं ज्ञात्वा वदेत् सुधीः।

मृत्यु के समय मृत प्राणी को ग्रहों के उच्च के रहने पर स्वर्ग होता है शत्रु स्थान में रहने पर पशुयोनि में जन्म, मित्र गृह में रहने पर मित्र कुल में जन्म और स्वक्षेत्र में रहने पर स्वजनों में जन्म बताना चाहिये।

इति स्वर्गकाण्डः

कथयामि विशेषेण मूकद्रव्यस्य लक्षणम्।
पाकभाण्डानि भुक्तानि व्यंजनानि रसं तथा ॥१॥

अब मैं विशेष करके मूक द्रव्यों का निर्णय करता हूं। इस प्रकरण में पाक-भाण्ड भुक, व्यंजन और रसका वर्णन होगा।

सहभोक्ता भोजनानि तत्तथानुभवो रिपून् । (१)
मेषराशौ भवेच्छाकं वृषभे गव्यमुच्यते ॥२॥
धनुर्मिथुनसिंहेषु मत्स्यमांसादिभोजनम् ।
नक्रालिकर्किमीनेषु फलभक्ष्यफलादिकम् ॥३॥
तुलायां कन्यकायाश्च शुद्धान्नमिति कीर्तयेत् ।

× × × × × ×

मेष लग्न यदि बली हो तो शाक भोजन बताना चाहिये। वृष हो तो दही दूध घी आदि, धनु मिथुन और सिंह हों तो मछली मांस, मकर, वृश्चिक, कर्क और मीन हो तो फलाहार और तुला कन्या हों तो शुद्ध अन्न बताना चाहिये।

भानोस्तिक्तकटुक्षारमिश्रं भोजनमुच्यते ॥४॥
उष्णान्नक्षारसंयुक्तं भूमिपुत्रस्य भोजनम् ।

सूर्य का भोजन तीता कड़ुवा खारा, और मंगल का गर्म अन्न और खारा है।

भर्जितान्युपदं सौरे सौम्यस्याहुर्मनीषिणः ॥५॥
पायसान्नं घृतैर्युक्तं गुरोर्भोजनमुच्यते ।

शनि और बुध का भोजन भुना हुआ पदार्थ, तथा बृहस्पति का घृतयुक्त पायस जानना।

सतैलं कोद्रवान्नं च भवेन्मन्दस्य भोजनम् ॥६॥
समाषं राहुकेत्वोश्च रसवर्गमुदाहृतम् ।

तेल में बना हुआ और कोदो भी शनि का भोजन है। उड़द के साथ यह राहु और केतु का भी भोजन है।

जीवस्य माषवटकं सुष्ठु मीनैस्तु भोजनम् ॥७॥
चन्द्रकद्र्यप्रसवमत्स्याद्यं भोजनं वदेत् ।

बृहस्पति और चन्द्रमा का भोजन मांस और मछली से होता है।

क्षौद्रापूपपयोयुग्भिर्भोजनं व्यंजनैर्भृगोः ॥८॥

शुक्र का भोजन मधु दूध और अपूप आदि व्यंजनों से होता है।

ओजराशौ शुभैर्दृष्टे स्वेच्छया भोजनं भवेत्।
समराशौ पापदृष्टे भुंक्तेऽल्पं पापवीक्षिते ॥६॥

यदि विषम राशि को शुभ ग्रह देखते हों तो अधिकता से और सम राशि को पाप-ग्रह देखते हों और युक्त हों तो कमी के साथ भोजन बताना चाहिये।

किंचित्पश्यति पापश्चेत् पुराणान् मधुभोजिनः। (?)
अर्कारौ मांसभोक्तारौ उशनश्चन्द्रभोगिनां ॥१०॥
नवनीतघृतक्षीरदधिभिर्भोजनं भवेत्।

पाप ग्रह की साधारण दृष्टि हो तो मधुर भोजन बताना। सूर्य और मंगल मांस-भक्षी, शुक्र, चन्द्र और राहु मक्खन घी दूध और दही के साथ खाने वाले हैं।

जलराशिषु पापेषु सौम्येषु च दिनेषु च ॥११॥
सतैलं भोजनं ब्रूयादिति ज्ञात्वा विचक्षणः।

पाप ग्रह जलराशि में हों और सौम्य ग्रह दिनवाला हों तो सतैल भोजन बताना चाहिये।

पूर्वोक्तधातुवर्गेण भोजनानि विनिर्दिशेत् ॥१२॥
मूलवर्गेण शाकादीनुपदेशाद् वदेद् बुधः।
जीववर्गेण भुक्त्वा च मत्स्यमांसादिकानपि ॥१३॥
सर्वमालोक्य मनसा वदेन्नृणां विचक्षणः।

पूर्व कथित धातुवर्ग से भोजन, मूल वर्ग से शाक सब्जी आदि, और जीववर्ग से मांस मछली आदि का भोजन बुद्धिमान् पुरुष सब देख सुन के बतावें।

इति भोजनकाण्डः

स्वप्ने यानि च पश्यन्ति तानि वक्ष्यामि सर्वदा ।
मेषोदये देवग्रहं प्रसादान् संवदंति च ॥१॥
वृषोदये दिनाधीशं ज्ञातिदेशस्य दर्शनम् ।
वृश्चिकस्योदये क्रूरं व्याकुलं मृतदर्शनम् ॥२॥

स्वप्न में मनुष्य जो देखता है उसे भी बताता हूं—मेष लग्न में देवग्रह देखता है और प्रसन्नता की बातें सुनता है और कहता है। वृष में सूर्य को, ज्ञाति को देश को और वृश्चिक में क्रूर, व्याकुल और मृतक को देखता है।

मिथुनस्योदये विप्रान् तपस्विवदनानि च ।
कुलीरस्योदये क्षेत्रं············पुनः ॥३॥
तृणान्यादाय हस्ताभ्यां गच्छन्तीरिति निर्दिशेत् ।
सिंहोदये किरातं च महिषीभिर्निपातितम् ॥४॥

मिथुन लग्न में विप्र और तपस्वियों के मुंह कर्क में खेत·······तथा हाथों में तृण लेकर जाते हुओं को देखा जाता है। सिंह में किरात को और भैंस से अपने को निपातित या उसी किरात को निपातित देखा जाता है।

कन्योदयेऽपि चारूढं (?) मुण्डस्त्रीभिर्द्विपादयः ।
तुलोदये नृपान् स्वर्णं वणिजश्च स पश्यति ॥५॥
वृश्चिकस्योदये स्वप्ने पश्यन्त्यलिमृगादयः ।
वृषभश्च तथा ब्रूयात् स्वप्नदृष्टो न संशयः ॥६॥
उदये धनुषः पश्येत् पुष्पं पक्वफलं तथा ।
मृगोदये दिनेन्दुं च रिपुं स्वप्नेषु पश्यति ॥७॥
कुंभोदये च मकरं मीनस्वप्ने जलाशयः ।

कन्या में स्वप्न देखे तो मुण्डित स्त्री हाथी आदि, तुला में राजा, स्वर्ण, बनिया आदि वृश्चिक में भौंरा मृग, बैल आदि, धनु में फूल, पक्व फल आदि, मकर में दिन का चांद शत्रु, कुंभ में घड़ियाल (मगर), मीन में जलाशय दिखाई देता है।

चतुर्थे तिष्ठति भृगौ रजतं वस्तु पश्यति ॥८॥
कुजश्चेन्मांसरक्तांश्च सशुक्लफलमंगनाम्।

चतुर्थ में शुक्र हो तो चांदी की चीज, मंगल हो तो मांस, रक्त और सफेद फल लिये हुई औरत दिखाई पड़ती है।

मृगं शनिश्चेत् सौम्यश्चेत् शिलां स्वप्ने तु पश्यति ॥९॥
आदित्यश्चेन्मृतान् पुंसः पतनं शुष्कशालिनाम्।
चंद्रश्चेत् वदनं शीतं राहुमध्यविषं भवेत् ॥१०॥

शनि चतुर्थ में हो तो मृग, बुध हो तो शिला, सूर्य हो तो मरे हुए मनुष्यों को अथवा सूखे धान्यों को, चन्द्रमा हो तो शीतवदन और राहु हो तो मध्य विष का दर्शन स्वप्न में

अत्र किंचित् विशेषोऽस्ति छत्रारूढोदयेषु च।
छत्रस्थितश्चेत् सौम्यश्चेत् सौधसौम्यामरान् वदेत् ॥११॥

इस प्रश्नाध्याय में लग्न राशियों के पक्ष विशेष यह है कि शुभग्रह कभी छत्रारूढ हो तो ………सुन्दर गृह अथवा देवतादिक का दर्शन होता है।

चतुर्थभवनात् स्वप्नं ब्रूयात् ग्रहनिरीक्षकः।
तत्रानुक्तं यदखिलं ब्रूयात् पूर्वोक्तवस्तुना ॥१२॥

चतुर्थ भवन से ग्रहज्ञों को स्वप्न फल कहना चाहिये। जो कुछ न भी कहा गया है उसे भी पूर्व कथित वस्तु पर से समझ लेना चाहिये।

इति स्वप्नकाण्डः

अथोभयर्क्षे पथिको दुर्निमित्तानि पश्यति।
स्थिरोदये निमित्तानां निरोधेन न गच्छति ॥१॥
चरोदये निमित्तानां समायातीति ईरयेत्।

यात्री द्विस्वभाव लग्न में जाने से दुःशकुन देखता है। स्थिर लग्न में शकुनों के प्रभाव से यात्रा ही स्थगित कर देता है और चर लग्न में शुभ शकुनों के प्रभाव से सफलतापूर्वक लौट आता है।

चन्द्रोदये दिवाभीतचषपारावतादयः ॥२॥
शकुनं भविता दृष्टं (?) इति ब्रूयाद्विचक्षणः ।

लग्न में यदि चन्द्र हो तो रास्ते में उल्लू कबूतर आदि का शकुन होगा—यह बताना चाहिये।

राहूदये तथा काकभरद्वाजादयः खगाः ॥३॥
मन्दोदये कुलिंगः स्यात् ज्ञोदये पिंगलस्तथा ।

लग्न में राहु हो तो काक भरदूल आदि, शनि हो तो चटक और बुध हो तो बन्दर।

सूर्योदये च गरुडः सव्यासव्यवशाद् वदेत् ॥४॥
स्थिर राशौ स्थिरान् पश्येत् चरे तिर्य्यग्गता यदि ।
उभयेऽध्वनि वृत्तस्य ग्रहस्थितिवशाद्गमी ॥५॥

सूर्य लग्न में हो दाहिने बांये को विचार के गरुड़ बताना चाहिये। स्थिर में स्थिर वस्तु, चर में चर—पक्षी आदि—और द्विस्वभाव में रास्ते से लौटते हुए आदमी दिखाई पड़ते हैं। यही बात ग्रहस्थिति के वश से इस प्रकार है।

राहोर्गौर्लिर्विधोश्चात्र ज्ञस्य चुन्नधरी भवेत् ।
दधि शुक्रस्य जीवस्य क्षीरसर्पिरुदाहरेत् ॥६॥
भानोश्च श्वेतगरुडः शिवा भौमस्य कीर्तिताः ।
शनैश्चरस्य वह्निश्च निमित्तं दृष्टमादिशेत् ॥७॥
शुक्रस्य पक्षिणौ ब्रूयात् गमने शरटा बकाः ।
जीवकाण्डप्रकारेण वीक्षणस्य विचारयेत् ॥८॥

राहु का गौ और बिल्ली चन्द्रमा का ·········बुध का चुन्नधरी (पक्षि विशेष) शुक्र का दही, बृहस्पति का दूध घी, सूर्य का श्वेत गरुड़, मंगल का शृगालियां, शनि का

भाग, शुक का दो पक्षी शब्द और बक—ये शकुन होते हैं। जीव काण्ड में कहे हुये प्रकार से शकुन दर्शन का विचार कर लेना चाहिये।

इति निमित्तकाण्डः

प्रश्ने वैवाहिके लग्ने कुजः स्यादुदये यदि।
वैधव्यं शीघ्रमायाति सा वधू नेति संशयः ॥१॥

× × × × × × × × ×

प्रश्न लग्न में, यदि विवाह संबंधी प्रश्न हो तो, यदि मंगल हो तो शीघ्र बिना संदेह के वधू विधवा हो जायगी।

उदये मन्दरे नारी रिकामृगसुता भवेत्। (?)
चन्द्रोदये तु मरणं दम्पत्योः शीघ्रमेव च ॥२॥
शुक्रजीवबुधा लग्ने यदि तौ दीर्घजीविनौ।

× × × × × × ×

लग्न में चन्द्रमा हो तो दोनों स्त्री पुरुष शीघ्र मर जायगे, शुक्र बृहस्पति या बुध के लग्न में रहने से वे दीर्घजीवी होंगे।

द्वितीयस्थे निशानाथे बहुपुत्रवती भवेत् ॥३॥
स्थितिमध्यर्कमन्दाराः मनःशोको दरिद्रता।

यदि द्वितीय में चंद्र हो तो बहु पुत्रवती और दशम में सूर्य मंगल और शनि हों तो मानसिक कष्ट और दारिद्र्य प्राप्त होता है।

द्वितीये राहुसंयुक्ता सा भवेत् व्यभिचारिणी ॥४॥
शुभग्रहा द्वितीयस्था मांगल्यायुष्यवर्द्धना।

द्वितीय स्थान में राहु हो तो कन्या व्यभिचारिणी और शुभ ग्रह हों तो मंगल और आयु से पूर्ण होती है।

तृतीये राहुजीवौ चेत्सा वन्ध्या भवति ध्रुवम् ॥५॥
अन्ये तृतीयराशिस्था धनसौभाग्यवर्द्धना।

राहु और बृहस्पति यदि तृतीय में हों तो स्त्री वन्ध्या होगी। उसी स्थान में अन्य ग्रह हों तो धन और सोहाग से भरपूर होगी।

नाथा दिनेशस्तिष्ठंतो यदि तुर्ये ततोऽशुभः ॥६॥(?)
शनिश्च स्तन्यहीना स्याद्‌हिः सापल्यवत्यसौ।
बुधजीवारशुक्राश्चेत् अल्पजीवनवत्यसौ ॥७॥

चतुर्थ में सूर्य हो तो (अशुभ फल), शनि हो तो सन्तानहीना, राहु हो सौत वाली होगी। वहीं बुध बृहस्पति, मंगल या शुक्र हों तो अल्पायु होगी।

पंचमे यदि सौरिः स्याद् व्याधिभिः पीडिता भवेत्।
शुक्रजीवबुधाश्चापि पशुश्चेत् बहुपुत्रवत् ॥८॥
चन्द्रादित्यौ तु वन्दी स्यात् अहिश्चेत् मरणं भवेत्।
आरश्चेत् पुत्रनाशः स्यात् प्रश्ने पाणिग्रहोचिते ॥९॥

पंचम में यदि शनि हो तो रोगिणी, शुक्र, बृहस्पति और बुध हों तो बहुत पशु और पुत्र से युक्त, चन्द्रमा और सूर्य हों तो बन्दी, राहु हो तो मरण और मंगल हो तो पुत्रनाश यह वैवाहिक प्रश्न में बताना।

षष्ठे शशी चेद्विधवा बुधः कलहकारिणी।
षष्ठे तिष्ठति शुक्रश्चेद्दीर्घमांगल्यधारिणी ॥१०॥
अन्ये तिष्ठन्ति चेन्नारी सुखिनी वृद्धिमिच्छति।

षष्ठ स्थान में चन्द्रमा हो तो विधवा, बुध हो तो कलही, शुक्र हो तो सर्व मांगल्य-धारिणी और अन्य ग्रह हों तो सुखी और वृद्धिमती कन्या होती है।

सप्तमस्थे शनौ नारी तरसा विधवा भवेत् ॥११॥
परेणापहृता याति कुजे तिष्ठति सप्तमे।
बुधजीवौ सन्मतिः स्याद्राहुश्चेद् विधवा भवेत् ॥१२॥
व्याधिग्रस्ता भवेन्नारी सप्तमस्थो रविर्यदि।

सप्तमस्थे निशार्धांशे ज्वरपीडावती भवेत् ॥१३॥
शुक्रश्चेत्सप्तमे स्थाने सा वधूर्मरणं व्रजेत् ।

सप्तम में यदि शनि हों तो शीघ्र विधवा, मंगल हों तो दूसरे से हरी जाकर अन्यगामिनी, बुध और बृहस्पति हों तो मद्बुद्धि वाली, राहु हो तो विधवा, सूर्य हो तो व्याधि ग्रस्त, चन्द्रमा हो तो बुखार की पीड़ा से आकुल और शुक्र हो तो मृत्यु को प्राप्त होती है।

अष्टमस्थाः शुक्रगुरुभुजगा नाशयंति च ॥१४॥
शनिज्ञौ वृद्धिदौ भौमचंद्रौ नाशयतः स्त्रियम् । (?)
आदित्यारौ पुनर्भूः स्यात्प्रश्ने वैवाहिके वधू ॥१५॥

अष्टम में शुक्र, गुरु और राहु नाश करने वाले, शनि और बुध वृद्धि करने वाले, मंगल और चंद्र मारक, सूर्य और मंगल पुनर्विवाह कारक होते हैं।

नवमे यदि सोमः स्यात् व्याधिहीना भवेद् वधूः ।
जीवचंद्रौ यदि स्यातां बहुपुत्रवती वधूः ॥१६॥
अन्ये तिष्ठन्ति नवमे यदि वंध्या न संशयः ।

नवम में यदि बुध हो तो वधू नीरोग, बृहस्पति और चन्द्रमा हों तो बहु पुत्रवाली और अन्य ग्रह हों तो वन्ध्या होती है--इसमें सन्देह नहीं।

दशमे स्थानके चंद्रो वन्ध्या भवति भामिनी ॥१७॥
भार्गवो यदि वेश्या स्यात् विधवार्किकुजादयः ।
रिक्ता गुरुश्चेज्ज्ञादित्यौ यदि तस्याः शुभं वदेत् ॥१८॥

दशम में चन्द्र हों तो बांझ शुक्र हो तो वेश्या, शनि मंगल आदि हो तो विधवा, गुरु होतो रिक्ता और बुध सूर्य हो तो अशुभ (?) फल वाली होती है।

लाभस्थानगताः सर्वे पुत्रसौभाग्यवर्द्धकाः ।
लग्नद्वादशगश्चंद्रो यदि स्यान्नाशमादिशेत् ॥१९॥

एकादश स्थान में सभी ग्रह पुत्र और सौभाग्य के वर्द्धक तथा लग्न और द्वादश में यदि चंद्रमा हो तो नाशकारक होता है।

शनिभौमौ यदि स्यातां सुरापानवती भवेत् ।
सर्पादित्यौ स्थितौ वन्ध्या शुक्रे सुखवती भवेत् ॥२०॥

द्वादश में यदि शनि और भौम हों तो मदिरा पान करने वाली, राहु और सूर्य हों तो वन्ध्या और शुक्र हो तो सुखी होगी।

इति विवाहकाण्डः

क्षुरिकालक्षणं सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथा तथा ।
राहुणा रहिते चन्द्रे शत्रुभंगो भविष्यति ॥१॥

अब क्षुरिका—युद्ध संबन्धी—लक्षणों को कहता हूं यदि चंद्रमा राहु से रहित हो तो शत्रु अवश्य नष्ट होगा यही उत्तर प्राश्निक को देना चाहिये।

नीचारिनास्तु (?) पश्यंति यदि खड्गस्य भंजनम् ।
शुभग्रहयुते चन्द्रे दृष्टे चास्त्रं शुभं वदेत् (भवेत्) ॥२।

चन्द्रमा को यदि नीच और शत्रु ग्रह देखते हों तो तलवार का टूटना और शुभ ग्रह के युत और दृष्ट होने पर उसकी सफलता बताना चाहिये।

पापग्रहसमेतेषु छत्रारूढोदयेषु च ।
येषु ग्रहा स्थितः किंतु तदस्त्रेण हतो भवेत् ॥३॥

छत्र, आरूढ और लग्न यह पाप ग्रह दृष्ट युक्त हो और जिसमें ग्रहस्थित हो उसके शस्त्रानुसार उस पर का मरण कहना।

अथवा कलहः खड्गः परेणापहृतो भवेत् ।
एषु स्थानेषु सौम्येषु खड्गस्तु शुभदो भवेत् ॥४॥

या कलह होगा या तलवार कोई दूसरा चुरा ले जायगा इन्हीं स्थानों में शुभ ग्रह हं तो खड्ग शुभ फल तथा विजय-का दाता होगा।

प्रदेशो तस्य लग्नस्य लग्ने वा पापसंयुते ।
खड्गस्यादावृणं ब्रूयात् त्रिकोणे पापसंयुते ॥५॥

(इस श्लोक के चौथे चरण का अर्थ नीचे के श्लोक की टीका में सम्मिलित है।)
लग्न में यदि पाप हों तो तलवार के प्रारंभ में ऋण लेना पड़ा होगा।

तस्करो भंगतो व्योम्नि चतुर्थे पापसंयुते।
खड्गस्य भंगो मध्ये स्यादिति ज्ञात्वा वदेत्सुधीः॥६॥

यदि त्रिकोण (१, ५, ९) पाप युत हों तो चोरी हो जाती है,……चतुर्थ में पापग्रह हों तो लड़ाई के बीच में ही तलवार के टूटने की संभावना रहती है।

एकादशे तृतीये च पापे शस्त्रस्य भंजनम् ।
मित्रस्वाम्युच्चनीचादिवर्गनादि (?) गताः ग्रहाः ॥७॥

एकादश और तृतीय में यदि पाप ग्रह हों तो शस्त्र टूट जायगा। मित्र, स्वामी, उच्च, नीच आदि वर्गों में गत ग्रह—

तत्तद्वर्गस्थलायां तु शस्त्रमित्यभिधीयते ।
संमुखे यदि खड्गः स्यात्तत्तीर्यग्ग्रहमुच्यते ॥८॥

उन उन वर्गों के स्थल के सम्मुख शस्त्रपात का भय करते हैं, यदि सम्मुख में तिर्यक्ग्रह हों तो खड्गपात का भय करते हैं।

तिर्यग्मुखश्चेत्तच्छत्रं अन्यशस्त्रं वदेत्सुधीः ।
अधोमुखश्चेत्संग्रामे च्युतमाहतमुच्यते ॥९॥

तिर्यग् मुख की राशि हो बहुत चोटीला (?) हथियार है, यदि अधोमुख राशि हो तो संग्राम में वह पुरुष मारा जायगा ऐसा उपदेश करना चाहिये।

तत्तच्चेष्टानुरूपेण तस्य वै मरणं स्मृतम् ।

उनकी चेष्टा के अनुरूप ही उस पुरुष का संग्राम में मरण अथवा जय पराजय का निर्देश करना।

इति क्षुरिका काण्डः

——०——

स्त्रीपुंसो रतिभोगौ च स्नेहोऽस्नेहः पतिव्रता।
शुभाशुभौ क्रमात्प्रोक्तौ शास्त्रे ज्ञान-प्रदीपिके ॥१॥

इस ज्ञानप्रदीपक शास्त्र में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम पातिव्रत्य और द्रोह, इस प्रकार शुभ और अशुभ होते हैं वह कहा गया ---

तीव्रता (?) उदयारूढो (?) खेंद्रेषु भुजगो यदि।
तेषां दुष्टस्त्रियः साक्षाद्देवानामपि संशयः ॥२॥

लग्न, आरूढ़, दशम में यदि राहु हो तो स्त्री दुष्ट होगी, चाहे वह देवता के घर ही क्यों न हो।

लग्नादेकादशस्थाने तृतीये दशमे शशी।
जीवदृष्टियुतस्तिष्ठेत् यदि भार्या प्रतिव्रता ॥३॥

लग्न से एकादश तृतीय और दशम में यदि चंद्र हो और गुरु की दृष्टि से युक्त हो तो भार्या पतिव्रता होगी।

चन्द्रं पश्यन्ति पुंखेटास्तेन युक्ता भवंति चेत्।
तद्भार्या दुर्जनां ब्रूयादिति शास्त्रविदो विदुः ॥४॥

चन्द्रमा को पुरुष ग्रह देखते हों या युत हों तो निश्चय ही भार्या दुर्जन होगी। यही शास्त्रज्ञों का कहना है।

सप्तमस्थो द्विपत्खेटैः नीचारिगशशी तथा।
बंधुविद्वेषिणी लोके भ्रष्टा सा तु शुभाशुभैः ॥५॥

नीच किंवा शत्रुस्थानगत चन्द्रमा यदि सप्तम में शत्रु-ग्रह से युत किंवा दृष्ट हो तो स्त्री भ्रष्टा होगी।

भानुजीवौ निशाधीशं पश्यंतौ च युतौ यदि।
पतिव्रता भवेन्नारी रूपिणीति वदेद् बुधः ॥६॥

सूर्य और गुरु यदि चंद्रमा को देखते हों या युत हों तो वह स्त्री स्वरूपवती और पतिव्रता होगी।

शुक्रेण युक्तो दृष्टो वा भौमश्चेत्परगामिनी।
बृहस्पतिर्बुधाराभ्यां युक्तश्चेत्कन्यका यदि ॥७॥

शुक्र से यदि भौम (मंगल) युत या दृष्ट हो तो परपुरुषगामिनी और गुरु यदि बुध और मंगल से युत दृष्ट हो तो कन्या भी स्वैरिणी होती है।

शुक्रवर्गयुते भौमे भौमवर्गयुते भृगौ।
पृथक्के (?) विधवा भर्ता तस्या दोषान्न विंदते ॥८॥

शुक्र वर्ग से भौम या भौम वर्ग से यदि शुक्र युत हो तो पति से पृथक् वह स्त्री विधवा की भांति रहती है और वह उसके दोष नहीं जानता।

भानुवर्गयुते शुक्रे राजस्त्रीणां रतिर्भवेत्।
जीववर्गयुते चंद्रे स्नेहेन रतिमान्भवेत् ॥९॥

सूर्य वर्ग में यदि शुक्र हो तो राजस्त्रियों में रति बताना चाहिये। गुरुवर्ग से यदि चन्द्रमा युत हो तो प्रेम पूर्वक रतिमान् कहना चाहिये।

चंद्रस्त्रिवर्गयुक्तश्चेत् स्त्री सुतवती भवेत्।
शनिश्चंद्रेण युक्तश्चेत् अतीवव्यभिचारिणी ॥१०॥

चन्द्र यदि त्रिवर्ग से युत हो तो स्त्री पुत्रवती और शनि चंद्र से युत हो तो अधिक व्यभिचारिणी होती है।

पापवर्गयुते दृष्टे शुक्रश्चेत् व्यभिचारिणी।
अरिवर्गयुतश्चन्द्रो यत्रमित्रं वधूनरः (?) ॥११॥

यदि शुक्र पाप वर्ग से युत या दृष्ट हो तो व्यभिचारिणी और शत्रु वर्ग से यदि चंद्र-युत हो तो स्त्री पुरुष में स्नेह नहीं होता।

नीचवर्गयुतश्चंद्रो न च स्त्रीभोगकामुकः।
मित्रवर्गयुतश्चंद्रः मित्रवर्गवधूरतः ॥१२॥

यदि चन्द्र नीच वर्ग से युत हो तो स्त्रीभोग से मनुष्य कामुक नहीं होता। मित्र वर्ग से यदि युत हो तो पुरुष मित्र की स्त्री से रत है—यह बताना चाहिये।

स्वक्षेत्रे यदि शीतांशुः स्वभार्यायां रतिर्भवेत् ।
उच्चवर्गयुतश्चंन्द्रः स्वकुलांशस्त्रियां रतिः ॥१३॥

यदि चन्द्रमा अपने क्षेत्र में हो तो अपनी स्त्री में रति बताना चाहिये । किन्तु यदि उच्च वर्ग से युत हो तो अपने से ऊंचे खान्दान की स्त्री में रति बतानी चाहिये ।

उदासीनग्रहयुतो दृष्टो वा यदि चन्द्रमाः ।
उदासीनवधूभोगमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥१४॥

यदि समग्रह (न मित्र न शत्रु) से चन्द्र युत किंवा दृष्ट हो तो वधू से उदासीन प्रेम (न अत्यधिक न कम) होगा ।

लग्ने च दशमस्थेऽत्र पञ्चमे शनियुक् शशी ।
चोररूपेण कथयेत् रात्रौ स्वगवधूरतिः ॥१५॥

लग्न में दशम में और पंचम में चन्द्रमा शनि से युक्त हो तो चोरी से वारांगना-गमन बताना चाहिये ।

ओजोदयरतदधिपे ओजस्थे चैकमैथुनं ।
समोदये तदधिपे समस्थे द्विरिति तथा ॥१६॥
लग्नेश्वरफलं ज्ञात्वा तेषां किरणसंख्यया ।
अथवा कथयेद् द्विद्विसंदृष्टग्रहसंख्यया ॥१७॥

लग्न विषम हो लग्नेश समों हो तो एक मैथुन, सम लग्न हो लग्नेश सम में हो तो दो मैथुन होगा । लग्नेश्वर की किरण संख्या से भी यह बताया जाना चाहिये ।

चन्द्रे भौमयुते दृष्टे कलहेन पृथक्शयः ।
भृगुवारियुते दृष्टे स्वस्त्रीकलहमुच्यते ॥१८॥

चन्द्रमा मंगल से युक्त या दृष्ट हो तो स्त्रीपुरुष कलह करके पृथक् सोये और शुक्र और चंद्र (?) युत हों तो अपनी स्त्रियों से कलह हुआ यह बताना चाहिये ।

चतुर्थे चन्द्रतिर्य(?)च पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।
चन्द्रशुक्रयुते दृष्टे स्वस्त्रिया कलहो भवेत् ॥१९॥

चतुर्थ, तृतीय, पंचम या सप्तम भाव में यदि चंद्र शुक्र योग हो तो स्त्री से कलह बताना चाहिये।

तदीयवसनच्छे (?) कलहं परिकीर्तयेत्।
सप्तमे पापसंयुक्ते दशमे भौमसंयुते ॥२०॥
तृतीये बुधसंयुक्ते स्त्रीविवादस्थले शयः।

······सप्तम में पाप ग्रह हो दशम में मंगल तथा तृतीय में बुध हो (चन्द्रमा युत दृष्ट हो तो) स्त्री से विवादपूर्वक भूशयन बताना।

लग्ने चन्द्रयुते भौमे द्वितीयस्थे तथा यदि ॥२१॥
जागरश्चोरभीत्या च राशिनक्षत्रसंधिषु।
पृष्ठश्चेद्विधवाभोगः संकटादिति कीर्तयेत् ॥२२॥

लग्न में या द्वितीय में यदि मंगल और चंद्र का योग हो तो जागरण चोर के डर आदि से संकटपूर्वक विधवा से रति बताना। यह फल राशिसंधि और नक्षत्रसंधि में भी घटेगा।

तत्संधौ शुक्रसौम्यौ चेत् तत्तज्जातिपतिं वदेत्।
यत्र कुत्रापि शशिनं पापाः पश्यन्ति चेत्तथा ॥२३॥

राशि संधि नक्षत्र संधि में शुक्र या चंद्र हो तो स्वजातीय स्त्री से रति तथा

× × × × × × × × ×

नपुंसा (?) सेव्यति (?) वधूः शुभश्चेत्पुरुषप्रिया।
सात्विकाश्चन्द्रजीवार्का राजसौ भृगुसोमजौ ॥२४॥
तामसौ शनिभूपुत्रौ एवं स्त्र्यादिगुणाः स्मृताः ॥२५॥

कहीं पर स्थित चन्द्रमा को यदि पापग्रह देखते हों तो स्त्री पति की सेवा नहीं करती। चंद्र, बृहस्पति सूर्य ये सत्वगुणी शुक्र बुध रजोगुणी, शनि, मंगल तमोगुणी है। स्त्री पुरुष का गुण इन्हीं के बलाबल से विचार लेना चाहिये।

इति कामकाण्डः

पुत्रोत्पत्तिनिमित्ताय त्रयः प्रश्ना भवन्ति हि।
उदयारूढछत्रेषु राहुश्चेद् गर्भमादिशेत् ॥१॥

पुत्रोत्पत्ति के लिये तीन प्रश्नों का उत्तर वर्णन किया गया—लग्न आरूढ़ और छत्र में यदि राहु हो तो गर्भ बताना।

लग्नाद्वा चन्द्रलग्नाद्वा त्रिकोणे सप्तमेऽपि वा।
बृहस्पतिः स्थितो वापि यदि पश्यति गर्भिणी ॥२॥

लग्न किंवा चन्द्र से त्रिकोण (५. ९) या सप्तम में बृहस्पति स्थित होकर प्रश्न लग्न को देखता हो तो गर्भिणी होगी।

शुभवर्गेण युक्तश्चेत् सुखप्रसवमादिशेत्।
अरिनीचग्रहाश्चेत् सुतारिष्टं भविष्यति ॥३॥

शुभ वर्ग से युक्त हो तो प्रसव सुख से और नीच और शत्रु ग्रह से युत दृष्ट होने पर बालारिष्ट होता है।

प्रश्नकाले तु परिधौ दृष्टे गर्भवती भवेत्।
तदन्तस्थग्रहवशात् पुंस्त्रीभेदं वदेद्बुधः ॥४॥

प्रश्न लग्न परिधि ग्रह दृष्ट हो तो वह स्त्री गर्भवती है ऐसा उपदेश करना और परिधि लग्न के बीच में स्त्रीकारक अथवा पुरुष कारक जो ग्रह बलवान हों उनके अनुसार स्त्री पुरुष का जन्म बताना चाहिये।

यत्र तत्र स्थितश्चन्द्रः शुभयुक्ते तु गर्भिणी।
न लग्नानि न भूतेषु शुक्रादित्येन्दवः क्रमात् ॥५॥
तिष्ठन्ति चेन्न गर्भं चेत्स्यादेकत्रेन (?) स्थितेन वा।

जहां कहीं भी चन्द्रमा शुभ युक्त हो तो गर्भ है ऐसा निर्देश करना और लग्न भूतादि में अपने युक्त सूर्य चन्द्रमा पृथक् हो अथवा एकत्र हो जहां कहीं भी हो तो गर्भ नहीं है ऐसा उपदेश करना चाहिये।

स्त्रीपुंविलोके गर्भिण्यः प्रष्टुर्वा तत्र कालिके ॥६॥
परिवेषादिके दृष्टे तस्या गर्भं विनश्यति।

प्रश्न काल में स्त्री-पुरुष ग्रहों में जो बलवान होकर देखता है, उसी के अनुसार स्त्री अथवा पुरुष का जन्म कहना किन्तु लग्न यदि रवि आदि दुष्ट ग्रहों से देखा जाता हो तो गर्भ का नाश हो जाता है।

लग्नादोजस्थिते चंद्रे पुत्रं सूते समे सुताम्।
वशान्नक्षत्रयोगानां तथा सूते सुतं सुतां ॥७॥

लग्न से विषम गृह में चंद्र हो तो पुत्र सम में हो तो पुत्री उत्पन्न होती है। नक्षत्र योग आदि के वश से भी पुत्र पुत्री का विचार किया जाता है।

लग्नतृतीयनवमे दशमैकादशेऽपि वा।
भानुः स्थितश्चेत् पुत्रः स्यात्तथैव च शनैश्चरः ॥८॥

लग्न, तृतीय, नवम, दशम, एकादश में यदि सूर्य या शनि हो तो पुत्र पैदा होगा।

ओजस्थानगताः सर्वे ग्रहाश्चेत्पुत्रसंभवः।
समस्थानगताः सर्वे यदि पुत्री न संशयः ॥९॥

लग्न से विषम स्थान में यदि सभी ग्रह हों तो पुत्र और सम स्थान में हों तो पुत्री इसमें सन्देह नहीं।

आरूढात्सप्तमं राशिं यावतीं तां सुरेष्यति (?) ॥१०॥
तावन्नक्षत्रसंख्याकैः सुतः स्याद्दिवसैः सुतम्।

आरूढ़ से सप्तम राशि पर्यन्त जितने नक्षत्र होंगे उतने ही दिनों में पुत्र उत्पन्न होगा।

इति पुत्रोत्पत्तिकाण्डः

सुतारिष्टमथो वक्ष्ये सद्यः प्रत्ययकारणम्।
लग्नषष्ठे स्थिते चंद्रे तदस्ते पापसंयुते ॥१॥
मातुः सुतस्य मरणं किंतु पंचमषष्ठगाः।
पापाः तिष्ठन्ति चेन्मातुर्मरणं भवति ध्रुवम् ॥२॥

अब शीघ्र विश्वास दिलाने का कारणस्वरूप सुतारिष्ट को बताता हूं। यदि लग्न और षष्ठ में चंद्रमा हो और इन से सप्तम में पापग्रह हों तो माता और पुत्र दोनों का मरण होता है। किंतु यदि पंचम और षष्ठ में पाप ग्रह हों तो माता का मरण निश्चय होगा।

द्वादशे चंद्रसंयुक्ते पुत्रवामाक्षिनाशनम्।
व्ययस्थे भास्करे नश्येत् पुत्रदक्षिणलोचनम् ॥३॥

द्वादश में चंद्रमा हो तो पुत्र की बांई आंख और सूर्य हो तो दाहिनी आंख नष्ट होती है।

पापाः पश्यन्ति भानुं चेत् पितुर्मरणमादिशेत्।
चन्द्रादित्यौ गुरुः पश्येत् पित्राः स्थितिरितीरयेत् ॥४॥

पाप-ग्रह यदि सूर्य को देखते हों तो पिता का मृत्यु और गुरु यदि चंद्र सूर्य को देखते हों तो मा-बाप को स्थिति बताना चाहिये।

यदि लग्नगतो राहुर्जीवदृष्टिविवर्जितः।
जातस्य मरणं शीघ्रं भवेदत्र न संशयः ॥५॥

यदि लग्न में राहु बिना बृहस्पति की दृष्टि के हो तो पुत्र शीघ्र ही मरेगा—इसमें संशय नहीं।

द्वादशस्थौ अर्किचंद्रौ नेत्रयुग्मं विनश्यति।
षष्ठे वा पंचमे पापाः पश्यन्तीन्दुदिवाकरौ ॥६॥
पित्रोर्मरणमेवास्ति तयोर्मंदः स्थिता यदि।
भ्रातृनाशं तथा भौमे मातुलस्य मृतिं वदेत् ॥७॥

द्वादश स्थान में यदि शनि और चंद्र हों तो जातक की दोनों आंखें मारी जाती हैं। पंचम किंवा षष्ठ में यदि पाप-ग्रह रहें और चन्द्र सूर्य को देखें और पंचम और षष्ठ में शनि भी पड़ा हो तो मां-बाप मर जायंगे। शनि बैठा हो तो भाई का नाश, मंगल हो तो मामा की मृत्यु बताना चाहिये।

उदयादित्रिकस्थेषु कण्टकेषु शुभा यदि।
मित्रस्वात्युच्चवर्गेषु सर्वारिष्टं विनश्यति ॥८॥

लग्नं च चन्द्रलग्नं च, चन्द्रो यदि न पश्यति ।
पापाः पश्यन्ति चेत्पुत्रो व्यभिचारेण जायते ॥६॥

लग्न, पञ्चम नवम में यदि शुभ ग्रह हों और मित्र और उच्च तथा निज गृह में हों तो सब आरिष्ट नष्ट होते हैं। लग्न और चन्द्र लग्न को पाप-ग्रह तो देखते हों पर चन्द्र नहीं देखते हों तो पुत्र व्यभिचार से उत्पन्न होता है।

इति पुत्रप्रश्नकाण्डः

शल्यप्रश्ने तु तत्काले पादभावसुतेऽत्र युक् ।
अर्काभ्यस्तान्नपापं च शेषाणां फलमुच्यते ॥१॥ (?)

शल्य के प्रश्न में प्रश्नकाल में प्रश्न लग्न से चतुर्थ में जो भाव पड़ा हो उसकी जो संख्या हो उसे १२ से गुणा कर नव का भाग देने से जो शेष बचे उसका फल जानना।

कपालोस्तोष्टकालोष्टा काष्टदेवविभूतयः ।
सवासारष्टधान्यानि धनपाषाणदुर्धराः ॥२॥ (?)

सूर्यादि अंश में क्रम से कपाल-ईंटा चक्का काष्ठ देवता की सामग्री सवत्स अष्ट धान्य धन पाषाण ये दुर्धर से होते हैं।

गोस्तिश्वात्राचपेशामाधीक्रमात् पलानि षोडश ।
येषु शल्येषु मंडूकस्वर्णगास्थिसुधादिकं ॥३॥ (?)
× × × × × × × × ×
दृष्टाश्चेदुत्तमं चान्ये सर्वस्युरशुभस्थिताः ।
अष्टाविंशतिकोष्ठेषु वह्निदिष्टर्थादिकं न्यसेत् ॥४॥

यदि गृह उक्त स्थान में स्थित हों और अशुभान्वित हों तो पूर्व काल को कहते हैं। अट्ठाइस कोष्ठ में कृत्तिका नक्षत्रों को लिखना चाहिये।

च्छत्रभे तिष्ठति शशी तत्र शल्यमुदाहृतम् ।
उदयर्क्ष्यादिकं न्यस्येदष्टाविंशतिकोष्ठके ॥५॥

जिस नक्षत्र में चन्द्रमा हो वहां पर शल्य कहना चाहिये। उदय नक्षत्रादिक का न्यास २८ अट्ठाइसों कोष्ठ में रखना चाहिये।

गणयेच्चन्द्रनक्षत्रं तत्र शल्यं प्रकीर्तितम्।
शंकास्ति शल्यविस्तारयामावन्योन्यताडितम् ॥६॥
विंशत्यापहृतं षष्ठमरत्निरिति कीर्तितम्।

वहां पर चन्द्रमा के नक्षत्र तक गणना करके शल्य का निर्देश करना चाहिये। इस रीति से जितने कोष्ठ के भीतर शल्य की शंका हो उसको लंबाई चौड़ाई का परस्पर गुणा करके बीस से भाग देकर फिर ६ से भाग देना उसको संज्ञा कही गई है।

रत्निर्गुणित्वा नवभिर्नीलासा (?) तालमुच्यते।
तत् प्रदेशं प्रगुण्यान्तैर्हृत्वा विंशतिभिर्यदि ॥७॥
शेषमंगुलमेवोक्तं रत्नप्रादेशमंगुलम्।
एवं क्रमेण रत्न्यादिमगदं कथयेत्तथा ॥८॥

रत्नि को नव से गुणा कर तीस से भाग देना उसकी ताल संज्ञा कही गई है इस रीति से उस प्रदेश में शल्य का निर्देश करना चाहिये। उन उन प्रदेशों को तत्तत् अंकों से गुणा कर बीस से भाग देने से शेष अंगुलादिक होता है इस तरह रत्नी तुल्य वितस्ति और अंगुल का विचार करना इसी तरह इत्यादिक के उस भूमि का शोधन कहा गया है।

केन्द्रेषु पापयुक्तेषु पृष्टं शल्यं न दृश्यते।
शुभग्रहयुतेष्वेषु शल्यं तत्र प्रजायते ॥९॥

प्रश्नकर्ता के प्रश्न समय केन्द्रों में पाप ग्रह का योग हो तो हड्डी (शल्य) होते हुए भी दीख नहीं पड़ेगा—यदि शुभ ग्रह का योगादिक हो तो वहां पर शल्य होता और मिलता है

पापसौम्ययुते केन्द्रे शल्यमस्तीति निर्दिशेत्।
शनिः पश्यति चेदेवं कुजश्चेत् प्राहुराक्षसान् ॥१०॥
केन्द्रे चन्द्रारसहिते कुजनक्षत्रकोष्ठके।
श्वशल्यं (?) विद्यते तत्र केन्द्रे शुक्रेन्दुसंयुते ॥११॥

यदि पाप ग्रह और शुभ ग्रह दोनों का योग केन्द्र स्थान में हो तो अवश्य शल्य है ऐसा कहना चाहिये। यदि शनैश्चर देखता हो तो देवता का निवास कहना, मंगल देखता होतो राक्षस का और यदि केन्द्र में चन्द्रमा मंगल के साथ मंगल कोष्ठ में पड़ा हो तो घोड़े का शल्य वहां पर है ऐसा कहना चाहिये।

शुक्रस्थे तक्षके कोष्ठे रौप्यश्वेतशिला पिता (?)।
पञ्चषड्वसुभूतानि सपादैकं तथैव च ॥१२॥
सार्धरूपाक्षोरवक्ष (?) सूर्यादीनां क्रमात् स्मृताः।
स्वशल्यगादनैव (?) क्रूरेण कथयेत् सुधीः ॥१३॥

यदि केन्द्र में शुभ चन्द्रमा संयुक्त होकर तक्षक कोष्ठ में शुभ बैठा हो तो चांदी या सफेद पत्थल उस भूमि में होता है। सूर्यादि ग्रहों के लिये क्रम से पांच छः आठ पांच तथा एक डेढ़ और चार यह अंक होते हैं। शल्य विचार में इतनी इतनी गहराई पर शल्य का निर्देश करना चाहिये।

इति शल्यकाण्डः

अथ वक्ष्ये विशेषेण कूपकाण्डविनिर्णयम्।
आयामे चाष्टरेखाःस्युस्तिर्यग्रेखास्तु पंच च ॥१॥

अब इसके बाद कूपकाण्ड के निर्णय को कहते हैं खड़ी आठ रेखा और पड़ी पांच रेखायें करनी चाहिये।

एवं कृते भवेत् कोष्ठा अष्टाविंशतिसंख्यकाः।

इस रीति से करने से अट्ठाइस कोष्ठ का एक चक्र बनाया जाता है।

प्रभाते प्राङ्मुखो भूत्वा कोष्ठेष्वेतेषु बुद्धिमान्।
चक्रमालोकयेद्विद्वान् रात्रार्द्धादुत्तराननः ॥२॥

बुद्धिमान को चाहिये कि प्रातः काल से आधी रात तक प्रश्न देखना हो तो चक्र को पूर्वाभिमुख और आधी रात के बाद उत्तराभिमुख हो कर इस चक्र को देखना चाहिये।

मध्येन्दुमुखमारभ्य मैत्रभाद् भानिशामुखाः ।(?(
ईशकोष्ठद्वयं त्यक्त्वा तृतीयादित्रिषु क्रमात् ॥३॥
कृतिकादित्रयं न्यस्यं तदधो रौद्रभं न्यसेत् ।
तदुत्तरं त्रयेष्वेव पुनर्वस्वादिकं त्रयम् ॥४॥

बीच से मृगशीर्ष से लेकर लिखना और अनुराधा से तथा भाभिमुख लिखना ईशान कोण में दो कोष्ठ छोड़कर तीनों पङ्क्तियों में क्रम से कृत्तिकादि तीन तीन न्यास कर उसके नीचे आर्द्रा को लिखना उसके बाद तीनों में पुनर्वस्वादि तीन नक्षत्रों को लिखना चाहिये।

तत्पश्चिमादियाम्येषु मघाचित्रावसानकं ।
तत्पूर्वकोष्ठयोः स्वातीविशाखे न्यस्य तत्परम् ॥५॥

उनसे पश्चिम दक्षिण क्रम में मघा से लेकर चित्रा तक लिखना। उसके पूर्वकोष्ठों में स्वाती और विशाखा को रखना।

प्रदक्षिणक्रमादग्निनक्षत्रास्ताश्च तारकाः ।
मध्याह्ने दक्षिणस्यास्य पश्चिमान्त्यानिशामुखात् (?)॥६॥

प्रदक्षिण क्रम से कृत्तिकादि नक्षत्रों का न्यास करना चाहिये। मध्याह्न में दक्षिणाभिमुख और उषोत्तर रात्रि में पश्चिमाभिमुख कोष्ठ को समझ कर देखना चाहिये।

अर्द्धरात्रौ धनिष्ठाद्यं पूर्ववद्गणयेत् क्रमात् ।
आग्नेय्यां दिशि नैऋत्यां वायव्यां काष्ठकद्वयम् ॥७॥
त्यक्त्वा प्रत्येकमेवं हि तृतीयाद्यां विलोकयेत् ।

आधी रात को धनिष्ठादि क्रम से पहले कही हुई रीति से गणना करनी चाहिये। आग्नेय कोण नैऋत्य और वायव्य कोष्ठकों में दो दो कोष्ठ छोड़ छोड़ कर प्रत्येक को तीसरे क्रम से देखना चाहिये।

दिनार्धं सप्तभिर्हृत्वा तल्लब्धं नाड़िकादिकम् ।
ज्ञात्वा तत्प्रमाणेन कृत्तिकादीनि विन्यस्येत् ॥८॥

दिनार्ध को सात से भाग देने पर जो प्राप्त हो उसे नाड्यादिक समझ कर उसी के प्रमाण से कृत्तिकादि नक्षत्रों का विन्यास करना चाहिये।

यन्नक्षत्रं तथा सिद्धं प्रश्नकाले विशेषतः ।
कृतिकास्थानमारभ्य पूर्ववद्गणयेत्सुधीः ॥९॥

इस रीति से जो नक्षत्र आवे और प्रश्न काल में विशेष कर इस रीति से देखकर कृतिका के स्थान से लेकर पहले कही हुई रीति से गणना करनी चाहिये।

यत्रेन्दुर्दृश्यते तत्र समृद्धिरुदकं भवेत् ।
शुक्रनक्षत्रकोष्ठेषु तत्तत्स्वर्णमुदाहरेत् ॥१०॥

जहां पर चन्द्रमा दीख पड़े वहां पर बहुत ज्यादे जल होता है और शुक्रादि नक्षत्र कोष्ठक में वहां वहां पर स्वर्णादिक का कहना चाहिये।

तुलोक्षनक्रकुंभालिमीनकर्क्यालिराशयः ।
जलरूपास्तदुदये जलमस्तीति निर्दिशेत् ॥११॥

तुला, वृष, मकर कुंभ वृश्चिक मीन और कर्क ये जल राशियां हैं अतः इनके उदय में प्रचुर जल बताना चाहिये।

तत्रस्थौ शुक्रचंद्रौ चेदस्ति तत्र बहूदकम् ।
बुधजीवोदये तत्र किंचिज्जलमितीरयेत् ॥१२॥

उसमें यदि शुक्र और चन्द्र हों तो पानी ज्यादा और बुध वृहस्पति हों तो कुछ कुछ जल बताना चाहिये।

एतान् राशीन् प्रपश्यंति यदि शन्यर्कभूमिजाः ।
जलं न विद्यते तत्र फणिदृष्टे बहूदकम् ॥१३॥

इन राशियों को यदि शनि सूर्य और मंगल देखते हों तो जल नहीं और राहु देखें तो बहुत जल होता है।

अधस्तादुदयारूढं छत्रयोरुपरि स्थिते ।
जलग्रहयुते दृष्टे अधस्तात्पाददो जलम् ॥१४॥

उदय लग्न से नीचे और छत्र से ऊपर यदि जल ग्रहों का दृष्टि योग हो तो नीचे पैर तक हो जल बताना चाहिये।

उच्चे दृष्टे ग्रहे राशौ उच्चमेवोदकं भवेत् ।
ऊर्ध्वादधस्थलयोः तिष्ठति नोदमधोजलम् ॥१५॥

जल राशियां उच्च ग्रह से युत दृष्ट हों तो पानी ऊंचे और नीच ग्रह से युत दृष्ट हों तो नीचे होता है। (?)

चतुःस्थाननाधस्तान् नागमं वदेत् ।
दशमे नवमे वर्षे केचिदाहुर्मनीषिणः ॥१६॥ (?)
जलाजलग्रहवशात् जलनिर्णयमादिशेत् ।
केन्द्रेषु तिष्ठतश्चन्द्रो जीवो यदि शुभोदकम् ॥१७॥

जल ग्रह और अजल ग्रह पर से पानी का विचार करना चाहिये। केन्द्र में यदि चंद्र और गुरु हों तो पानी अच्छा होगा।

चन्द्रशुक्रयुते केन्द्रे पर्वतेऽपि जलं भवेत् ।
चन्द्रसौम्ययुते केन्द्रे जीर्णालाधरणोदकम् ॥१८॥

केन्द्र में यदि चन्द्र और शुक्र हों तो पर्वत में भी जल मिले। केन्द्र में यदि चंद्र बुध हो तो पुराने खंडहरों में भी जल मिले।

आरूढात्केन्द्रके चन्द्रे परिध्यादिनिवीक्षिते ।
अधो जलंततोऽगाधं पूर्वोक्तग्रहराशिभिः ॥१९॥

आरूढ़ से केन्द्र स्थान में चन्द्र हों और परिध्यादि से दृष्ट हो तो नीचे पहले कहे हुये ग्रहों की राशि से अगाध जल जानना।

शुक्रेण सौम्ययुक्तेन कषायजलमादिशेत् ।
कन्यामिथुनगःसौम्यो जलं स्यादन्तरालकम् ॥२०॥

पूर्वोक्त जल ग्रह और जल राशि से बुध शुक्र का योग होता हो तो पानी कसेला होगा। यदि बुध कन्या और मिथुन में हो तो जल भीतर ही भीतर होगा।

भास्करे क्षारसलिलं परिवेषं धनुर्यदि ।
राहुणा संयुते मंदे जलं स्यादंतरालकम् ॥२१॥

जल राशियों में सूर्य हो तो पानी खारा और परिवेष धनुराशियों में राहु शनैश्चर का योग हो तो अन्तराल में जल होता है।

बृहस्पतौ राहुयुते पाषाणो जायतेतराम् ।
शुक्रे चन्द्रयुते राहौ अगाधजलमेधते ॥२२॥

यदि बृहस्पति और राहु युक्त हो तो नीचे खोदने पर पत्थल निकलता है शुक्र (?) चन्द्रमा राहु का योग हो तो अगाध जल वहां पर होता है।

अर्कस्योन्नतभूमिः स्यात् पाषाणा कांडकस्थले ।
नालिकेरादिपुन्नागपूगयुक्ता क्षमा गुरोः ॥२३॥

काण्डकस्थल—निर्जन स्थान में सूर्य की पाषाण मयी उन्नत भूमि होती है। नारियल पान सुपारी इत्यादि से युक्त भूमि बृहस्पति की होती है।

शुक्रस्य कदलीवल्ली बुधस्य फलिता वदेत् ।
वल्लिका केतकी राहोरिति ज्ञात्वा वदेद्बुधः ॥२४॥

शुक्र के लिये केले का वृक्ष और बुध के लिये फली हुई लता होती है। केतकी की वल्ली राहु की होती यह सब जान कर विद्वान् को आदेश करना चाहिये।

शनिराहूदये कोष्ठे रङ्गवल्लीकदर्शनम् ।
स्वामिदृष्टियुते वाऽपि स्वक्षेत्रमिति कीर्तयेत् ॥२५॥

शनि राहु का उदय कोष्ठ में होनो रङ्ग वल्ली को दिखलाता है यदि लग्न स्वामी से दृष्ट वा युत हो तो अपनी जमीन में अपना वृक्ष कहना चाहिये।

अन्ये (?) युक्तेऽथवा दृष्टे परकोयस्थलं वदेत् ।

यदि दूसरे का दृष्टि योग हो तो दूसरे की भूमि बतानी चाहिये।

इति कूपकाण्डः

सेनस्यागमनं चैव प्रवक्ष्याम्यरिभूभृताम् ।
चरोदये च सारूढे पापाः पञ्चगमा यदि ॥१॥

सेना के आगमन के विषय में भी, जो शत्रु राजा समय समय पर आया करते हैं, कहता हूं—चर लग्न हो चर आरूढ़ हो और पाप ग्रह यदि पञ्चम स्थान में हों।

सेनागमनमस्तीति कथयेत् शास्त्रवित्तमः।
चतुष्पादुदये जाते युग्मे राश्युदये पिता (?) ॥२॥

तो शास्त्रज्ञ को सेना का आगमन बताना चाहिये। चतुष्पद राशि का उदय या युग्म राशि का उदय हो,

लग्नस्याधिपतौ वक्रे सेना प्रतिनिवर्तते।
चरोदये चरारूढे भौमार्किगुरवो रविः ॥३॥

और लग्नेश वक्र हो तो सेना लौट जायगी। यदि लग्न भी चर हो और आरूढ़ भी चर हो और उसमें मंगल शनि और गुरु एवं सूर्य,

तिष्ठंति यदि पश्यंति सेना याति महत्तरा।
आरूढे स्वामिमित्रोच्चग्रहयुक्तेऽथ वीक्षिते ॥४॥

पड़े हों या देखते हों तो बड़ी भारी सेना भी लौट जाती है। आरूढ़ यदि स्वामी, मित्र या उच्च ग्रह से युक्त हो अथवा दृष्ट हो,

स्थायिनो विजयं ब्रूयात् यायिनो रोगमादिशेत्।
एवं छत्रे विशेषोऽस्ति विपरीते जयो भवेत् ॥५॥

तो स्थायी की जीत होगी और यायी रोगाक्रान्त होगा। छत्र में भी यही विशेषता है। इसके विपरीत होने से यायी की जय होगी।

आरूढे बलसंयुक्ते स्थायी विजयमाप्नुयात्।
यायी बलं समायाति छत्रे बलसमन्विते ॥६॥

आरूढ़ यदि बली हो तो स्थायी की और छत्र यदि बली हो तो यायी की जीत बतानी चाहिये।

आरूढे नीचरिपुभिग्रहैर्युक्तेऽथ वीक्षिते।
स्थायी परगृहीतस्य छत्रेप्येवं विपर्यये ॥७॥

आरूढ़ यदि शत्रु नीच आदि ग्रहों से युक्त किंवा दृष्ट हो तो स्थायी दूसरे द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता है। इससे उल्टा अर्थात् उच्च आदि ग्रहों से यदि छत्र युक्त दृष्ट हो तो भी यही फल होता है।

शुभोदये तु पूर्वाह्णे यायिनो विजयो भवेत्।
शुभोदये तु सायाह्ने स्थायी विजयमाप्नुयात् ॥८॥

लग्न में शुभ ग्रह हों तो पूर्वाह्ण में आक्रमणकारी की विजय और शुभ लग्न में ही अपराह्ण में स्थायी की विजय बताना।

छत्रारूढोदये वापि पुंराशौ पापसंयुते।
तत्काले पृच्छतां सद्यः कलहो जायते महान् ॥९॥

छत्र आरूढ़ के उदय में या पुरुष राशि के पापयुत होने पर यदि कोई पूछे तो शीघ्र ही कलह बताना चाहिये।

पृष्ठोदये तथारूढे पापैर्युक्तेऽथ वीक्षिते।
दशमे पापसंयुक्ते चतुष्पादुदयेऽपि च ॥१०॥
कलहो जायते शीघ्रं संधिः स्याच्छुभवीक्षिते।

आरूढ़ यदि पृष्ठोदय राशि हो और पाप से युत या दृष्ट हो दशम में पाप ग्रह हों या लग्न में चतुष्पद राशि हो तो शीघ्र कलह होता पर यदि शुभ ग्रह देखते हों तो संधि होती है।

उदयादिषु षट्केषु शुभराशिषु चेत् स्थिताः ॥११॥
स्थायिनो विजयं ब्रूयात् तद्भूर्ध्वे चेद्विपर्ययम्।

लग्न से लेकर छः भावों में शुभ राशियों में यदि ग्रह हों तो स्थायी की अन्यथा आक्रमणकारी की विजय होती है।

पापग्रहयुते तद्राशिमित्रे (?) संधिःप्रजायते ॥१२॥
उभयत्र स्थिताः पापाः बलवन्तः सताजयम्।

यदि उन्हीं ६ राशियों में पाप ग्रह हों तो संधि और यदि दोनों बली पाप ग्रह हों तो यायी और स्थायी में जो सज्जन हो उसी की विजय बताना चाहिये।

तुर्यादिराशिभिः षड्भिः स्थायिनो बलमादिशेत्॥१३॥
एवं ग्रहस्थितिवशात् पूर्ववत्कथयेद् बुधः।

यदि चतुर्थ से लेकर नवम पर्यन्त ६ राशियों में शुभ ग्रह हों तो स्थायी की जय होती है,—बुद्धिमान् ग्रहों के वश से फल कहें।

ग्रहोदये विशेषोऽस्ति शन्यर्कांगारका यदि ॥१४॥
आगतस्य जयं ब्रूयात् स्थायिनो भंगमादिशेत्।

विशेषता यह है कि प्रश्न लग्न में शनि सूर्य या मंगल हों तो यायी को जय और स्थायी की हार होगी।

बुधशुक्रोदये संधिः जयः स्थायी (?) गुरूदये ॥१५॥
पंचाष्टलाभारिष्वेषु तृतीयेऽर्किः स्थितो यदि।
आगतः स्त्रीधनादीनि हृत्वा वस्तूनि गच्छति ॥१६॥

उसी प्रश्न लग्न में यदि बुध और शुक्र हों तो सन्धि हो जाती है पर गुरु हों तो स्थायी की विजय होती है। ५, ८, ११, ६ इनमें या तृतीय में यदि शनि हो तो आगत राजा स्त्री धन आदि ले कर चला जायगा।

द्वितीये दशमे सौरिः यदि सेनासमागमः।
यदि शुक्रः स्थितः षष्ठे योग्यसंधिर्भविष्यति ॥१७॥

यदि २, या १० में शनि हो तो सेना आयेगी पर यदि षष्ठ में शुक्र हो तो सन्धि हो जायगी।

चतुर्थे पंचमे शुक्रो यदि तिष्ठति तत्क्षणात्।
स्त्रीधनादीनि वस्तूनि यायी हृत्वा प्रयास्यति ॥१८॥

यदि ४ या ५ वें स्थान में शुक्र हो तो शीघ्र ही यायी (लड़ाई करने वाला,) स्त्री धन आदि को हरण करके चला जायगा।

सप्तमे शुक्रसंयुक्ते स्थायी भवति दुर्लभः।
नवाष्टसप्तसहजान्वितान्यत्र कुजो यदि ॥१९॥
स्थायी विजयमाप्नोति परसेनासमागमे।

सप्तम में यदि शुक्र हो तो स्थायी मुश्किल से बचता है। यदि ६, ८, ७, ३ इन से अन्यत्र मंगल हो तो शत्रु की सेना का आक्रमण होने पर स्थायी की विजय होगी।

चतुर्थे पंचमे चन्द्रो यदि स्थायी जयी भवेत् ॥२०॥
तृतीये पंचमे भानुः यदि सेनासमागमः ।
मित्रस्थानस्थितः संधिर्नोचेत्स्थायी जयी भवेत् ॥२१॥

४, या ५ में यदि चन्द्रमा हो तो स्थायी की जय होगी, ३ या ५ में यदि सूर्य हो और वह यदि मित्र स्थान में हो तो संधि, अन्यथा स्थायी की जय बतानी चाहिये।

चतुर्थे वित्तदः स्थायी अष्टमे यायिनो मृतिः ।

यदि सूर्य ४र्थ में हो तो स्थायी को धनद और ८ में हो तो यायी की मृत्यु बतानी चाहिये।

उदयात् सहजे सौम्यो द्वितीये यदि भास्करः ॥२२॥
स्थायिनो विजयं ब्रूयात् व्यत्यये यायिनो जयं ।
ससौम्ये भास्करे युक्ते समं ब्रूयात् द्वयोस्तयोः ॥२३॥

लग्न से तृतीय में यदि शुभ ग्रह हों द्वितीय में यदि सूर्य हो तो स्थायी की अन्यथा यायी की विजय होती है। किन्तु यदि सूर्य शुभग्रहों से युत हो तो दोनों को बराबर कहना चाहिये।

उदयात् पंचमे सौम्ये स्थायी भवति कातिकः ।
द्वित्रिस्थे सोमजे यायी विजयी भवति ध्रुवम् ॥२४॥

लग्न से यदि पंचम में बुध हो तो स्थायी कातर होगा। यदि बुध २ रे, ३रे स्थान में हो तो यायी निश्चय विजयी होता है।

एकादशे व्यये सौम्ये स्थायी विजयमेष्यति ।
एकादशे रवौ यायी हृतस्त्रीपतिबांधवः ॥२५॥

यदि बुध ११, या १२ वें स्थान में हो तो स्थायी की विजय होती है। रवि यदि ११ वें स्थान में हो तो यायी का स्त्री धन आदि सर्वस्व नष्ट होगा।

शत्रुनीचस्थिते सूर्ये स्थायिनो भंगमादिशेत् ।
उदयात्पंचमे शत्रुव्ययेषु विषये यदि ॥२६॥

विपरीतेषु युद्धं स्यात् भानौ द्वादशके यदि।
तत्र युद्धं न भवति शास्त्रे ज्ञानप्रदीपिके ॥२७॥

सूर्य यदि शत्रु या नीच राशि में हो तो स्थायी की हार होती है। लग्न से पंचम, षष्ठ और १२ वें में युद्ध होता है। यदि सूर्य द्वादश में हो तो युद्ध नहीं होता।

चरराशिस्थिते चन्द्रे चरराश्युदयेऽपि वा।
आगतारेर्हि सन्धानं विपरीते विपर्ययः ॥२८॥

चन्द्रमा चर राशि में या चर लग्न में हो तो आगत शत्रु से संधि और अन्यथा युद्ध होगा।

युग्मराशिगते चन्द्रे स्थिरराश्युदयेऽपि वा।
अर्द्धमार्गं समागत्य सेना प्रतिनिवर्तते ॥२९॥

चन्द्रमा यदि द्विस्वभाव राशि में हो और लग्न में स्थिर राशि हो तो सेना आधे रास्ते से आकर लौट जायगी।

सिंहाद्याः राशयः षट् च भास्करः स्थायिरूपिणः।
कर्काद्युत्क्रमेणैव चन्द्रो वै यायिरूपिकाः ॥३०॥

सिंह से लेकर मिथुन तक ६ राशियाँ और सूर्य ये स्थायी के रूप हैं। और बाकी ६ राशि और चन्द्रमा यायी के स्वरूप हैं।

स्थायी (?) यायी (?) क्रमेणैवं ब्रूयाद्ग्रहवशाद्बलम्।

इस प्रकार स्थायी और यायी के बल की विवेचना क्रम से होनी चाहिये।

इति सेनागमनकाण्डः।

यात्राकाण्डं प्रवक्ष्यामि सर्वेषां हितकाम्यया।
गमनागमनं चैव लाभालाभौ शुभाशुभौ ॥१॥
विचार्य कथयेद्विद्वान् पृच्छतां शास्त्रवित्तमः।

सब के हितार्थ यात्रा काण्ड कहता हूं। इस काण्ड से गमन आगमन लाभ हानि, शुभ, अशुभ आदि बातें विचार कर कहनी चाहिये।

मित्रक्षेत्राणि पश्यन्ति यदि मित्रग्रहास्तदा ॥२॥
मित्राय गमनं ब्रूयात् नीचं नीचग्रहाणि (?) च ।
नीचाय गमनं ब्रूयात् उच्चानुच्चग्रहाणि (?) च ॥३॥

यदि मित्रक्षेत्र को मित्रग्रह देखते हों तो मित्र के लिये गमन कहना चाहिये। योंही यदि नीच ग्रह नीच स्थानों को देखते हों तो नीच के लिये और उच्च ग्रह देखते हों तो अपने से उच्च के पास यात्रा बतानी चाहिये।

स्वाधिकाये(?)ऽतिगमनं पुंराशिं पुंग्रहा यदि ।
स्त्रिया गमनमित्युक्तमन्येष्वेवं विचारयेत् ॥४॥

पुरुष राशि को यदि पुंग्रह देखते हों तो स्त्री के लिये गमन होता है। अन्य परिस्थितियों में भी ऐसे ही विचार लेना चाहिये।

चरराश्युदयारूढे तत्तद्ग्रहविलोकने ।
तत्तद्राशासु तिष्ठन्ति पृच्छतां शास्त्रनिर्णयः ॥५॥

चर राशि यदि लग्न या आरूढ़ में हो तो जो ग्रह उन्हें देखता हो उसी की दिशा का प्रश्न कहना चाहिये ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है।

स्थिरराश्युदयारूढे शन्यर्काङ्गारकाः स्थिताः ।
अथवा दशमे वा चेद् गमनागमने न च ॥६॥

स्थिर राशि उदय या आरूढ़ में हो और शनि, सूर्य और मंगल हो या दशम में भी ये हों तो गमन या आगमन नहीं होता।

शुक्रसौम्येन्दुजीवाश्चेत् तिष्ठन्ति स्थिरराशिषु ।
विद्यते स्वेष्टसिद्ध्यर्थं गमनागमने तथा ॥७॥

यदि स्थिर राशि में शुक्र, बुध, चंद्र या बृहस्पति हों तो अपनी इष्टसिद्धि के लिये गमनागमन बताना चाहिये।

स्थितिप्रश्नेति (?) तं ब्रूयान्मस्तकोदयराशिषु।
पृष्ठोदये तु गमनं तथा गमनमेधते ॥८॥

यदि ये शीर्षोदय राशि में हों तो प्रश्न स्थिति का बताना चाहिये। पृष्ठोदय राशि में हों तो वृद्धिपूर्वक गमन बताना।

द्वितीये च तृतीये च तिष्ठन्ति यदि पुंग्रहाः।
त्रिदिनात्पत्रिका याति······प्रोषितस्य च ॥९॥

द्वितीय तृतीय में यदि पुरुष ग्रह हों तो दो या तीन दिन में विदेशस्थ व्यक्ति का पत्र आता है।

लग्नस्थसहजव्योमलाभेष्विंदुज्ञभार्गवाः।
तिष्ठन्ति यदि तत्काले चावृतिः प्रोषितस्य च ॥१०॥

यदि चंद्र, बुध और शुक्र, १, ३, १० या ११ वें स्थान में हो तो प्रवासी शीघ्र ही लौटेगा।

चतुर्थे वारि वा पापाः तिष्ठन्ति चेत् शुभग्रहाः।
पत्रिका प्रोषितस्याशु समायाति न संशयः ॥११॥

यदि ४र्थ और षष्ठ में क्रमशः पाप ग्रह और शुभ ग्रह हों तो प्रवासी की पत्रिका निःसन्देह शीघ्र आवेगी।

चापाक्षछागसिंहेषु यदि तिष्ठति चन्द्रमाः।
चिन्तितस्तत्तदाऽऽयाति चतुर्थे चेत्तदागमः ॥१२॥

धनु, वृष, मेष और सिंह में यदि चन्द्रमा हो तो चिन्तित आवेगा [पर कर्क में हो तो उसका आगमन हो गया है।

स्वस्वक्षेत्रेषु तिष्ठन्ति शुक्रजीवेन्दुसोमजाः।
प्रयाणे गमनं ब्रूयात् तत्तदाशासु सर्वदा ॥१३॥

यदि शुक्र, बृहस्पति, चंद्र और बुध अपनी राशि में हों तो उनकी दिशाओं में यात्रा बतानी चाहिये।

ग्रहाः स्वक्षेत्रमायान्ति यावत्तावत् फलं वदेत् ।
शुभग्रहवशात् सौख्यं पीडां पापग्रहैर्वदेत् ॥१४॥

ग्रह जितने दिन में अपने क्षेत्र में आवें उतने दिन में समाचार आना चाहिये। शुभ ग्रह हो तो शुभ और अशुभ ग्रह हो तो अशुभ फल बताना चाहिये।

सप्तमाष्टमयोः पापास्तिष्ठन्ति यदि च ग्रहाः ।
प्रोषितो हृतसर्वस्वस्तत्रैव मरणं व्रजेत् ॥१५॥

यदि सप्तम और अष्टम में पापग्रह हों तो प्रवासी विदेश में ही हृतसर्वस्व हो कर मर जाता है।

षष्ठे पापयुते मार्गगामी बद्धो भविष्यति ।
चरराशिस्थिते पापे चिरेणायाति निश्चितम् ॥१६॥

षष्ठ में यदि पाप-ग्रह हो तो प्रवासी पुरुष मार्ग में ही बद्ध हो जाता है। यदि पाप ग्रह चर राशि में स्थित हो तो वह चिरकाल में आवेगा।

बलाबलवशेनैव शुभाशुभनिरूपणम् ।

इस प्रकार ग्रहों में बलाबल के विचार से शुभाशुभ फल का निरूपण होता है।

इति यात्राकाण्डः

जलराशिषु लग्नेषु जलग्रहनिरीक्षणे ।
कथयेद् वृष्टिरस्तीति विपरीते न वर्षति ॥१॥

लग्न में जल राशि हो और जलग्रह देखते हों तो वृष्टि होगी अन्यथा नहीं।

जलराशिषु शुक्रेन्दू तिष्ठतो वृष्टिरुत्तमा ।
जलराशिषु तिष्ठन्ति शुक्रजीवसुधाकराः ॥२॥
आरूढोदयराशि चेत् पश्यन्त्यधिकवृष्टयः ।

जलराशि में यदि शुक्र, तथा चन्द्र हों तो अच्छी वृष्टि होगी। और जल राशि में शुक्र, बृहस्पति चन्द्र हों और लग्न और आरूढ़ को देखते हों तो अधिक वृष्टि होगी।

एते स्वक्षेत्रमुच्चं वा पश्यन्ति यदि केन्द्रकम् ॥३॥
त्रिचतुर्दिवसादन्तर्महावृष्टिर्भविष्यति ।

यदि शुक्र बृहस्पति और चन्द्रमा अपने क्षेत्र को उच्च राशि को या दशम एकादश को देखते हों तो तीन हो चार दिनों के भीतर महावृष्टि होगी ।

लग्नाच्चतुर्थे शुक्रः स्यात्तद्दिने वृष्टिरुत्तमा ॥४॥
चन्द्रे पृष्ठोदये जाते पृष्ठोदयमवेक्षिते ।
तत्काले परिवेषादिदृष्टे वृष्टिर्महत्तरा ॥५॥

यदि लग्न से चतुर्थ में चन्द्रमा हो तो उसी दिन उत्तम वृष्टि होगी चन्द्रमा यदि पृष्ठोदय राशि में हो और पृष्ठोदय राशि को देखते हों और उस पर परिवेषादि उपग्रहों की दृष्टि हो तो वृष्टि अच्छी होगी ।

केन्द्रेषु मन्दभौमज्ञराहवो यदि संस्थिताः ।
वृष्टिर्नास्तीति कथयेदथवा चण्डमारुतः ॥६॥

केन्द्र (१, ४, ७, १०) में यदि शनि, मंगल, बुध और राहु स्थित हों तो वृष्टि न होगी या प्रचण्ड वायु बहेगा ।

पापसौम्यविमिश्रे च अल्पवृष्टिः प्रजायते ।
पापश्चेन्मन्दराहुश्चेत् वृष्टिर्नास्तीति कीर्तयेत् ॥७॥

यदि उपर्युक्त स्थानों में पाप और शुभ दोनों प्रकार के ग्रह हों तो वृष्टि थोड़ी होगी यदि शनि और राहु हों तो वृष्टि नहीं होगी ।

शुक्रकार्मुकसन्धिश्चेद्धारावृष्टिर्भविष्यति ।

यदि धनु में शुक्र पड़े हों तो मूसलाधार पानी बरसेगा ।

इति वृष्टिकाण्डः

उच्चेन दृष्टे युक्ते वा अर्घ्यवृद्धिर्भविष्यति।
नीचेन युक्ते दृष्टे वा अर्घ्यक्षयमितीरितम् ॥१॥
मित्रस्वामिवशात् सौम्यामित्रं ज्ञात्वा वदेत्सुधीः।
शुभग्रहयुते दृष्टे त्वर्घ्यवृद्धिर्भविष्यति ॥२॥

उच्च से दृष्ट किंवा युक्त होने पर अर्घ्य (अन्न का भाव) की वृद्धि और नीच से युत या दृष्ट होने पर क्षति होती है। इस विषय में विद्वान को मित्र, शत्रु, स्वामी, शुभ, पाप का पूर्ण विचार करना चाहिये। शुभ ग्रह से युत दृष्ट होने पर अर्घ (दर) की वृद्धि होगी।

पापग्रहयुते दृष्टे त्वर्घ्यवृद्धिक्षयो भवेत्।
नीचशत्रुवशान्न्यूनमर्घ्यनिर्णयमीरितम् ॥३॥

लग्न यदि पाप ग्रह से युत या दृष्ट हो तो दर को बढ़वारी घटेगी नीच और शत्रु के वश से इसकी न्यूनता का निर्णय कहा जाता है।

इत्यर्घ्यकाण्डः

जलराशिषु लग्नेषु जीवशुक्रादयो यदि।
पोतस्यागमनं ब्रूयादशुभश्चेन्न सिद्ध्यति ॥१॥

लग्न में जल राशि हो और उसमें बृहस्पति और शुक्र पड़े हों तो जहाज शीघ्र लौटेगा। यदि अशुभ ग्रह हों तो काम सिद्ध नहीं होगा।

आरूढकेन्द्रलग्नेषु वीक्षितेष्वशुभग्रहैः।
पोतभंगो भवति च शत्रुभिर्वा तथा वदेत् ॥२॥

आरूढ, केंद्र (१, ४, ७, १०) को यदि अशुभ ग्रह देखते हों तो शत्रुओं ने जहाज लूट लिया है—ऐसा—ऐसा बताना।

अदृष्टस्योदये लग्ने शुभे नौका व्रजेत्स्वयम्।
तद्ग्रहे तु यथा दृष्टे तथा नौदर्शनं भवेत् ॥३॥

यदि लग्न शुभ ग्रह से दृष्ट पाप ग्रह से अदृष्ट हो तो नौका अनायास चलेगी । उन ग्रहों में जैसे ग्रह का दृष्टियोग हो वैसे ही नौका का दर्शन होगा ।

चरराशौ चरच्छत्रे द्रुत आयाति नौस्तथा ।
चतुर्थे पंचमे चन्द्रो यदि नौः शीघ्रमेष्यति ॥४॥

चर राशि में और चर छत्र में यदि चंद्रमा हो तो द्रुत नौका आ जाती है । चन्द्रमा यदि चौथे या पांचवें स्थान में हो तो नौका शीघ्र आयेगी यह कहना चाहिये ।

द्वितीये वा तृतीये वा शुक्रश्चेन्नौसमागमः ।
अनेनैव प्रकारेण सर्वं वीक्ष्य वदेत्स्फुटम् ॥५॥

यदि द्वितीय तृतीय स्थान में शुक्र हो तो नौका का आगमन शीघ्र ही होगा । इस प्रकार से सब देख भाल कर स्पष्ट फल बताना चाहिये ।

इति नौकाण्डः

इति ज्ञानप्रदीपिका नाम ज्योतिषशास्त्रम् समाप्तम् ।

देवकुमार-ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प (ख)

सामुद्रिक-शास्त्र

(ज्योतिष-शास्त्र)

अनुवादक और सम्पादक

ज्योतिषाचार्य पण्डित रामव्यास पाण्डेय

प्रकाशक

निर्मलकुमार जैन

मन्त्री

श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

वीर संवत् २४६० (सन् १९३४)

सामुद्रिक-शास्त्र

की

विषय-सूची

परिशिष्टम्

जिनेन्द्राय नमः

सामुद्रिका-शास्त्रम्

आदिदेवं नमस्कृत्य सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
सामुद्रिकं प्रवक्ष्यामि शुभांगं पुरुषस्त्रियोः ॥१॥

सबके ज्ञाता, सब कुछ देखने वाले, आदि देव (ऋषभदेव) परमात्मा को नमस्कार करके, पुरुष और स्त्रियों के शुभ लक्षणों को बताने वाले सामुद्रिक शास्त्र को कहता हूं।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत् ।
आयुर्हीननराणां तु लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥२॥

सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा शुभाशुभ फलों के विवेचन करने वाले पुरुष को पहले प्रश्न-कर्त्ता की आयु को परीक्षा कर अन्य लक्षणों का आदेश करना चाहिये। क्योंकि जिसकी आयु ही नहीं है वह अन्य लक्षण जान कर क्या करेगा ?

वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च ।
निर्दिष्टं लक्षणं चैव सामुद्र-वचनं यथा ॥३॥

इस शास्त्र के वचन के अनुसार, पुरुष के दाहिने और स्त्री के बांये अंग के लक्षणों का निर्देश करना चाहिये।

पंचदीर्घं चतुर्ह्रस्वं पंचसूक्ष्मं षडुन्नतम् ।
सप्तरक्तं त्रिगम्भीरं त्रिविस्तीर्णमुदाहृतम् ॥४॥

जैसा कि आगे बताया है, मनुष्य के पांच अंगों में दीर्घता (बड़ा होना) चार अंगों में ह्रस्वता (छोटाई) पांच में सूक्ष्मता (बारीकी) छः अंगों में ऊंचाई, सात में ललाई, तीन में गंभीरता (गहराई) और तीन में विस्तीर्णता (चौड़ाई) प्रशस्त कही गई है।

बाहुनेत्रनखाश्चैव कर्णनासास्तथैव च ।
स्तनयोरुन्नतिश्चैव पंचदीर्घं प्रशस्यते ॥५॥

भुजाओं में, नेत्रों में, नखों में कानों में और नाक में दीर्घता होनी चाहिये। स्तनों में दीर्घता के साथ ही साथ कुछ ऊंचाई होनी चाहिये। इन्हीं पांच अंगो की दीर्घता प्रशस्त बताई गई है।

ग्रीवा प्रजननं पृष्ठं ह्रस्वजंघे प्रपूरिते।
ह्रस्वानि यस्य चत्वारि पूज्यमाप्नोति नित्यशः ॥६॥

गर्दन पीठ और भरी हुई जंघा ये चार अंग जिसके ह्रस्व (छोटे) होते हैं वह सदा पूजा पाता है।

सूक्ष्माण्यंगुलिपर्वाणि दन्तकेशनखत्वचः।
पञ्च सूक्ष्माणि येषां स्युस्तेनरा दीर्घजीविनः ॥७॥

अंगुलों के पोर, दाँत, केश नख और त्वक् (चमड़ा) ये पाँचों जिन पुरुषों के सूक्ष्म (बारीक) होते हैं वे दीर्घजीवी होते हैं।

कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणस्कन्धौ ललाटकम्।
सर्वभूतेषु निर्दिष्टं षडुन्नतशुभं विदुः ॥८॥

कक्ष (कांख), कुक्षि, (कोख) छाती, नाक, कन्धे और ललाट, इन छः अंगों का ऊंचा होना किसी भी जीव के लिये शुभ है।

पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तानि नखानि च।
तालु जिह्वाधरोष्ठौ च सदा रक्तं प्रशस्यते ॥९॥

हथेली, चरणों के नीचे का भाग, नेत्रों के कोने नख, तालु, जीभ और निचले होंठ इन सात अंगों का सदा लाल रहना उत्तम है।

नाभिस्वरं सत्वमिति प्रशस्तं गंभीरमेतत् त्रितयं नराणाम्।
उरो ललाटो वदनं च पुंसां विस्तीर्णमेतत् त्रितयं प्रशस्तम् ॥१०॥

नाभि, स्वर और सत्व ये तीन यदि पुरुषों के गम्भीर हों तो प्रशस्त कहे जाते हैं। इसी प्रकार छाती, ललाट और मुख का चौड़ा होना शुभ होता है।

वर्णात् परतरं स्नेहं स्नेहात्परतरं स्वरम्।
स्वरात् परतरं सत्वं सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितम् ॥११॥

मनुष्य की देह में, रंग से उत्तम स्निग्धता (चिकनाई, आब) है, स्निग्धता से भी उत्तम स्वर है और स्वर (आवाज़) से भी उत्तम सत्त्व है। (सत्त्व वह वस्तु है जिसके कारण मनुष्य की सत्ता है, जिसके न रहने से मनुष्यत्व ही नहीं रहता) इसी लिये सत्त्व ही सब का प्रतिष्ठा-स्थान है।

नेत्रतेजोऽतिरक्तं च नातिपिच्छलपिंगलम् ।
दीर्घबाहुनिभैश्वर्यं विस्तीर्णं सुन्दरं मुखम् ॥१२॥

आखों में तेज और गाढ़ा लालिमा का होना तथा बहुत चिकनाई और पिंगल वर्ण (माँजर-पन) का न होना, भुजाओं का दीर्घ होना, और मुंह का विशाल और सुन्दर होना, ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

उरोविशालो धनधान्यभोगी शिरोविशालो नृपपुंगवः स्यात् ।
कटिविशालो बहुपुत्रयुक्तो विशालपादो धनधान्ययुक्तः ॥१३

जिसकी छाती चौड़ी हो वह धन धान्य का भोक्ता, जिसका ललाट चौड़ा हो वह राजा, जिसकी कमर विशाल हो वह बहुत पुत्रोंवाला तथा जिसके चरण विशाल हों वह धनधान्य से युक्त होता है।

वक्षस्नेहेन सौभाग्यं दन्तस्नेहेन भोजनम् ।
त्वचःस्नेहेन शय्या च पादस्नेहेन वाहनम् ॥१४॥

वक्षःस्थल (छाती) की चिकनाई से सौभाग्य, दाँत की चिकनाई से भोजन, चमड़े की चिकनाई से शय्या और चरणों की चिकनाई से सवारी मिलती है।

अकर्मकठिनौ हस्तौ पादौ चाध्वानकोमलौ ।
तस्य राज्यं विनिर्दिष्टं सामुद्रवचनं यथा ॥१५॥

विना काम काज किये भी जिसका हाथ कठिन (कड़ा) हो, और मार्ग चलने पर जिसके पैर कोमल रहते हों, उस मनुष्य को इस शास्त्र के कथन के अनुसार, राज्य मिलना चाहिये।

दीर्घलिंगेन दारिद्र्यम् स्थूललिंगेन निर्धनम् ।
कृशलिंगेन सौभाग्यं ह्रस्वलिंगेन भूपतिः ॥१६॥

जिस पुरुष का लिंग (जननेन्द्रिय) लंबा हो वह दरिद्र, मोटा हो वह निर्धन, पतला हो वह सौभाग्यशील एवं छोटा हो वह राजा होता है।

कनिष्ठिकाप्रदेशाद्या रेखा गच्छति तर्जनीम् ।
अविच्छिन्नानि वर्षाणि तस्य चायुर्विनिर्दिशेत् ॥१७॥

कनिष्ठा अंगुली के नीचे से जो रेखा जाती है वह यदि तर्जनी तक चली गई हो तो समझना चाहिये कि इसकी आयु पूर्णायु अर्थात् १२० वर्ष की है।

कनिष्ठिका प्रदेशाद्या रेखा गच्छति मध्यमाम् ।
अविच्छिन्नानि वर्षाणि अशीत्यायुर्विनिर्दिशेत् ।

वही रेखा यदि मध्यमा अंगुली तक गई हो तो उसकी आयु बिना बाधा के अस्सी वर्ष जानना।

कनिष्ठिकांगुलेर्देशाद्रेखा गच्छत्यनामिकाम् ।
अविच्छिन्नानि वर्षाणि षष्ठ्यायुर्विनिर्दिशेत् ॥१९॥

वही (कनिष्ठा के अधः प्रदेश से जाने वाली) रेखा यदि अनामिका तक गई हो तो पुरुष की आयु, बे खटके ६० वर्ष की होती है।

कनिष्ठिकांगुलेर्देशात् रेखा तत्रैव गच्छति ।
अविच्छिन्नानि वर्षाणि विंशत्यायुर्विनिर्दिशेत् ॥२०॥

वही (कनिष्ठा के अधः प्रदेशवाली) रेखा यदि कनिष्ठा के मूल तक आकर ही रह जाय तो आयु के वर्ष बीस (वर्ष) होंगे।

ललाटे यस्य दृश्यन्ते पंच रेखा अनुत्तराः ।
शतवर्षाणि निर्दिष्टं नारदस्य वचो यथा ॥२१॥

जिस पुरुष के ललाट पर पांच रेखायें, एक दूसरे के बाद, दिखाई दें, उसकी आयु, नारदमुनि के कथनानुसार, सौ वर्ष होना चाहिये।

ललाटे यस्य दृश्यन्ते चतूरेखाः सुवर्णितम् ।
निर्दिष्टाशीतिवर्षाणि सामुद्रवचनं यथा ।२२॥

जिस पुरुष के ललाट पर चार रेखायें, खूब अच्छी तरह से दिखाई पड़ें, इस शास्त्र के अनुसार उसकी आयु अस्सी वर्ष की होगी।

ललाटे दृश्यते यस्य रेखात्रयमनुत्तरम् ।
षष्ठिवर्षाणि निर्दिष्टं नारदस्य वचो यथा ॥२३॥
ललाटे दृश्यते यस्य रेखाद्वयमनुत्तरम्
वर्षविंशतिनिर्दिष्टं सामुद्रवचनं यथा ॥२४

जिसके ललाट में तीन रेखायें हों उसकी साठ तथा जिसके ललाट पर दो रेखायें हों उसकी बीस वर्ष की आयु समझनी चाहिये—ऐसा नारद का वाक्य है।

कुचैलिनं दन्तमलप्रपूरितम् बह्वाशिनं निष्ठुरवाक्यभाषिणम् ।
सूर्योदये चास्तमये च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्र-पाणिनम् ॥२५॥

मैले वस्त्र को धारण करने वाले, दाँत के मल को साफ न करने वाले, बहुत खाने वाले, कटु वाक्य बोलने वाले, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोने वाले पुरुष को—वे चाहे विष्णु ही क्यों न हो—लक्ष्मी छोड़ देती हैं।

अंगुष्ठोदरमध्यस्थो यवो यस्य विराजते ।
उत्तमो भक्ष्यभोजी च नरस्स सुखमेधते ॥२६॥

जिसके अंगूठे के उदर (बीच) में जौ का चिन्ह हो उत्तम भोग को प्राप्त करता हुआ सुख की वृद्धि पाता है।

अतिमेधातिकीर्तिश्च अतिक्रान्तसुखी तथा ।
अतिम्लिष्टचैल निर्दिष्टमल्पमायुर्विनिर्दिशेत् ॥२७॥

जो मनुष्य अत्यधिक बुद्धिमान्, अतिशय कीर्तिमान् और अत्यन्त सुखी तथा मलिन वस्त्रधारी रहता है- वह अल्पायु होता है ऐसा जानना चाहिये।

रेखाभिर्बहुभिः क्लेशी रेखाल्प-धनहीनता ।
रक्ताभिः सुखमाप्नोति कृष्णाभिश्च वने वसेत् ॥२८

हथेली में बहुत रेखायें हों तो मनुष्य दुःखी एवं कम हों तो निर्धन होता है। रेखायें यदि लाल हों तो सुख और काली हों तो वनवास होता है ॥२८॥

श्रीमान्नृपश्च रक्ताक्षो निरर्थः कोऽपि पिङ्गलः ।
सुदीर्घं बहुधैश्वर्यं निर्मांसं न च वै सुखम् ॥२९॥

आँखें लाल हों तो धनवान और राजा, पिङ्गलवर्ण की हों तो निर्धन, बड़ी २ हों तो ऐश्वर्यवान् और मांस हीन हों (धँसी हुई हों) तो दुःखी जानना चाहिये।

पंचरेखा युगत्रीणि द्विरेखा च समास्थितं ।
नवत्यशीतिः षष्ठिश्च चत्वारिंशच्च विंशतिः ॥३८

जिसके क्रमशः पाँच, चार, तीन, और दो रेखायें हों क्रमशः ९०, ८०, ६०, ४० और २० वर्ष जीता है।

इत्यायुर्लक्षणं नाम प्रथमं पर्व

द्वितीयं पर्व

अथ तत् सम्प्रवक्ष्यामि देहावयवलक्षणम् ।
उत्तमं मध्यमं हीनं समासेन हि कथ्यते ॥१॥

अब मैं संक्षेप में शरीर के उन लक्षणों को कहता हूं जिन से उत्तम, मध्यम और अधम का ज्ञान होता है।

पादौ समांसलौ स्निग्धौ रक्तावतिमशोभनौ ।
उन्नतौ स्वेदरहितौ शिराहीनौ प्रजापतिः ॥२॥

जिस पुरुष के पैर मांसयुक्त, चिकने, गुलाबी रंग लिए हुए, सुन्दर उन्नत और पसीना न देने वाले तथा शिराहीन (ऊपर से शिरा न दिखाई दें—ऐसे) हों वह बहुत प्रजा (सन्तानों) का मालिक होता है।

यस्य प्रदेशिनी दीर्घा अंगुष्ठादतिवर्द्धिता ।
स्त्रीभोगं लभते नित्यं पुरुषो नात्र संशयः ॥३॥

जिसकी प्रदेशिनी (पैर के अंगूठे के पास वाली उंगली) अंगूठे से भी बड़ी हो वह पुरुष निस्सन्देह नित्य ही स्त्रीभोग पाता है।

तथा च विकृतरूक्षनखैर्दारिद्र्यमाप्नुयात् ।
पतिताश्च नखा नीला ब्रह्महत्यां विनिर्दिशेत् ॥४॥

विकृत, रूखे नखों वाला पुरुष दरिद्र होता है। गिरे हुए और नील वर्ण के नख से ब्रह्महत्या का निर्देश करना चाहिये।

श्वेतवर्णप्रभैः कान्त्या नखैर्बहुसुखाय च ।
ताम्रवर्णनखा यस्य धान्यपद्मानि भोजनम् ॥५॥

जिनके नख की कान्ति सफेद और प्रकाशमान हो उनको बहुत सुख होता है, जिनके नख की कान्ति लाल (तामे की तरह) हो उन्हें असंख्य धान्य और भोजन प्राप्त होता है।

सर्वरोमयुते जंघे नरोऽत्र दुःखभाग्भवेत् ।
मृगजंघे तु राजाढ्यो (न्यः) जायते नात्र संशयः ॥६॥

जिसके जंघो में (घुटनों के नीचे और फीलों के ऊपर) अधिक रोयें हों वह मनुष्य दुःखी होता है। जिसकी जंघा मृग के समान हो वह राजपुरुष (राज कुमार) होता है इसमें सन्देह नहीं ।

शृगालसमजंघेन लक्ष्मीशो न स जायते ।
मीनजंघं स्वयं लक्ष्मीः समाप्नोति न संशयः ॥७॥
स्थूलजंघनरा ये च अन्यभाग्यविवर्जिताः ।

सियार के समान जंघा वाला धनी नहीं होता, पर मछली के समान जंघा वाला खूब धनी होता है। मोटी जंघा वाला भाग्यहीन होता है।

एकरोमा लभेद्राज्यं द्विरोमा धनिको भवेत् ।
त्रिरोमा बहुरोमाणो नरास्ते भाग्यवर्जिताः ॥८॥

जिस पुरुष के रोम कूपों से एक एक रोयें निकले हों वह राजा होता है, दो रोम वाला धनिक और तीन या अधिक रोम वाला भाग्यहीन होता है।

हंसचक्रशुकानां च यस्य तद् गतिर्भवेत् ॥९॥
शुभदंगाढवन्नरच (?) स्त्रीणामेभिः शुभा गतिः ।

यदि चाल हंस, चकवा या सुग्गे की तरह हो तो वह पुरुष के लिये अशुभ है, पर यही चाल स्त्रियों के लिये शुभ होती है।

वृषसिंहगजेन्द्राणां गतिर्भोगवतां भवेत् ॥१०॥
मृगवज्जह्व याने(?) च काकोलूकसमा गतिः ।
द्रव्यहीनस्तु विज्ञेयो दुःखशोकभयङ्करः ॥११॥

बल, सिंह और मस्त हाथी की सी चाल वाले भाग्यवान् होते हैं। मृग के समान शृगाल के समान तथा कौए और उल्लू के समान गति वाले मनुष्य द्रव्यहीन तथा भयकुर दुःख-शोक से ग्रस्त होते हैं।

श्वानोष्ट्रमहिषाणां च (?) शूकरोष्ट्रधरास्ततः।
गतिर्येषां समास्तेषां ते नरा भाग्यवर्जिताः ॥१२॥

कुत्ते, ऊंट, भैंसे और सूअर की तरह गतिवाला पुरुष भाग्यहीन होता है।

दक्षिणावर्तलिंगस्तु स नरो पुत्रवान् भवेत्।
वामावर्ते तु लिंगानां नरः कन्याप्रजो भवेत् ॥१३॥

जिस पुरुष का शिश्न (जननेन्द्रिय) दाहिनी ओर झुका हो वह पुत्रवान तथा जिसकी बाईं ओर झुका हो वह कन्याओं का जन्मदाता होता है।

ताम्रवर्णमणिर्यस्य समरेखा विराजते।
सुभगो धनसम्पन्नो नरो भवति तत्त्वतः ॥१४॥

जिसके लिंग के आगे का भाग (मणि) की कान्ति लाल हो तथा रेखायें समान हों वह व्यक्ति सौभाग्यशील तथा धनवान होता है।

सुवर्णरौप्यसदृशैर्मणिभिर्घनसमप्रभैः।
प्रवालसदृशैः स्निग्धैः मणिभिः पुण्यवान् भवेत् ॥१५॥

सोना, चाँदी, मणि, प्रवाल (मूंगा) आदि के समान प्रभा वाले चिकने मणि (शिश्नाग्रभाग) वाले पुरुष पुण्यवान होते हैं।

समपादोपविष्टस्य गृहे तिष्ठति मेदिनी।
ईश्वरं तं विजानीयात्प्रमदाजनवल्लभं ॥१६॥

वह पुरुष सामर्थ्यवान तथा स्त्रियों का प्यारा होता है जिस के पैर पृथ्वी पर बराबर बैठते हैं। उसके घर पृथ्वी भी रहती है।

द्विधारं पतते मूत्रं स्निग्धशब्दविवर्जितम्।
स्त्रीभोगं लभते सौख्यं स नरो भाग्यवान् भवेत् ॥१७॥

पेशाब करते समय जिसका मूत्र दो धार हो कर गिरे और उनमें से शब्द न निकले तो वह पुरुष भाग्यवान होता है और स्त्रीभोग तथा सुख को प्राप्त होता है।

---

१ समासगत नियम विरुद्ध जान पड़ता है, "श्वोष्ट्रमहिषाणां च" ऐसा होना चाहिये था।

मीनगन्धं भवेद्रेतः स नरः पुत्रवान् भवेत् ।
मद्यगन्धं भवेद्रेतः स नरस्तस्करो भवेत् ॥१८॥
होमगन्धं भवेद्रेतः स नरः पार्थिवो भवेत् ।
कटुगन्धं भवेद्रेतः पुरुषो दुर्भगो भवेत् ॥१९॥
क्षारगन्धं भवेद्रेतः पुरुषा दारिद्र्यभोगिनः ।
मधुगंधं भवेद्रेतः पुमान्दारिद्र्यवान् भवेत् ॥२०॥

जिस पुरुष के वीर्य से मछली की गंध आती हो वह पुत्रवान्; शराब की गंध आती हो वह चोर, होम की गंध आती हो वह राजा, कड़ुई गंध आती हो वह अभागा; खारी गन्ध आती हो वह दरिद्र एवं मधु की गन्ध हो वह निर्धन होता है।

किंचिन्मिश्रं तथा पीतं भवेद्यस्य च शोणितम् ।
राजानं तं विजानीयात् पृथ्वीशं चक्रवर्तिनम् ॥२१॥

जिसका रक्त कुछ पीलापन लिये हुये हो उसे पृथ्वी का मालिक चक्रवर्ती राजा जानना चाहिये।

मृगोदरो नरो धन्यः मयूरोदरसन्निभः ।
व्याघ्रोदरो नरः श्रीमान् भवेत् सिंहोदरो नृपः ॥ २२ ॥

मृग और मोर की तरह पेट वाला मनुष्य भाग्यवान् , बाघ की तरह पेट वाला धनवान् और सिंह के पेट के समान पेट वाला मनुष्य राजा होता है।

सिंहपृष्ठो नरो यः स धनं धान्यं विवर्धयेत् ।
कूर्मपृष्ठो लभेद्राज्यं येन सौभाग्यभाग्भवेत् ॥ २३ ॥

सिंह जैसी पीठ वाला धन धान्य से युक्त और कछुये जैसी पीठ वाला राज्य सौभाग्य से युक्त होता है।

पाण्डुरा विरला वृक्षरेखा या दृश्यते करे ।
चौरस्तु तेन विज्ञेयो दुःखदारिद्र्यभाजनम् ॥ २४ ॥

पाण्डुर वर्ण की, विरल, वृक्ष के आकार की रेखा जिसके हाथ में हो वह दुःख और दरिद्रता से युक्त चोर होता है।

यस्य मीनसमा रेखा दृश्यते करसंतले
धर्मवान् भोगवाँश्चैव बहुपुत्रश्च जायते ॥२५॥

जिसके हाथ में मछली की रेखा हो वह धर्मनिष्ठ, भोगवान् और अनेक पुत्रों वाला होता है।

तुला यस्य तु दीर्घा च करमध्ये च दृश्यते।
वाणिज्यं सिध्यते तस्य पुरुषस्य न संशयः ॥ २६ ॥

जिसके हाथ में लंबी तराजू के आकार की रेखा हो वह पुरुष निश्चय ही उत्तम व्यापारी होता है।

अंकुशो वाऽथ चक्रं वा पद्मवज्रौ तथैव च।
तिष्ठन्ति हि करे यस्य स नरः पृथिवी-पतिः ॥ २७ ॥

जिसके हाथ में अंकुश, चक्र, कमल अथवा वज्र का चिह्न हो वह मनुष्य पृथ्वी का मालिक (राजा) होता है।

शक्तितोमरबाणश्च यस्य करतले भवेत्।
विज्ञेयो विग्रहे शूरः शस्त्रविद्यैव भिद्यते ॥ २८ ॥

शक्ति, तोमर, बाण के चिह्नों से अंकित हाथ वाला पुरुष युद्ध में शूर होता है, वह शस्त्र विद्या को भेदने वाला होता है।

रथो वा यदि वा छत्रं करमध्ये तु दृश्यते।
राज्यं च जायते तस्य बलवान् विजयी भवेत् ॥ २९ ॥

जिसके हाथ में रथ, छत्र का चिह्न हो वह बलवान् और राज्य का जीतने वाला होता है।

वृक्षो वा यदि वा शक्तिः करमध्ये तु दृश्यते।
अमात्यः स तु विज्ञेयो राजश्रेष्ठी च जायते ॥ ३० ॥

जिसके हाथ में वृक्ष या शक्ति का चिह्न हो वह मंत्री और राजा का सेठ होता है।

ध्वजं वा ह्यथवा शंखं यस्य हस्ते प्रजायते।
तस्य लक्ष्मीः समायाति सामुद्रस्य वचो यथा ॥ ३१ ॥

जिसके हाथ में ध्वज या शंख का चिह्न हो उसके पास, सामुद्रशास्त्र के कथनानुसार लक्ष्मी आती है।

कोष्ठाकारस्तथा राशिस्तोरणं यस्य दृश्यते।
कृषिभोगी भवेत् सोऽयं पुरुषो नात्र संशयः ॥ ३२ ॥

जिसके हाथ में कोठे का आकार, राशि, किंवा तोरण (वन्दनवार) का चिह्न हो वह पुरुष, निस्सन्देह कृषिजीवी होता हैं।

दीर्घबाहुर्नरो योग्यः स सर्वगुणसंयुतः।
अल्पबाहुर्भवेद्योऽसौ परप्रेषणकारकः ॥३३॥

जिस पुरुष की बांहे लंबी हों वह योग्य तथा सर्वगुणसम्पन्न होता है इसी प्रकार छोटी बांहुओं वाला दूसरे का नोकर होता है।

वामावर्ती भुजो यस्य दीर्घायुष्यो भवेन्नरः।
सम्पूर्णबाहवश्चैव स नरो धनवान् भवेत् ॥ ३४ ॥

जिसको भुजायें बाईं ओर घुमी हों वह पुरुष दीर्घ आयु वाला तथा धनी होता है।

ग्रीवा तु वर्तुला यस्य कुंभाकारा सुशोभना।
पार्थिवः स्यात् स विज्ञेयः पृथ्वीशो कान्तिसंयुतः ॥३५॥

जिसकी गर्दन घड़े की भांति गोल और सुन्दर हो वह सुन्दर स्वरूप वाला राजा होगा ऐसा जानना चाहिये।

शशग्रीवा नरा ये ते भवेयुर्भाग्यवर्जिताः।
कम्बुग्रीवा नरा ये च ते नराः सुखजीविनः ॥३६॥

जिनकी गर्दन खरगोश कीसी होवे अभागे होते हैं और जिनकी गर्दन शंख जैसी हो वे मनुष्य सुखी होते हैं।

कदलीस्तंभसदृशं गजस्कंधसुबन्धुरम्।
राजानं तं विजानीयात् सामुद्रवचनं यथा ॥ ३७ ॥

जिसका कन्धा केले के खंभे की तरह अथवा हाथी के कन्धे की तरह भरा पूरा स्थूल हो वह राजा होगा ऐसा इस शास्त्र का वचन है।

चन्द्रबिम्बसमं वक्त्रं धर्मशीलं विनिर्दिशेत्।
अश्ववक्त्रो नरो यस्तु दुःखदारिद्र्यभाजनम् ॥ ३८ ॥

करालवक्त्रवैरूपो स नरस्तस्करः स्मृतः ।
बकवानरवक्त्रश्च धनहीनः प्रकीर्तितः ॥ ३६ ॥

यदि मुंह चन्द्रमा के बिम्ब जैसा हो तो धर्मशील, घोड़े के मुंह जैसा हो तो दुःखी और दरिद्र, भयानक तथा रूखा हो तो चोर, बगुला या बानर जैसा हो तो मनुष्य निर्धन होता है।

यस्य गंडस्थलौ पूर्णौ पद्मपत्रसमप्रभौ ।
कृषिभोगी भवेत् सोऽपि धनवान् मानवान् पुमान् । ४०॥

जिसका गंडस्थल भरा हुआ तथा कमल के पत्ते के समान हों वह पुरुष धन तथा मान के सहित कृषिजीवी होता है।

सिंहव्याघ्रगजेन्द्राणां कपालसदृशं भवेत् ।
भोगवन्तो नराश्चैव सर्वदक्षा विदुर्बुधाः ॥ ४१॥

सिंह, बाघ, हाथी आदि के सदृश कपाल वाले पुरुष भोगी, चतुर ज्ञानी और श्रेष्ठ होते हैं।

रक्ताधरो नृपो ज्ञेयो स्थूलोष्ठो न प्रशस्यते ।
शुष्काधरो भवेत्तस्य नुः सुसौभाग्यदायिनः ॥ ४२ ॥

लाल होठों वाला राजा होता है, मोटा होंठ अच्छा नहीं होता शुष्क अधर सौभाग्य के सूचक है।

कुंदकुसुमसंकाशः दशनैर्भोगभागितः ।
यावज्जीवेत् धनं सौख्यं भोगवान स नरो भवेत् ॥ ४३ ॥

कुन्द की कोई के समान शुभ्र दांतों वाला मनुष्य जीवन भर सुख, भोग और धन आदि से युक्त रहता है।

रुक्षपाण्डुरदन्ताश्च ते क्षुधानित्यपीड़िताः ।
हस्तिदन्ता महादन्ता स्निग्धदन्ताः गुणान्विताः ॥ ४४ ॥

रूखे और पीले दांतो वाले मनुष्य सदा भूख से सताये हुए होते हैं। हाथी जैसे दांतो वाले, बड़े बड़े दांतों वाले तथा चिकने दाँतों वाले मनुष्य गुणी होते हैं।

द्वात्रिंशद्दशने राजा एकत्रिंशच्च भोगवान् ।

त्रिशंद्दन्ता नरा ये च ते भवन्ति सुभोगिनः ॥ ४५ ॥
एकोनत्रिंशद्दशनैः पुरुषाः दुःखजीविनः ।

३२ दाँतों वाला पुरुष राजा, ३१ दाँतों वाला सुखी, ३० दाँतों वाला भोगी और २९ दाँतो वाला मनुष्य दुःखी होता है।

कृष्णा जिह्वा भवेद्येषां ते नरा दुःखजीविनः ॥ ४६ ॥
श्यामजिह्वो नरो यः स्यात्स भवेत् पापकारकः ।
स्थूलजिह्वा प्रघातारो नराः परुषभाषिणः ॥ ४७ ॥
श्वेतजिह्वा नरा ये च शौचाचारसमन्विताः ।
पद्मपत्रसमा ये तु भोगवन्मिष्टभोजनाः ॥ ४८ ॥

काली जीभ वाले दुःखी, सांवली (हलकी कालिमामयी) जीभ वाले पापी, मोटी जीभ वाले परुष (कड़ा) बोलने वाले सफेद जीभ वाले पवित्र आचार शील, तथा कमल पत्र के समान चिकनी जीभ वाले मनुष्य भोगी तथा मिष्ट पदार्थ खाने वाले होते हैं।

किंचित्ताम्रं तथा स्निग्धं रक्तं यस्य च दृश्यते ।
सर्वविद्यासु चातुर्य्यं पुरुषस्य न संशयः ॥ ४९ ॥

जिसकी जीभ कुछ लालिमा के साथ चिकनाई भी लिये हो वह पुरुष निःसन्देह सब विद्याओं में चतुर होता है।

कृष्णतालुनरा ये च संभवं कुलनाशम् ।
पद्मपत्रसमं तालु स नरो भूपतिर्भवेत् ॥ ५० ॥

काले तालु वाला पुरुष कुल का नाशक तथा कमल-पत्र के समान तालु वाला राजा होता है।

श्वेततालुनरा ये च धनवंतो भवन्ति ते ।

जिन मनुष्यों का तालु सफेद रंग का होवे धनवान् होते हैं।

हयस्वरनरा ये च धनधान्यसुभोगिनः ॥५१॥
मेघगम्भीरनिर्घोषो भृंगाणां च विशेषतः ।
ते भवन्ति नरा नित्यं भोगवन्तो धनेश्वराः ॥५२॥

हंसस्वरश्च राजा स्यात् चक्रवाकस्वरस्तथा ।
व्याघ्रस्वरो भवेत् क्लेशी सामुद्रवचनं यथा ॥५३॥

जिनका स्वर घोड़े के समान होवे धनी होते हैं, मेघ के समान गम्भीर घोष वाले और श्वास करके भौंरों की गुंजार सरीखे स्वर वाले पुरुष नित्य भोगवान् और बड़े धनवान् होते हैं, हंस की तरह स्वर वाले और चकवे की तरह स्वर वाले राजा होते हैं। बाघ के समान स्वर वाले दुःखी होते हैं—ऐसा सामुद्रिक शास्त्र का कहना है।

पार्थिवः शुकनासा च दीर्घनासा च भोगभाक् ।
ह्रस्वनासा नरो यश्च धर्मशीलरतो रतः ॥५४॥
स्थूलनासा नरो मान्यः निंद्याश्च हयनासिकाः ।
सिंहनासा नरो यश्च सेनाध्यक्षो भवेत्स च ॥५५॥

शुक कीसी नाक वाले राजा, लंबी नाक वाले भोगी, पतली नाक वाले धर्मनिष्ठ, मोटी नाक वाले माननीय, घोड़े की सी नाक वाले निंदनीय, और सिंह कीसी नाक वाले सेनापति होते हैं।

त्रिशूलमंकुशं चापि ललाटे यस्य दृश्यते ।
धनिकं तं विजानीयात् प्रमदाजीववल्लभः ॥५६॥

जिसके ललाट पर त्रिशूल या अंकुश का चिह्न दिखाई दे उसे धनी समझना चाहिये। वह स्त्री का प्राण-प्यारा होता है।

स्थूलशीर्षनरा ये च धनवंतः प्रकीर्तिताः ।
वर्तुलाकारशीर्षेण मनुजो मानवाधिपः ॥५७॥

चौड़े सिर वाले मनुष्य धनी और गोलाकार सिर वाले राजा होते हैं।

रुक्षनिर्वाणि वर्णानि स्नेहस्थूला च मूर्द्धजा ।
निस्तेजाः सः सदा ज्ञेयः कुटिलकेशदुःखितः ॥५८॥

जिसके बाल रूखे और विवर्ण हों तथा तेल आदि लगाने पर जकड़ कर स्थूल हो जाते हों वह पुरुष निस्तेज होता है। कुटिल अलकों वाला मनुष्य दुःखी होता है।

अङ्कुशं कुंडलं चक्रं यस्य पाणितले भवेत् ।
विरलं मधुरं स्निग्धं तस्य राज्यं विनिर्दिशेत् ॥५६॥

जिसकी हथेली में अंकुश, कुंडल या चक्र हों उसको निराले और उत्तम राज्य का पाने वाला बताना चाहिये ।

इति पुरुषलक्षणं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

अथ स्त्रीलक्षणम्

प्रणम्य परमानन्दं सर्वज्ञं स्वामिनं जिनम् ।
सामुद्रिकं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणामपि शुभाशुभम् ॥१॥

परम आनन्द मय, सर्वज्ञ, श्री स्वामी जिनेश्वर को प्रणाम करके स्त्रियों के शुभाशुभ को बताने वाले सामुद्रिक शास्त्र को कहता हूं ।

कीदृशीं वरयेत्कन्यां कीदृशीं च विवर्जयेत् ।
किंचित्कुलस्य नारीणां लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥२॥

कैसी कन्या का वरण करना चाहिये, कैसी का त्याग करना चाहिये. कुलस्त्रियों का कुछ लक्षण आप कह सकते है ।

कृषोदरी च विम्बोष्ठी दीर्घकेशी च या भवेत् ।
दीर्घमायुः समाप्नोति धनधान्यविवर्द्धिनी ॥३॥

जो स्त्री कृशोदरी (कमर की पतली), बिंबफल के समान अधरोंवाली और लंबे लंबे केशों वाली होती है वह धन्यधान्य को बढ़ानेवाली होती है और बहुत दिनों तक जीती है ।

पूर्णचन्द्रमुखीं कन्यां बालसूर्यसमप्रभाम् ।
विशालनेत्रां रक्तोष्ठीं तां कन्यां वरयेद् बुधः ॥४॥

पूर्णचन्द्र के समान मुंहवाली, सवेरे के उगते हुए सूर्य के समान कान्ति वाली, बड़ी आँखों वाली और लाल होंठोंवाली कन्या से विवाह करना चाहिये ।

अंकुशं कुण्डलं माला यस्याः करतले भवेत् ।
योग्यं जनयते नारी सुपुत्रं पृथिवीपतिम् ॥५॥

जिस स्त्री की हथेली में अंकुश, कुण्डल या माला का चिन्ह हो वह राजा होने वाले योग्य सुपुत्र को पैदा करती है ।

यस्याः करतले रेखा प्राकारांस्तोरणं तथा ।
अपि दास-कुले जाता राजपत्नी भविष्यति ॥६॥

जिस स्त्री के हाथ में प्राकार या तोरण का चिन्ह हो यदि दास कुल में भी उत्पन्न हो, तो भी पटरानी होगी ।

यस्याः संकुचितं केशं मुखं च परिमण्डलम् ।
नाभिश्च दक्षिणावर्त्ता सा नारी रति-भामिनी ॥७॥

जिस स्त्री के केश घुंघराले हों, मुख गोला हो, नाभी दाहनी ओर घुमी हुई हो, वह स्त्री रति के समान है ऐसा समझना चाहिये ।

यस्याः समतलौ पादौ भूमौ हि सुप्रतिष्ठितौ ।
रतिलक्षणसम्पन्ना सा कन्या सुखमेधते ॥८॥

जिसके चरण समतल हों और भूमि पर अच्छी तरह पड़ते हों, (अर्थात् कोई उंगली आदि पृथ्वी को छूने से रह न जाती हो) वह रतिलक्षण से सम्पन्न कन्या सुख पाती है ।

पीनस्तना च पीनोष्टी पीनकुक्षी सुमध्यमा ।
प्रीतिभोगमवाप्नोति पुत्रैश्च सह वर्धते ॥९॥

पीन (मोटे) स्तन कोख और होंठवाली तथा सुन्दर कटिवाली स्त्री प्रीति और भोग पाती हुई पुत्रों के साथ बढ़ती है ।

कृष्णा श्यामा च या नारी स्निग्धा चम्पकसंनिभा।
स्निग्धचंदनसंयुक्ता सा नारी सुखमेधते ॥१०॥

कृष्णवर्ण की श्यामा स्त्री (जो शीतकाल में उष्ण और उष्ण काल में शीत रहे) आबदार, चम्पा के समान वर्ण वाली, चन्दन गंध से युक्त हो वह सुख पाती है।

अल्पस्वेदाल्पनिद्रा च अल्परोमाल्पभोजना।
सुरूपं नेत्रगात्राणां स्त्रीणां लक्षणमुत्तमम् ॥११॥

पसीना का कम होना, थोड़ी नींद, थोड़े रोयें, थोड़ा भोजन, नेत्रों तथा अन्य अंगों की सुन्दरता,—यह स्त्री का उत्तम लक्षण है।

स्निग्धकेशीं विशालाक्षीं सुलोमां च सुशोभनाम्।
सुमुखीं सुप्रभां चापि तां कन्यां वरयेद् बुधः ॥१२॥

चिकने केशों वाली, बड़ी आंखों वाली, सुन्दर लोम, मुख और कान्ति वाली सुन्दरी कन्या का वरण करना चाहिये।

यस्याः सरोमकौ पादौ उदरं च सरोमकम्।
शीघ्रं सा स्वपतिं हन्यात् तां कन्यां परिवर्जयेत् ॥१३॥

जिसके पैर रोयेंदार हों तथा पेट में भी रोयें हों, वह स्त्री शीघ्र ही पति को मारती है, अतः इसका वरण नहीं करना।

यस्या रोमचये जंघे सरोममुखमण्डलम्।
शुष्कगात्रीं च तां नारीं सर्वदा परिवर्जयेत् ॥१४॥

जिस स्त्री के जंघों और मुख मण्डल पर रोयें हो तथा शरीर सूखा हुआ हो उससे सदा दूर ही रहना चाहिये।

यस्याः प्रदेशिनी याति अंगुष्ठादतिवर्द्धिनी।
दुष्कर्म कुरुते नित्यं विधवेयं भवेदिति ॥१५॥

जिस स्त्री के पैर के अंगूठे के पास वाली अंगुली अंगूठे से बड़ी हो वह नित्य ही दुराचार करती है और विधवा होती है।

यस्यास्त्वनामिका पादे पृथिव्यां न प्रतिष्ठते।
पतिनाशो भवेत् क्षिप्रं स्वयं तत्र विनश्यति ॥१६॥

जिसकी अनामिका अंगुली पृथ्वी को नहीं छूती ऊपर ही रहती है उस स्त्री के पति का शीघ्र ही नाश होता है और वह स्वयं नष्ट हो जाती है।

यस्याः प्रशस्तमानो यो ह्यावर्तो जायते मुखे।
पुरुषत्रितयं हत्वा चतुर्थे जायते सुखम् ॥१७॥

जिसके मुख पर सुन्दर आवर्त (भँवरी) रहता है वह तीन पति को नष्ट कर चौथी शादी करती है तब सुख पाती है।

उद्वाहे पिंडिता नारी रोमराजि-विराजिता।
अपि राजकुले जाता दासीत्वमुपगच्छति ॥ १८ ॥

रोंये से भरी हुई स्त्री यदि राजकुल में भी उत्पन्न हो तो विवाहित होने पर वह दासी की तरह मारी मारी फिरती है।

स्तनयोःस्तवके चैव रोमराजिविराजने।
वर्जयेत्तादृशीं कन्यां सामुद्रवचनं यथा ॥१९॥

जिस स्त्री के दोनों स्तनों के चारो ओर रोंये हों उसे इस शास्त्र के कथनानुसार, छोड़ देना चाहिये।

विवादशीलां स्वयमर्थचारिणीं परानुकूलां बहुपापपाकिनीम्।
आक्रन्दिनीं चान्यगृहप्रवेशिनीं त्यजेत्तु भार्य्यां दशपुत्रमातरं ॥२०॥

लड़ने वाली, अपने मन की चलने वाली, दूसरे के अनुकूल रहने वाली, अनेक पाप कारिणी, रोने वाली, दूसरे के घर में घुसने वाली स्त्री अगर दस लड़कों की मां भी हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिये।

यस्यास्त्रीणि प्रलंबानि ललाटमुदरं कटिः।
सा नारी मातुलं हन्ति श्वसुरं देवरं पतिम् ॥ २१ ॥

जिसके ललाट, पेट और कमर ये तीन अंग लंबे हों वह स्त्री मामा, ससुर, देवर और पति को मारने वाली होती है।

यस्याः प्रादेशिनी शश्वत् भूमौ न स्पृश्यते यदि।
कुमारी रमते जारैः यौवने नात्र संशयः ॥ २२ ॥

जिसके अंगूठे के पास वाली अंगुली पृथ्वी को न छुए वह स्त्री कुमारी तथा यौवनावस्था में दूसरे पुरुषों के साथ व्यभिचार करती है, इसमें सन्देह नहीं।

पादमध्यमिका चैव यस्या गच्छति उन्नतिम् ।
वामहस्ते ध्रुवं जारं दक्षिणे च पतिं तथा ॥ २३ ॥

जिसके पैर की बिचली अंगुली पृथ्वी से ऊपर रहे वह स्त्री, निश्चय ही, बांये हाथ में जार को और दाहिने में पति को लिये रहती है।

उन्नता पिण्डिता चैव विरलांगुलिरोमशा ।
स्थूलहस्ता च या नारी दासीत्वमुपगच्छति ॥ २४ ॥

ऊंची, सिमटी हुई विरल अंगुलियों वाली, रोयें वाली तथा छोटे हाथों वाली औरत दासी होती है।

अश्वत्थपत्रसंकाशं भगं यस्या भवेत्सदा ।
सा कन्या राजपत्नीत्वं लभते नात्र संशयः ॥२५ ॥

जिस स्त्री का जननेन्द्रिय पीपल के पत्ते के समान हो वह पटरानी पद को प्राप्त होती है—इसमें सन्देह नहीं।

पृष्ठावर्ता च या नारी नाभिश्चापि विशेषतः ।
भगं चापि विनिर्दिष्टा प्रसवश्चाविनिर्दिशेत् ॥ २६ ॥ (?)
मण्डूककुक्षिका नारी न्यग्रोधपरिमण्डला ।
एकं जनयते पुत्रं सोऽपि राजा भविष्यति ॥ २७ ॥

मेढक के समान कोख वाली तथा बड़ के पत्ते के समान मण्डल वाली स्त्री एक ही पुत्र पैदा करती है सोभी राजा।

स्थूला यस्याः करांगुल्यः हस्तपादौ च कोमलौ ।
रक्तांगानि नखाश्चैव सा नारी सुखमेधते ॥ २८ ॥

जिस स्त्री के हाथ की अंगुलियाँ छोटी हों, हाथ पैर कोमल हों, शरीर और नख से खून झलकता हो वह स्त्री सुख पाती है।

कृष्णजिह्वा च लंबोष्ठी पिंगलाक्षी खरस्वरा ।
दशमासैः पतिं हन्यात्तां नारीं परिवर्जयेत् ॥२९॥

काली जीभ, लंबे होंठ मंजरी आँख, और तीखे स्वर वाली स्त्री दस महीने में ही पति का नाश करती है। उसको छोड़ देना चाहिये।

यस्याः सरोमकौ पादौ तथैव च पयोधरौ।
उत्तरोष्ठाधरोष्ठौ च शीघ्रं मारयते पतिम् ॥३०॥

जिस स्त्री के पैर, पयोधर, ऊपर या नीचे के होंठ रोयेंदार हों वह शीघ्र ही पति को मारती है।

चन्द्रबिम्बसमाकारौ स्तनौ यस्यास्तु निर्मलौ।
बाला सा विधवा ज्ञेया सामुद्रवचनं यथा ॥३१॥

जिसके स्तन निर्मल चन्द्रबिम्ब के समान हों वह स्त्री विधवा होती है, ऐसा इस शास्त्र का वचन है।

पूर्णचंद्रविभा नारी अतिरूपाभिमानिनी।
दीर्घकर्णा भवेद्याहि सा नारी सुखसेधने ॥३२॥

पूर्ण चन्द्रमा के समान प्रभा वाली अति रूपशीला, अति मानिनी तथा लंबे कानों वाली स्त्री सुखी होती है।

यस्याः पादतले रेखा प्राकारश्छत्रतोरणम्।
अपि दासकुले जाता राजपत्नी भविष्यति ॥३३॥

जिस स्त्री के पैर के तलवे में प्राकार, छत्र या तोरण की रेखा हो वह यदि दासकुल में उत्पन्न हो तो भी पटरानी होगी।

रक्तोत्पलसुवर्णाभा या नारी रक्तपिंगला।
नराणां गतिर्बाहुल्पा अलंकारप्रिया भवेत् ॥३४॥

लाल, कमल, और सोने की कान्ति वाली, रक्त और पिंगल वर्ण की औरत तथा पुरुष के समान चलने वाली छोटी भुजाओं वाली औरत गहनों को बहुत चाहती है।

अतिदीर्घां भृशं ह्रस्वां अतिस्थूलामतिकृशाम्।
अतिगौरां चातिकृष्णां षडेताः परिवर्जयेत् ॥३५॥

अत्यन्त लंबी, अत्यन्त छोटी, अत्यन्त मोटी, अत्यन्त पतली, अत्यन्त गोरी तथा अत्यन्त काली ये ६ प्रकार की औरतें छोड़ देनी चाहिये।

शुष्कहस्तौ च पादौ च शुष्कांगी विधवा भवेत् ।
अमंगला च सा नारी धन्यधान्यक्षयंकरी ॥३६॥

शुष्क हाथ, सूखे पैर और सूखे शरीर वाली स्त्री विधवा होती है। वह अमंगला धन धान्य की संहारिणी होती है।

पिंगाक्षी कूपगंडा प्रविरलदशना दीर्घजंघोर्ध्वकेशी ।
लम्बोष्ठी दीर्घवक्त्रा खरपरुषरवा श्यामताम्रोष्ठजिह्वा ।
शुष्कांगी संगताभ्रू स्तनयुगविषमा नासिकास्थूलरूपा ।
सा कन्या वर्जनीया पतिसुतरहिता शीलचारित्र्यदूरा ॥३७॥

जिस कन्या की आंखें पिंगल वर्ण की हों; कपोल धसे हुए हों; दाँत सुसज्जित रूप से न हों; जंघा लंबी हो; केश खड़े हों; ओंठ लंबे हों; मुंह लंबा हो; बोली कर्कश हो; तालु, होंठ और जीभ काली हों; शरीर सूखा हो; बात बात पर आँसू गिरता हो; दोनों स्तन समान न हो; नाक चिपटी हो; उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये। क्यों कि वह पति और पुत्र से रहित होगी, उसके चरित्र भी दूषित होंगे।

शृगालाक्षी कृशांगी च सा नारी च सुलोचना ।
धनहीना भवेत्साध्वी गुरुसेवापरायणा ॥३८॥

सियार की तरह आँखों वाली, पतले शरीर वाली, सुलोचना स्त्री धनहीन होती हुई भी साध्वी और गुरुजनों की सेवा करने वाली है।

रक्तोत्पलदला नारी सुन्दरी गज-लोचना ।
हेमादिमणिरत्नानां भर्तुः प्राणप्रिया भवेत् ॥३९॥

कमल के पत्ते के समान हाथी जैसी आँखों वाली सुन्दरी रमणी, सुवर्ण मणि और रत्नों के स्वामी की प्राणप्रिया होती है।

दीर्घांगुली च या नारी दीर्घकेशी च या भवेत् ।
अमांगल्यकरी ज्ञेया धनधान्यक्षयंकरी ॥४०॥

बड़ी बड़ी अंगुलियों वाली, और दीर्घ केशों वाली औरत धन धान्य की नाशक तथा अमंगल मयी है।

शंखपद्मयवच्छत्रमालामत्स्यध्वजा च या।
पादयोर्वा भवेद्यत्र राजपत्नी भविष्यति ॥४१॥

जिस स्त्री के दोनों पैर में शंख, पद्म, जौ, छत्र, माला, मछली, ध्वजा या वृक्ष का चिह्न है वह राजपत्नी होगी।

मार्जाराक्षी पिंगलाक्षी विषकन्येति कीर्तिता।
सुवर्णपिंगलाक्षी च दुःखिनीति परे जगुः ॥४२॥

बिल्ली की तरह पिङ्गलवर्ण की आंखों वाली स्त्री को 'विषकन्या' कहा गया है, पर सोने के रंग के समान पिंगलनेत्रा स्त्री दुःखिनी होती है—ऐसा भी किसी आचार्य का मत है।

पृष्ठावर्ता पतिं हन्यात् नाभ्यावर्ता पतिव्रता।
कट्यावर्ता तु स्वच्छन्दा स्कन्धावर्ताऽर्थभागिनी ॥४३॥

पीठ की भँवरी वाली स्त्री पति को मारने वाली, नाभि की भँवरी वाली स्त्री पतिव्रता, कमर की भँवरी वाली स्वच्छन्दचारिणी और कन्धे की भवरी वाली धनी होती है।

मध्यांगुलिर्मणिबन्धनोर्ध्वरेखा करांगुलिम्।
वामहस्ते गता यस्याः सा नारी सुखमेधते ॥४४॥

बाँए हाथ की कलाई से बिचली अंगुली तक जाने वाली रेखा, जिसके हाथ में होती है, वह स्त्री सुख प्राप्त करती है।

अरेखा बहुरेखा च यस्याः करतलं भवेत्।
तस्या अल्पायुरित्युक्ता दुःखिता सा न संशयः ॥४५॥

जिस स्त्री की हथेली में बहुत कम रेखायें या बहुत रेखायें हों वह निःसन्देह थोड़े दिन जियेगी और दुःखी रहेगी।

भगोऽश्वखुरवद् ज्ञेयो विस्तीर्णं जघनं भवेत्।
सा कन्या रतिपत्नी स्यात्सामुद्रवचनं यथा ॥४६॥

जिस कन्या का जननेन्द्रिय घोड़े के खुर के समान हो और जिसका जघन स्थान (घुटने के ऊपर का भाग) चौड़ा हो वह साक्षात् रति के समान होगी—ऐसा इस शास्त्र का वचन है।

पद्मिनी बहुकेशी स्याद्ल्पकेशी च हस्तिनी ।
शंखिनी दीर्घकेशी च, वक्रकेशी च चित्रिणी ॥४७॥

बहुत केशों वाली स्त्री को पद्मिनी, कम केशोंवाली को हस्तिनी, लंबे केशों वाली शंखिनी, टेढ़े मेढ़े केशों वाली को चित्रिणी स्त्री कहते हैं।

वृत्तस्तनौ च पद्मिन्याः हस्तिनी विकटस्तनी ।
दीर्घस्तनौ च शंखिन्याः चित्रिणी च समस्तनी ॥४८॥

पद्मिनी के स्तन गोल, हस्तिनी के विकट, शंखिनी के लंबे, और चित्रिणी के समान होते हैं।

पद्मिनी दन्त-शोभा च उन्नता चैव हस्तिनी ।
शंखिनी दीर्घदन्ता च समदन्ता च चित्रिणी ॥४९॥

पद्मिनी के दांत शोभामय हस्तिनी के ऊंचे, शंखिनी के लंबे और चित्रिणी के समान होते हैं।

पद्मिनी हंसशब्दा च हस्तिनी च गजस्वरा ।
शंखिनी रूक्षशब्दा च काकशब्दा च चित्रिणी ॥५०॥

पद्मिनी का शब्द हंस के समान, हस्तिनी का हाथी के समान, शंखिनी का रूखा और चित्रिणी का शब्द कौआ के समान होता है।

पद्मिनी पद्मगन्धा च मद्यगन्धा च हस्तिनी ।
शंखिनी क्षारगन्धा च शून्यगन्धा च चित्रिणी ॥

पद्मगन्ध से पद्मिनी, मद्यगन्ध से हस्तिनी, खारी गन्ध से शंखिनी एवं शून्य गन्ध से चित्रिणी जानी जाती है।

इति सामुद्रिकाशास्त्रे

स्त्रीलक्षणकथनं नाम तृतीयं पर्व समाप्तम् ।

——०:(*):०——